# भारतीय वास्तुशास्त्र का इतिहास



डॉ॰ विद्याधर

वास्तु का इतिहास उतना ही प्राचीन है जितना मानव-सभ्यता का विकास। लिखित साक्ष्य के रूप में वास्तु अथवा स्थापत्य-विद्या के सङ्केत हमें ऋग्वेद से ही मिलने लगते हैं। उत्तरोत्तर ब्राह्मणग्रन्थों, सूत्रसाहित्य, महाकाव्यों, पुराण-साहित्य, नीतिशास्त्र, अर्थशास्त्र तथा पालि साहित्य आदि में इसके समुन्नत रूप के दर्शन होते हैं। कालान्तर में इस विद्या के क्षेत्र में इतनी उन्नति हुई कि निर्माण से सम्बन्धित प्रत्येक अङ्गों-उपाङ्गों की व्याख्या करने वाले अनेक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थों की स्वतन्त्र रूप से रचना हुई परन्तु कई कारणों से यह तकनीकी विद्या लुप्त-प्राय: हो गई। वर्तमान में अनेक प्राच्य-पाश्चात्य विद्वानों का इस ओर ध्यानाकर्षण हुआ है और पुन: यह विद्या प्राणधात्री हो गई है। इसी क्रम में यह ग्रन्थ एक विनम्र प्रयास है।

ISBN : 978-81-7854-182-2    Rs. 750.00

पूज्या प्रो० वेदधई जी
को सादर सप्रेम समर्पित।

13/10/17
(Dr. Vidyadhar Singh)

# भारतीय वास्तुशास्त्र
# का
# इतिहास



# भारतीय वास्तुशास्त्र का इतिहास

लेखक

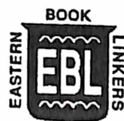
**डॉ० विद्याधर**

अनुसन्धान सहायक

वि.अनु.आ. बृहत् अनुसन्धान परियोजना

संस्कृतविभाग

जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू




ईस्टर्न बुक लिंकर्स

दिल्ली : : (भारत)

प्रकाशक :
**ईस्टर्न बुक लिंकर्स**
H.O. : 5825, न्यू चन्द्रावल, जवाहरनगर, दिल्ली–110007
फोन : 23850287, 32919869
Showroom : 4806/24, भरत राम रोड, दरियागंज, दिल्ली–110002
फोन : 23285413
e-mail : books@eblindology.com
ebl@vsnl.net
Website : www.eblindology.com

प्रथम संस्करण : 2010



मूल्य : 750.00

ISBN : 978-81-7854-182-2

---

**भारतीय वास्तुशास्त्र का इतिहास**
**डॉ० विद्याधर**

---

मुद्रक : आर. के प्रिंट सर्विस, दिल्ली

# समर्पण

सृजनात्मक एवं संरचनात्मक
प्रज्ञासम्पन्न प्राचीन-अर्वाचीन
वास्तुविद्याविशारदों को
समर्पित।



# आमुख

भाषा, दर्शन, साहित्य आदि के साथ-साथ चिकित्सा, रसायन, अर्थ, राजनीति, गणित तथा वास्तुविद्या आदि विषय भी प्राचीन भारतीय चिन्तकों की सूक्ष्मेक्षिका से अस्पृष्ट नहीं रहे। इन विषयों पर अभिव्यक्त प्राचीन ऋषियों के विचार आधुनिक वैज्ञानिकों के लिए आश्चर्यजनक होने के साथ ही उपजीव्य भी रहे।

वास्तुविद्या का उद्‌भव मानव के जगत् में अवतरण के साथ ही हुआ होगा। भोजन की आवश्यकता-पूर्ति के साथ समुचित आवास का चिन्तन उसने अपने आरम्भिक काल से ही प्रारम्भ कर दिया होगा। मानव-सभ्यता के विकास के साथ रचना सम्बन्धी वैविध्य का विस्तार होता गया। पाषाण-युग के मानव ने अपने निवास के लिए यदि गुफाओं का चयन किया तो उसने गुफाओं के निर्माण में अपने रचना-कौशल को भी सम्मिलित किया होगा। सभ्यता के विकास के साथ आवास-रचना में भी उत्तरोत्तर विकास एवं परिवर्तन होते गये। प्राचीन भारत का कृषि आधारित जीवन यद्यपि सरल एवं अपेक्षाकृत कम वैविध्यपूर्ण रचना का साक्षी है परन्तु इसी कालावधि में निर्मित राजप्रासाद, देवप्रासाद, दुर्ग आदि एवं इनमें उत्कीर्ण कलात्मक चित्र विकासोन्मुख एवं विकसित निर्माण के भविष्य को भी सङ्केत करते हैं।

वास्तुशास्त्र हमारे प्राचीन ऋषियों के निर्माण-सम्बन्धी ज्ञान के संवाहक हैं। इस विषय पर चिन्तन के सङ्केत ऋग्वेद से ही मिलने लगते हैं। ब्राह्मणग्रन्थ एवं सूत्रसाहित्य में भी इस तकनीकी विषय पर समुचित चिन्तन हुआ है। इस प्रकार वास्तुशास्त्र वैदिक साहित्य की ही ऊष्मा है। इस विषय पर विरचित विश्वकर्मा, मानसार, मय, भुवनदेव, भोज, श्रीकुमार आदि की रचनाएँ जहाँ एक ओर विषय की महत्ता एवं उपयोगिता की व्याख्या करते हैं, वहीं ये कतिपय ग्रन्थ विषय की अत्यन्त दुरुहता की ओर भी सङ्केत करते हैं।

वास्तुशास्त्र के इतिहास से सम्बद्ध इस ग्रन्थ का प्रथम अध्याय वास्तु शब्द का शास्त्रीय एवं विस्तृत अर्थ, उसका क्षेत्र, भारतीय वास्तुशास्त्र की सुदीर्घ परम्परा, उसका इतिहास तथा प्राचीन भारत के प्रमुख नगर जैसे विषयों पर विशद् प्रामाणिक, वैदुष्यपूर्ण सामग्री से मण्डित है। प्रमुख वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के परिचय के रूप में इन

ग्रन्थों के विषयगत एवं वैशिष्ट्यगत सामग्री से भी यह ग्रन्थ समृद्ध है। ग्रन्थकार ने विभिन्न ग्रन्थों के परिचयात्मक विवेचन के प्रसङ्ग में तत्तत् ग्रन्थों के विषय में जो सामग्री प्रस्तुत की है, वह इन ग्रन्थों के गूढ़ एवं महत्त्वपूर्ण जानकारी से परिपूर्ण है। वास्तुशास्त्र के विकास के प्रसङ्ग में सुधी लेखक ने वैदिक संहिताओं, ब्राह्मणग्रन्थों, सूत्रग्रन्थों, वाल्मीकि रामायण, महाभारत, नाट्यशास्त्र, विविध पुराणों, शुक्रादि कृत नीतिशास्त्रों, अर्थशास्त्र, पालिसाहित्य आदि ग्रन्थों को वास्तुशास्त्रीय दृष्टि से परीक्षण करने का प्रयास किया है।

ग्रन्थ का द्वितीय अध्याय प्रमुख वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों–विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, मानसार, मयमत, समराङ्गणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा, रूपमण्डन, राजवल्लभमण्डन तथा शिल्परत्न के विस्तृत परिचय एवं महत्त्व से उपबृंहित है। केवल वास्तुविद्या को लक्ष्य बनाकर लिखे गये ग्रन्थों में आज सभी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं हैं परन्तु उपलब्ध ग्रन्थों में प्रत्येक ग्रन्थ भारतीय वास्तुविद्या का संवाहक एवं महत्त्वपूर्ण है। कई ग्रन्थ अत्यन्त क्लिष्ट परन्तु प्राचीन आचार्यों के रचना–कौशल के परिचायक हैं तथा कई ग्रन्थ अभी भी अध्ययन, विश्लेषण एवं समीक्षण से वञ्चित हैं।

ग्रन्थ के तृतीय अध्याय में प्राचीन भारत के प्रमुख नगरों–तक्षशिला, इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, मथुरा, कौशाम्बी, वाराणसी, पाटलिपुत्र आदि की रचना को वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों के आधार पर परखने का प्रयास किया गया है। अधिकांश नगरों के निर्माण में वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का अनुपालन लक्षित होता है जिससे तत्कालीन समाज में वास्तुकारों एवं वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। इन नगरों के वप्र, प्राकार, परिखा, मार्ग तथा चतुष्पथ आदि के निर्माण में शासकों एवं शासितों में वास्तुशास्त्रीय नियमों का अनुपालन स्पष्ट परिलक्षित होता है।

ग्रन्थ का उपसंहार एवं ग्रन्थसूची ग्रन्थ की उपादेयता को और समृद्ध बनाती है।

भारतीय शिल्पकला के परिचयात्मक सामग्री से परिपूर्ण ग्रन्थों की रचना का लम्बा इतिहास है। **डॉ० विद्याधर** द्वारा रचित **'वास्तुशास्त्र का इतिहास'** भारतीय वास्तुविद्या के इतिहास के ज्ञान में रुचि रखने वाले विद्वानों एवं शोधच्छात्रों के लिए जहाँ एक ओर प्राचीन भारत के उन्नत वास्तुकला से पाठकों को अवगत कराती है वहीं दूसरी ओर आज के नगरों–महानगरों के योजनाकारों के लिए भी दृष्टि प्रदान करती है।

**डॉ० केदारनाथ शर्मा**

प्रोफेसर एवं विभागाध्यक्ष

संस्कृतविभाग, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

# प्राक्कथन

सृष्टिगत समस्त प्राणियों में आत्मरक्षा और सुखावाप्ति की प्रवृत्ति नैसर्गिक परिलक्षित होती है। पुनश्च विधाता की कृतियों में सर्वोत्कृष्ट कृति मानव शीतोष्ण आदि प्रकृति के प्रकोप से स्वयं को सुरक्षित रखने के संसाधनों की ओर प्रवृत्त न हो, ऐसी प्रकल्पना असम्भव है। इस प्रकार निवास सम्बन्धी आवश्यकता मानव तथा मानवसभ्यता के साथ सनातन काल से ही सम्बद्ध रही है। अतः यह कहना अनुचित न होगा कि मानव-जन्म के साथ ही वास्तुविद्या का भी जन्म हुआ। साहित्यिक दृष्टि से वास्तुविद्या-विषयक निदर्शन संहिताओं से उपलब्ध होने लगते हैं परन्तु वेदाङ्गों, विशेषतः कल्पसाहित्य में इसके और अधिक विकसित एवं सुनिश्चित प्रविधि के दर्शन होते हैं। इस प्रकार अन्य विविध भारतीय विद्याओं की ही भांति वास्तुविद्या का भी मूल उद्गम स्रोत वेद है। कालान्तर में स्वतन्त्र ग्रन्थ के रूप में वास्तुशास्त्रीय लक्षणग्रन्थ भवनादि के निवेश के लिए आधार स्वरूप प्रशस्त भूमिचयन से लेकर रचना सम्बन्धी विभिन्न अङ्गों-प्रत्यङ्गों का विस्तृत व्याख्यान करते हैं, जो कि वास्तुविद्या के क्षेत्र में समृद्ध परम्परा के परिचायक हैं। इनके अतिरिक्त पुराण, काव्यादि अन्य संस्कृतसाहित्य भी वास्तुविद्या-विषयक सामग्री को समुचित रूप से प्रस्तुत करते हैं। स्थापत्य-शास्त्रों में वर्णित विषयवस्तु के दृष्टिगत यह कहा जा सकता है कि वास्तुविद्या हमें शिवेतर से सुरक्षा प्रदान करती है अथवा ब्रह्माण्ड में स्थित प्राकृतिक शक्तियों से सामञ्जस्य स्थापित कर जीवन जीने की कला सिखाती है।

'भारतीय वास्तुशास्त्र का इतिहास' संज्ञक प्रस्तुत कृति के लिए सामग्री-सङ्कलन मैंने अपनी पी-एच.डी. उपाधि के लिए स्वीकृत शोध-शीर्षक 'प्राचीन भारत में पुरनिवेश' के लिए किया था, जिसे आज परिमार्जित और परिवर्धित कर पुस्तक के रूप में प्रस्तुत किया जा रहा है। स्नातकोत्तर कक्षा में वास्तुविद्या के स्वल्पाचमन के साथ ही उसके गौरवमय इतिहास को जानने की उत्कण्ठा तथा आधुनिक युग में जन सामान्य का पुनः इस प्राच्यविद्या की ओर प्रवृत्त होना इस तकनीकी विषय पर शोधकार्य करने की मेरी अभिरुचि के कारक हैं।

अध्ययन एवं विषयवस्तु की दृष्टि से सम्पूर्ण ग्रन्थ को कुल तीन अध्यायों में विभक्त किया गया है। '**भारतीय वास्तुशास्त्र का कालक्रमिक विकास**' नामक प्रथम अध्याय में वास्तु के अभिप्राय तथा वास्तुकला के ऐतिहासिक पक्ष का उल्लेख करते हुए साहित्यिक एवं पुरातात्त्विक साक्ष्यों का विवरणात्मक विश्लेषण प्रस्तुत किया गया है। साहित्यिक साक्ष्य के रूप में वैदिक साहित्य तथा लौकिक साहित्य के अन्तर्गत पुराण, शुक्रनीति, अर्थशास्त्र, पालिसाहित्य, आगम, तन्त्र, बृहत्संहिता आदि अन्य संस्कृतसाहित्य में यत्र-तत्र वर्णित वास्तुविद्या-विषयक सामग्री को चिह्नित किया गया है। इसी क्रम में वास्तुशास्त्रीय लक्षणग्रन्थों की सूची प्रस्तुत की गई है परन्तु इनमें से अधिकांश रचनाएँ आज विलुप्त हो चुकी हैं। पुरातात्त्विक साक्ष्य के रूप में सैन्धव सभ्यता से सम्बद्ध स्थापत्य पक्ष को समुद्घाटित किया गया है, जो कि तत्कालीन स्थपतियों के उर्वरा मस्तिष्क की ओर इङ्गित करते हैं।

वर्तमान में अनेक पौर्वात्य एवं पाश्चात्य मनीषियों ने संस्कृत के मूल वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों का सम्पादन एवं विस्तृत अध्ययन प्रस्तुत कर विलुप्त सी हुई इस विद्या को पुनर्जीवन प्रदान किया है। इस ग्रन्थ का '**वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ : परिचय एवं महत्त्व**' संज्ञक द्वितीय अध्याय वर्तमान में उपलब्ध कतिपय मूल एवं महत्त्वपूर्ण वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के विभिन्न अध्यायों में विवेचित विषयवस्तु से परिचय कराता है। इन ग्रन्थों में प्रतिपादित रचनाविषयक विभिन्न सिद्धान्त तथा निर्माण-सामग्री आधुनिक युग के परिप्रेक्ष्य में समग्र रूप से तो नहीं परन्तु बहुत अंश तक महत्त्वपूर्ण स्थान रखते हैं, जिनकी अपरिहार्यता पूर्वकाल में भी थी और आज भी उतने ही सान्दर्भिक हैं।

'**प्राचीन भारत के प्रमुख नगर**' नामक तृतीय अध्याय प्राचीन भारतीय नगरों की परम्परागत सन्निवेश-प्रणाली को प्रतिबिम्बित करता है। इसमें पुरातन काल में सन्निविष्ट कतिपय नगरों का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक और विशेषत: वास्तुशास्त्रीय लक्षणग्रन्थों में प्रतिपादित नगरनिवेश सम्बन्धी सिद्धान्तों-नगरनिवेश के स्थल या भूपरिग्रहण, मार्गविनिवेशविधि, जातिवर्णाधिवासव्यवस्था, राजहर्म्य-परिकल्पनस्थान तथा उद्यानविन्यास की आवश्यकता आदि की दृष्टि से समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया गया है।

अनुसन्धान-कार्यावधि तथा इस पुस्तक के प्रस्तुतीकरण में सम्बन्धित मूलग्रन्थों के अतिरिक्त जिन स्थापत्यकला मर्मज्ञों, पुरातत्त्वविदों एवं गवेषणात्मक दृष्टि रखने वाले मनीषियों की रचनाओं का अनुशीलन तथा उनमें प्राप्त सामग्री का प्रयोग किया गया है, उनमें-वासुदेवशरण अग्रवाल, डॉ० उदयनारायण राय, प्रो० कृष्णदत्त वाजपेयी,

सत्यकेतु विद्यालङ्कार, डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल, प्रो० सी. लाल एवं डॉ० पी. कुमार आदि विशेष उल्लेखनीय हैं। मैं इन सभी के प्रति हार्दिक आभार अभिव्यक्त करता हूँ। इनके अतिरिक्त उन सभी सरस्वती उपासकों के प्रति भी मैं अपनी कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ, जिनसे इस कृति की सम्पूर्णता में प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष सहायता मिली है।

इस पुस्तक के 'आमुख' के लेखक तथा मेरे अनुसन्धान कार्य के निर्देशक प्रो० केदारनाथ शर्मा जी के प्रति मैं अपने अन्तरतम भावों से प्रणामाञ्जलि प्रस्तुत करता हूँ, जिनका अध्येषण, प्रोत्साहन, बहुमूल्य परामर्श तथा स्नेहाशीष सर्वदा रहा है। प्रस्तुत कृति उन्हीं की प्रेरणा की परिणति है।

मैं ईस्टर्न बुक लिंकर्स के सञ्चालकों–श्री रवि मल्होत्रा, श्री दीपक मल्होत्रा, श्री इन्द्र जी एवं उनके अन्य सहयोगियों का आभारी हूँ, जिन्होंने इस पुस्तक को अपने प्रकाशनों में सम्मिलित कर मेरा उत्साहवर्धन किया है।

प्रस्तुत कृति मेरा प्रथम प्रयास है, अतः अनेक त्रुटियाँ सम्भावित होंगी, जिसके लिए प्रणतभाव से क्षमाप्रार्थना के साथ उन सभी स्थापत्यविदों, अध्येताओं से आग्रहपूर्वक निवेदन है कि वे अपने महत्त्वपूर्ण सुझावों से मुझे अनुग्रहीत करेंगे।

**विश्वकर्मसमुद्दिष्टं देवानामपि दुर्लभम्।**
**यच्छून्यं जगद्धीनं शिल्पं लोकानुरञ्जकम्।।**
**शिल्पशास्त्रपरिज्ञानान्मर्त्योऽपि ह्यमरायते।**
**आजन्ममरणान्तञ्च मानवो यत्समुपासते।।**
**षट्षष्टितमे वर्षे विक्रमादित्यचालिते।**
**श्रावणान्तर्गतशुक्लपूर्णिमायां शुभे दिने।।**
**ग्रन्थोऽयं वास्तुशास्त्रीयो विदुषामुपकारकः।**
**विद्याधरेण संसृष्टश्छात्राणां मार्गदर्शकः।।**

श्रावणी उपाकर्म एवं संस्कृतदिवस
(श्रावण शुक्ल पूर्णिमा, विक्रम सम्वत् २०६६)
संस्कृतविभाग
जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू

**विद्याधर सिंह**

# अनुक्रमणिका

## प्रथम अध्याय

# भारतीय वास्तुशास्त्र का कालक्रमिक विकास

**वास्तु का अर्थ**–'वास्तु' शब्द की उत्पत्ति संस्कृत की 'वस्' धातु से हुई है, जिसका अर्थ है **'बसना'** अर्थात् **'निवास करना'**। **"वसन्ति प्राणिनो यत्र"** अर्थात् प्राणियों के वास-स्थान को **'वास्तु'** कहा जाता है।[1] इस दृष्टि से जो प्राणी जहाँ रहता है उसके लिए वही वास्तु है। जलचर जल में रहते हैं, उनके लिए जल ही वास्तु है। पक्षी अपने नीड में रहते हैं, अत: उनके लिए नीड ही उनका वास्तु है परन्तु अमरकोष में गृह के लिए नियत भूमि को **'वास्तु'** कहा गया है।[2] शब्दार्थभानु[3], पद्मचन्द्रकोश[4], शब्दस्तोममहानिधि[5] और शब्दार्थ चिन्तामणि[6] आदि कोश-ग्रन्थों में भी वास्तु शब्द का अर्थ **'वास-योग्य भूमि'** अथवा **'गृह-करण-योग्य भूमि'** गृहीत है। ऋग्वेद में वास्तु शब्द का प्रयोग 'भवन' अथवा 'गृह' के लिए हुआ है।[7] इस प्रकार सामान्यतया निवास-योग्य भूमि की संज्ञा वास्तु है और वास्तु अर्थात् भवन से सम्बन्धित शास्त्र को **'वास्तुशास्त्र'** कहा जाता है। भारतीय परम्परा में वास्तुशास्त्र अर्थात् निर्माण-अभियान्त्रिकी (Science of Architecture) को ऋषियों अथवा मनीषियों के अद्वितीय ज्ञान-कोष से उद्भूत माना गया है।

**वास्तु का विस्तृत अर्थ एवं उसका क्षेत्र**–साधारण एवं सीमित अर्थ में वास्तु शब्द का अर्थ **'निवास-योग्य भूमि'** अथवा **'भवन'** है परन्तु वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में

१. (क) हिन्दी विश्वकोश, खण्ड २१, पृष्ठ २३६
   (ख) शब्दकल्पद्रुम , भाग ४ पृष्ठ २५८
२. "वेश्मभूर्वास्तुस्त्रियाम्।" –अमरकोष, काण्ड २, पुरवर्ग १९
३. शब्दार्थभानु, पृष्ठ २८७
४. पद्मचन्द्रकोश, पृष्ठ ३४८
५. शब्दस्तोममहानिधि, पृष्ठ १०२३
६. शब्दार्थ चिन्तामणिकोष, पृष्ठ २९५
७. (क)"ता वां वास्तून्युश्मसि गमध्यै.........।"–ऋग्वेद, १.१५४.६
   (ख) "वास्तोष्पते.........।"–वही, ७.५४.१-३; ७.५५.१

वास्तु का अभिप्राय व्यापक है। आचार्य विश्वकर्मा ने जहाँ पर देव, मनुष्य तथा गज, गो और अश्वादि पशु निवास करते हैं, उसे '**वास्तु**' कहा है।[१] इसी प्रकार मानसार[२] और मयमत[३] आदि ग्रन्थों में भी देवों और मनुष्यों के निवासस्थल को '**वास्तु**' कहा गया है। इसके अतिरिक्त भवन-निर्माण में प्रयोग होने वाली वस्तुओं तथा मानव जिन वस्तुओं का प्रयोग अपनी सुख-सुविधा के लिए करता है, उन्हें भी वास्तु की संज्ञा दी गई है। विश्वकर्मवास्तुशास्त्र के अनुसार इष्टिका, शिला, वृक्ष तथा कीलादि सभी वस्तुओं की वास्तु संज्ञा है।[४] इसी प्रकार मानसार[५] और मयमत[६] में वास्तुशास्त्र विषयक भूमि, हर्म्य या प्रासाद, यान तथा पर्यङ्क या शयन का श्रृङ्खलाबद्ध सङ्कीर्तन हुआ है। इन ग्रन्थों में उपर्युक्त वस्तुओं को वास्तु की संज्ञा देते हुए '**भूमि**' को ही मुख्य वास्तु बताया गया है, क्योंकि इन वस्तुओं का निर्माण मूलतः जिन वस्तुओं से होता है उनका उत्पत्ति-स्थान '**भूमि**' ही है। दूसरे शब्दों में इन सभी वस्तुओं का आधार '**धरा**' है।

उपर्युक्त विवेचन के आधार पर वास्तु शब्द की उत्पत्ति 'वस्तु' से भी स्वीकार्य है और जब कोई भी निर्माण-द्रव्य इष्टिका, काष्ठ आदि जब एक अभिनव निर्मिति में परिणत होते हैं तो वे ही वास्तु-संज्ञा से व्यवहरित होते हैं।[७]

कौटिल्य ने भी स्वकृत अर्थशास्त्र में वास्तु शब्द का प्रयोग अत्यन्त विस्तृत अर्थ में किया है। उनके अनुसार गृह के क्षेत्र, वाटिका, बंध, सेतु, प्रत्येक प्रकार का भवन, तड़ाग तथा पुष्करिणी आदि सभी वास्तु कहलाते हैं।[८] इस प्रकार से विस्तृत अर्थ में

१. देवतानां नराणाञ्च गजगोवाजिनामपि।
निवासभूमिश्शल्पज्ञैर्वास्तुसंज्ञमुदीरितम्।। – विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, अध्याय ७.१

२. तैत(ति) लाश्च नराश्चैव यस्मिन्यस्मिन् परिस्थित(ष्ठि)ताः।
तद्वस्तु सु(सू)रिभिः प्रोक्तां (क्तं) तथा वै वक्ष्यतेऽधुना।। –मानसार, अध्याय ३.१

३. अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र-यत्र वसन्ति हि।
तद् वस्त्विति मतं तज्ज्ञैः........................।। –मयमत, अध्याय २.१

४. इष्टिका च शिला दारुरयः कीलादयोऽप्यमी।
वास्तुकर्मणि चान्यत्र वास्तुसंज्ञमुदीरितम्।। – विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, अध्याय ७, ६१

५. धरा हर्म्यादि यानं च पर्यङ्कादि चतुर्विधम्।
धरा प्रधानवस्तु स्यात्तत्तज्जातिषु सर्वशः।। –मानसार, अध्याय ३.२

६. भूमिप्रासादयानानि शयनं च चतुर्विधम्।
भूरेव मुख्यवस्तु स्यात् तत्र जातानि यानि हि।। –मयमत, अध्याय २.२

७. समराङ्गणसूत्रधार, वास्तुशास्त्र (भवननिवेश, प्रथमभाग हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ८-९

८. गृहं क्षेत्रमारामः सेतुबंधस्तटाकमाधारो वा वास्तुः। –अर्थशास्त्र, अधिकरण ३, अध्याय ८

वास्तु से तात्पर्य केवल साधारण मानव के रहने योग्य भवन ही नहीं, अपितु राजभवन, प्रासाद, ग्राम, नगर, रथ्या, मार्ग, प्रकार, परिखा, मन्दिर अथवा देवालय, मण्डप, यज्ञ-वेदी, सभागृह, कूप, तालाब, वापी, स्तूप आदि उन सभी निर्माणों से है, जो मानव के रहने, उपयोग करने एवं उसके अभिष्टजनों तथा देवों के निवास स्थान आदि के रूप में हैं। अत: वास्तु का अर्थ केवल गृह न होकर '**गृह आदि**' हो गया है। तदनुसार वास्तुशास्त्र का प्रतिपाद्य विषय मानवगृहों, प्राकार, परिखाओं, देव-मन्दिरों, मण्डपों, बान्धों, सेतुओं एवं तड़ागों अर्थात् प्रत्येक प्रकार के भवन, क्षेत्र, कूप, तालाब, वापी, वाटिका आदि की रचना के उपायों तथा साधनों की व्याख्या करना है। मानसार, मयमत आदि समराङ्गणसूत्रधार के पूर्ववर्ती तथा शिल्परत्न आदि परवर्ती वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तु का अर्थ तथा उसका क्षेत्र, भवन, प्रासाद, राजहर्म्य, देव-मन्दिरों, देव-प्रतिमाओं और पुर तक ही सीमित है, परन्तु समराङ्गणसूत्रधार में पुर, निवास, सभा, वेश्म तथा आसन आदि के अतिरिक्त देश के वर्णन से इस शास्त्र का विषय आगे बढ़ जाता है।[१] इस ग्रन्थ के वास्तुशास्त्र-विषय-वर्ग नामक अध्याय में महासमा (पृथ्वी) का आगमन, सौरमण्डल की गतिविधि, सम्पूर्ण पृथ्वी का निवेशोपक्रम, वसति-योग्यता, वास-स्थान, जनपद-निवेश और सृष्टि-विभाग एवं भूगोलादि का वर्णन हुआ है।[२] समराङ्गणसूत्रधार जैसे विशुद्ध, परिमार्जित एवं परिष्कृत वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ में महासमा का आगमन[३] महदादिसर्ग (सृष्टि-वर्णन)[४] और भुवन-कोश (भूगोल-वर्णन)[५] विश्व-योजना की ओर सङ्केत करते हैं। इस प्रकार भारतीय वास्तुशास्त्र का विषय साधारण या विशिष्ट भवनों, प्रासादों, ग्रामों, खेटकों, पत्तनों, पुटभेदनों एवं पुरों तक ही सीमित न रहकर जनपद, जनपद-समूह राष्ट्र और राष्ट्र-समूह भूमण्डल तक विस्तृत हो गया है। जब समस्त भूमण्डल और सौरमण्डल वास्तु का विषय है तो वास्तु की व्याख्या में वास्तु को भवन-निर्माण की कोठरी में बन्द कर देना बड़ा अभिशाप है।[६] भारतीय स्थापत्य के अनुसार वास्तु-विनियोजना समस्त भूमण्डल को लेकर

---

१. देश: पुरं निवासश्च सभा वेश्मासनानि च।
यद्यदीदृशमन्यच्च तत्तच्छ्रेयस्करं मतम्।।
वास्तुशास्त्रादृते तस्य न स्याल्लक्षणनिश्चय:।
तस्माल्लोकस्य कृपया शास्त्रमेतदुदीर्यते।। –समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय १.४-५

२. वही, अध्याय ३

३. वही, अध्याय १

४. वही, अध्याय ४

५. वही, अध्याय ५

६. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र (भवन-निवेश, प्रथमभाग, हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ११

चलती है। भारतीय दृष्टिकोण से स्थापत्य का सम्पूर्ण भूमण्डल ही नहीं, सम्पूर्ण विश्व ही प्रतिपाद्य विषय है, क्योंकि भारतीय स्थापत्य में समस्त विश्व का चिन्तन है। कोई भी निर्मित वास्तु है, कोई भी योजना वास्तु है। अत: कहा जा सकता है कि भारतीय स्थापत्य का बड़ा ही व्यापक दृष्टिकोण है।

**वास्तु एवं शिल्प**–उत्तर भारत में स्थापत्य-ग्रन्थों के लिए वास्तुशास्त्र तथा दक्षिण भारत में शिल्पशास्त्र शब्द का प्रयोग किया जाता है परन्तु इन दोनों शब्दों के क्षेत्र में अन्तर है। डॉ० डी०एन० शुक्ल ने शिल्पकला को वास्तुशास्त्र के अङ्ग के रूप में स्वीकार किया है[१] परन्तु डॉ० पी०के० आचार्य के अनुसार वास्तुशास्त्र, शिल्पशास्त्र के अन्तर्गत आता है। उन्होंने भृगुसंहिता को उद्धृत करते हुए लिखा है कि महर्षि भृगु ने शिल्पशास्त्र के कृषिशास्त्र, जलशास्त्र, खनिजशास्त्र, नौकाशास्त्र, अग्नियानशास्त्र तथा वास्तुशास्त्र आदि दस उपशास्त्र लिखे हैं।[२]

डॉ० शुक्ल के कथनानुसार वास्तु शब्द शिल्प की अपेक्षा अधिक प्राचीन है। ऋग्वेद में सर्वप्रथम वास्तु शब्द का प्रयोग भवन के अर्थ में आया है और जो शास्त्र भवन सम्बन्धी व्याख्या करते हैं, उन्हें वास्तुशास्त्र कहा जाता है पुनश्च प्राचीन काल में अथर्ववेद के उपवेद के रूप में स्थापत्यवेद भी था। बाद में स्थापत्यशास्त्र, वास्तुशास्त्र और शिल्पशास्त्र ये तीनों पर्यायवाची के रूप में व्यवहृत हुए।[३]

यत: ऋग्वेद, जिसे संसार के प्राचीनतम साहित्य होने का गौरव प्राप्त है, उसमें वास्तु शब्द का प्रयोग भवन के अर्थ में हुआ है और समराङ्गणसूत्रधार में वास्तु के अन्तर्गत समस्त विश्व का चिन्तन हुआ है पुनश्च जब यह कहा जाता है कि वास्तु शब्द वस्तु से बना है तथा कोई भी निर्मित वास्तु है इस आधार पर डॉ० शुक्ल का मत ही युक्ति- सङ्गत प्रतीत होता है। उनका कथन है कि मानसार, मयमत आदि दक्षिण भारतीय ग्रन्थ यद्यपि वास्तुशास्त्र का ही प्रतिपादन करते हैं परन्तु उनमें शीर्षक के रूप में वास्तुशास्त्र के स्थान पर शिल्पशास्त्र दिया जाता है लेकिन वास्तुशास्त्र और शिल्पशास्त्र की व्यापकता में अन्तर है। उनके अनुसार "प्राधान्य से ही प्राय: व्यपदेश होते हैं" इस न्याय से दक्षिण भारतीय परम्परा में वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों को भी शिल्पशास्त्र की संज्ञा से कीर्तित किया गया है। दक्षिण की वास्तुकला में चित्रण का प्राधान्य होने से वास्तु

---

१. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र (भवन-निवेश, प्रथमभाग, हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ १९
२. मानसार, भूमिका-भाग, पृष्ठ १
३. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र (भवन-निवेश, प्रथमभाग, हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ १९

अर्थात् भवनकला भी एक प्रकार से शिल्पकला अर्थात् मूर्तिकला के रूप में परिणत हुई। अत: वहाँ के वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ भी शिल्पशास्त्र के शीर्षक से अलङ्कृत हुए।[१]

**वास्तु एवं वास्तुकला**–वास्तुकला का इतिहास अत्यन्त पुराना है। साधारणतया वासस्थान या निवासस्थान को वास्तु कहते हैं और तत्सम्बन्धी कला को '**वास्तुकला**' कहा जाता है। वास्तुकला किसी स्थान को मानव के लिए वास-योग्य बनाने की कला है।[२] भवनों का विन्यास, आकलन और रचना तथा परिवर्तनशील समय की तकनीक एवं रुचि के अनुसार मानव की आवश्यकताओं को संतुष्ट करने योग्य सभी प्रकार के तर्कसङ्गत निर्माण की कला, विज्ञान तथा तकनीक का सम्मिश्रण वास्तुकला की परिभाषा में आता है।[३]

वास्तुकला ललितकला की वह शाखा रही है जिसका उद्देश्य उपयोगिता की दृष्टि से ऐसे उत्तम भवनों का निर्माण करना है जिनके पर्यावरण सुसंस्कृत एवं कलात्मक रुचि के लिए अत्यन्त प्रिय, सौंदर्य-भावना के पोषक और आनन्दवर्धक हों। प्रकृति, बुद्धि और रुचि के द्वारा निर्धारित एवं नियमित कतिपय सिद्धान्तों और अनुपातों के अनुसार रचना करना इस कला का सम्बद्ध अङ्ग है। पूर्व निर्धारित योजना को साकार बनाने के साथ-साथ उसे ऐसे उपयुक्त ढंग से समृद्ध करना जिससे अधिकतम सुविधाओं के साथ उसमें रोचकता, सौन्दर्य, महानता और एकता की सृष्टि हो सके, यही वास्तुकौशल है। प्रारम्भिक अवस्था में वास्तुकला का स्थान मानव की सीमित प्रयोजनों के लिए आवश्यक व्यवसायों में प्राय: उसे एक प्रकार से रक्षा-स्थान प्रदान करने के लिए होता है, परन्तु वास्तु-कृतियों में उनके गर्व, प्रतिष्ठा, महत्त्वाकाङ्क्षा तथा आध्यात्मिकता की प्रकृति पूर्णतया अभिव्यक्त होती है तो वे वास्तु-कृतियाँ मानवीय इतिहास में महत्त्वपूर्ण हो जाती हैं।[४]

प्राचीन काल में वास्तुकला सभी कलाओं की जननी कही जाती थी, किन्तु वृत्ति के परिवर्तन के साथ और सम्बद्ध व्यवसायों के भाग लेने पर यह समावेशक संरक्षण की मुहर अब नहीं रही। वास्तुकला को पुरातनकालीन सामाजिक स्थिति को प्रकाश में लाने वाला मुद्रणालय भी कहा गया है परन्तु यह वहीं तक उचित जान पड़ता है जहाँ तक सामाजिक एवं अन्य उपलब्धियों का प्रभाव है। वास्तुकला के सम्बन्ध में यह भी

---

१. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र (भवन-निवेश, प्रथमभाग, हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ १७-१८
२. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड १०, पृष्ठ ४४८
३. वही, खण्ड १०, पृष्ठ ४४७
४. वही, खण्ड १०, पृष्ठ ४४७

कहा गया है कि यह भवनों के अलङ्करण के अतिरिक्त और कुछ भी नहीं है। जहाँ तक ऐतिहासिक वास्तुकला का सम्बन्ध है, यह अंशतःसत्य है। पुनः वास्तुकला को सभ्यता का साँचा भी कहा गया है। वास्तुकला के इतिहास पर दृष्टिपात करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि प्राचीनतम समय में इसका स्वरूप कुछ और ही था। यह वास्तुकला युगों के विकासक्रम में विकसी, ढली और मानव की परिवर्तनशील आवश्यकताओं उसकी सुरक्षा, कार्य, धर्म, आनन्द और अन्य युगप्रवर्तक चिन्हों के अनुरूप बनी।[१]

**भारतीय परम्परा**–भारतवर्ष उन देशों में से है, जहाँ पर सांस्कृतिक परम्पराएँ अत्यन्त प्राचीन हैं। अत एव पुरातन कला–परम्परा भी इतनी ही अधिक प्राचीन है, जिनका ज्ञान हम प्राचीनतम साहित्य के अध्ययन और पुरातत्त्व–विज्ञान के अन्वेषणों से ही प्राप्त कर सकते हैं। संसार के प्राचीनतम साहित्य वेदों के अनुशीलन से विदित होता है कि आज सुसंस्कृत एवं सभ्य राष्ट्र जिन कलाओं को जानते हैं उनमें से प्रमुख कलाएँ जैसे–बुनाई,[२] बढ़ई,[३] लोहारी[४] तथा भैषज्य–कला[५] आदि वैदिक युग में प्रसिद्ध

---

१. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड १०, पृष्ठ ४४७

२. (क) "वासोवायोऽवीनामा वासांसि मर्मृजत्।।" –ऋग्वेद, १०.२६.३
(ख) "ऊर्णावती युवतिः सीलमावती.......।" –वही, १०.७५.८
(ग) "पुमाँ एनं तनुत उत्कृणोत्ति पुमान्वि तत्ले अधि नाके अस्मिन्।" – वही, १०.१३०.२
(घ) "सीसेन तन्त्रं मनसा मनीषिण ऊर्णासूत्रेण कवयो वयन्ति।"–यजुर्वेद, १९.८० आदि।

३. (क) "तक्षा रिष्टम्......................।। –ऋग्वेद, ९.११२.१
(ख) "अहं तष्टेव बन्धुरं पर्यचामि हृदा मतिम्।" –वही, १०.११९.५
(ग) "वि मृळीकाय ते मनो रथीरश्वं न संदितम्।" –वही, १.२५.३
(घ) वेदा यो वीनां पदमन्तरिक्षेण पतताम्। वेद नावःसमुद्रियः।। –वही, १.२५.७
(ङ) रथाय नावमुत नो गृहाय नित्यारित्रां पद्वतीं रास्यग्ने।
अस्माकं वीराँ उत नो मघोनो जनाँश्च या पारयाच्छर्म या च।। –वही, १.१४०.१२
(च) नमस्तक्षभ्यः रथकारेभ्यश्च वो नमः...............।।" –यजुर्वेद, १६.२७
(छ) "त्वष्टेव रूपं सुकृतं स्वधित्यैना एहाः परि पात्रे ददृशाम्।" –अथर्ववेद, १२.३.३३
(ज) "ये धीवानो रथकाराः................।" –वही, ३.५.६ आदि।

४. (क) "त्रिधातुभिररुषीभिर्वयो दधे रोचमानो वयो दध।" –ऋग्वेद, ९.११२.२
(ख) "ब्रह्मणस्पतिरेता सं कर्मारइवाधमत्।" –वही, १०.७२.२
(ग) " ........कमरिभ्यश्च वो नमो।।" –यजुर्वेद, १६.२७
(घ) " .........हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामं च मे लोहं च मे सीसं च मे त्रपु च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।।" –वही, १८.१३

५. (क) "यतं भिषग्ब्रह्मा सुन्वन्तम्.......।।" –ऋग्वेद, ९.११२.१
(ख) यजुर्वेद, १९.१६

थीं और वैदिकयुग में जिन कलाओं को प्रसिद्धि मिली थी, उनमें वास्तुकला भी थी।[१] इसी प्रकार यदि हम सिन्धु-घाटी की सभ्यता से सम्बद्ध उन सांस्कृतिक प्राचीरों पर दृष्टिपात करें, जिनका अस्तित्व लगभग ई० पू० तीन हजार वर्ष माना जाता है तो यह स्पष्ट रूप से ज्ञात होता है, उस काल में भी वास्तु, मूर्ति, चित्र, भाण्ड-निर्माण और लौहवस्तु-रचना आदि अनेक भौतिक कलाएँ प्रसिद्ध थीं।[२]

वेदों में अर्चा-वास्तु अर्थात् यज्ञ-वेदी आदि तथा लौकिक वास्तु अर्थात् गृह तथा पुर आदि के निर्माण का वर्णन मिलता है। न केवल वेदों में अपितु समस्त वैदिक साहित्य में वास्तुकला सम्बन्धी प्रभूत सामग्री उपलब्ध होती है, जिससे उपर्युक्त दोनों प्रकार के स्थापत्य पर रोचक प्रकाश पड़ता है। साधारण भवनों तथा विशाल भवनों के अतिरिक्त इस साहित्य में त्रिभूमिक प्रासाद, सहस्र स्तम्भ एवं सहस्र द्वारों वाले सभा-कक्ष आदि का उल्लेख मिलता है। नगर-सन्निवेश का भी विवरण वैदिक साहित्य में उपलब्ध होता है।

सम्पूर्ण वैदिक साहित्य पर दृष्टिपात करने से ज्ञात होता है कि भारतीय वास्तुकला जहाँ एक ओर धार्मिक संस्कारों से अनुप्राणित है, वहाँ दूसरी ओर सौन्दर्य तथा आनन्द के तत्त्वों से पूर्ण है। शिल्पियों ने भारतीय शिल्प के विभिन्न अङ्गों को कल्पना द्वारा चारुत्व से मण्डित किया।

**धार्मिक वास्तु**–वैदिक वाङ्मय में भक्ति या उपासना का जो मूल बीज निहित था उसका पल्लवन परवर्ती भारतीय साहित्य और कला में मिलता है। आगमों-पुराणों की उपासना-पद्धति ने विष्णु, सूर्य, शिव आदि देवों की अर्चा और पूजा को बल दिया। उससे मूर्तियों तथा मन्दिरों का व्यापक रूप में निर्माण होने लगा और मन्दिर धार्मिक वास्तु के प्रमुख प्रतीक बन गये।

मन्दिर के रूप-विधान की कल्पना एक युग का कार्य नहीं था किन्तु कलाकार ध्यानावस्थित होकर नये-नये विचारों को लेकर अपनी कुशलता दिखलाते रहे। प्रारम्भ

---

१. (क) राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसाते।। -ऋग्वेद, २.४१.५
(ख) " .......प्र याहि कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।" -वही, ३.५३.६
(ग) "शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।" -वही, ४.३०.२०
(घ) " .........शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि।" -वही, ७.३.७
(ङ) " .......गन्तारा दाशुषो गृहम्।" -वही, ८.२२.३
(च) द्रष्टव्य : वही, ७.५.३; ७.५६.१६; ८.२६.१७ आदि।

२. स्वतंत्रकलाशास्त्र, भाग १, पृष्ठ ७

में चैत्य के आकार से उन्हें प्रेरणा अवश्य मिली होगी तथा गर्भगृह* का नामकरण भी विहार में स्थित प्रतिमा-स्थान को लेकर किया गया, किन्तु भारतीय वास्तुशास्त्र का भी प्रभाव कालान्तर में पड़ता गया और उसी के कारण सम्पूर्ण देश में मन्दिरों की विभिन्न रूप-रेखा सामने आई। कलाविदों ने सही विचार किया कि जो परमात्मा मनुष्य-शरीर में अंतर्निहित है, सूक्ष्म रूप में विराजमान है, उसी की प्राण-प्रतिष्ठा कर देवालय में रखते हैं। अत एव मूर्तिकारों ने उस देव की मानवाकृति तैयार की, जिसे मन्दिर के गर्भगृह में स्थापित किया गया।[१] कृष्णदत्त वाजपेयी ने भी प्रारम्भिक मन्दिरों के आकार-प्रकार-हेतु मानव-शरीर तथा वृक्ष और पर्वत-शिखर को प्रेरणा-स्रोत बताया है।[२]

पुरातत्त्वीय अवशेषों में मन्दिरों के स्वरूप, प्राचीन मूर्तियाँ, सिक्के, मुद्राएँ आदि देखने को मिलती हैं। इन स्वरूपों को देखने से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में मन्दिर या देवायतन सीधे-साधे रूप में बनाये जाते थे। प्रकृतभूमि से कुछ ऊँचे स्थान पर प्रतिमा की स्थापना की जाती थी। उसके चारों ओर वेदिका या बाड़े का निर्माण होता था। बाद में वेदिका को ऊपर से भी आच्छादित कर देते थे। मथुरा, विदिशा, मध्यमिका आदि अनेक प्राचीन नगरों में सङ्कर्षण, वासुदेव आदि के देवमन्दिरों का यही रूप था। कालान्तर में कलात्मक रुचि में अभिवृद्धि के साथ-साथ मन्दिर-वास्तु का स्वरूप भी संवर्द्धित होता गया। जैन तीर्थङ्करों, यक्षों तथा नागों के लिए प्रारम्भिक मन्दिरों का जो निर्माण हुआ उनका स्वरूप भी उपर्युक्त मन्दिरों जैसा था।[३]

डॉ० रामनाथ के कथनानुसार प्राचीन भारतीय स्थापत्य अथवा वास्तुकला में लकड़ियों का प्रयोग होता रहा, क्योंकि इस देश में जङ्गलों की बहुतायत थी और लकड़ी आदि स्थापत्य-सामग्री आसानी से उपलब्ध हो जाती थी। साँची और भारहुत के प्राचीन संस्थानों से इस बात के समुचित प्रमाण उपलब्ध हुए हैं। वेदिका और तोरण यद्यपि बाद के हैं परन्तु वे लकड़ी की वेदिका तथा लकड़ी के तोरण की पद्धति पर बने हुए हैं और पत्थर में उनकी अनुकृति ही नहीं, अपितु अनुवाद सा प्रतीत होते हैं।

---

१. प्राचीन भारतीय स्तूप, गुहा एवं मन्दिर, पृष्ठ २००

२. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ३

३. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ३

* (क) हरेर्हरस्य धातुर्वा तद्देवीनामनेकथा। आधारासनसंयुक्तं स्थानं गर्भगृहं मतम्।।

–विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, अध्याय १३.१

(ख) संछन्ना (चा ? सा) पि यस्य स्यात् तद् गर्भगृहमुच्यते।

–समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय २२.२०

उत्कीर्ण शिलापट्टों पर जो दृश्य अङ्कित हैं उनमें भी गौखें, प्रासादिकाएँ, अण्डाकार छतें, खम्भे और छज्जे, सभा, लकड़ी और बाँस के प्रारूप हैं।[१]

यद्यपि भारतीय वास्तुकला के विकास में जैन लोगों का भी योगदान रहा है और बहुत से प्राचीन जैन अवशेष मथुरा से प्राप्त हुए हैं। इनमें से एक जैन स्तूप का काल ७७७ ई० पूर्व निश्चित किया गया है परन्तु विधिवत् रूप से वास्तुकला को प्रोत्साहन सबसे पहले बौद्ध धर्म ने दिया।[२] महात्मा बुद्ध के प्रादुर्भाव से भारतीय इतिहास में एक नवीन युग का आरम्भ होता है। ई०पू० छठी शताब्दी के साहित्यिक और पुरातात्त्विक दोनों प्रकार के ऐतिहासिक साधन अधिक परिमाण में उपलब्ध होने लगते हैं। मौर्य-युग में हम और अधिक स्थिर भूमि पर आ जाते हैं।

इस युग में बौद्ध धर्म के विकास के साथ-साथ वास्तुकला का भी विकास हुआ। मौर्य-सम्राट् अशोक ने जब बौद्ध धर्म को अपनाकर उसके प्रसार के प्रयत्न किये तब स्थापत्य और मूर्तिकला की उन्नति द्रुतगति से हुई। इस काल में बड़े-बड़े स्तूपों का निर्माण किया गया, जिनमें साँची, भारहुत अमरावती और सारनाथ के स्तूप हैं। मौर्य-सम्राट् अशोक ने देशभर में बौद्ध स्तूप बनवाये। इसके बाद स्तूप-निर्माण की परम्परा बढ़ी।[३] उत्तरी-पश्चिमी सीमान्त प्रदेश पेशावर ओर चरसद्दा में भी बड़े-बड़े स्तूप बने जिनमें चूने और मृण्मय पट्टों का बड़ा सुन्दर प्रयोग किया गया।[४] स्तूपों के निर्माण का उद्देश्य या किसी अन्य बौद्ध संत के अवशेषों पर समाधि बनाना अथवा किसी स्थान से सम्बन्धित और जैन या बौद्ध गाथाओं में पवित्र समझी जाने वाली घटना को स्मरणीय बनाना था। इस काल में बड़ी-बड़ी भव्य गुफाएँ खोदी गईं, जिनमें चैत्य और विहारों का निर्माण किया गया। इनमें काट-काटकर सुन्दर गवाक्ष, खम्भेदार कक्ष और गज-पृष्ठाकार छतें ही नहीं अपितु मूर्तियाँ भी निर्मित की गई। इनका निर्माण दूसरी शताब्दी ई०पू० से आठवीं शताब्दी ई० तक हुआ। इनमें कार्ली, कन्हैरी, भज, कान्दन, वेदसा, नासिक, पीतलखोड़ा और अजन्ता की गुफाएँ प्रमुख हैं।[५] अजन्ता की सुन्दर गुफाएँ इस युग की अद्भुत कृति हैं। इनमें सुन्दर चित्र बने हुए हैं, जिनमें बुद्ध

---

१. मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, पृष्ठ ३१
२. वही, पृष्ठ ३१
३. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ४० तथा ४
४. मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, पृष्ठ ३१
५. वही, पृष्ठ ३२

की जातक कथाएँ अङ्कित हैं।[१] भारतीय कलाओं के विकास में अजन्ता का महत्त्वपूर्ण स्थान है।

पूर्व के पृष्ठों में मन्दिर-निवेश के प्रेरणा-स्रोत के सम्बन्ध में उल्लेख किया जा चुका है। डॉ० रामनाथ के अनुसार हिन्दुओं के वैष्णव और शैव मन्दिर का विकास गुप्तकाल में हुआ। गर्भगृह के बाहर खम्भेदार एक खुला बरामदा बनाया गया। हिन्दू-मन्दिर की यह मूल योजना थी। देवगढ़, बर्वासागर और भूमरा के मन्दिर इसी युग के हैं। बाद में इसमें मण्डप, अर्धमण्डप और प्रदक्षिणा-पथ जोड़ दिये गये और इस प्रकार इसकी रचनाविधि का विकास हुआ। धीरे-धीरे शिखर पल्लवित हुआ और दसवीं शताब्दी तक हिन्दू-मन्दिर एक भव्य प्रसाद बन गया।[२] खजुराहो के मन्दिरों में इसका चरमोत्कर्ष प्रकट हुआ। उड़ीसा और दक्षिण में यही योजना विविध रूपों में विकसित हुई। दक्षिण में शिखर का स्वरूप बदल गया। वहाँ या तो अण्डाकार शिखर का प्रयोग हुआ या गोपुरम् बनाये गये किन्तु सांस्कृतिक विचार से उनमें विभेद नहीं है। गुजरात में लकड़ियों का प्रयोग होता था और वहाँ लकड़ी की रचना-विधि से प्रेरित तत्त्वों का बाहुल्य बराबर बना रहा। इनमें तोरण, प्रासादिकाएँ और क्षितिजाकार क्रमशः छोटी होती हुई छतें उल्लेखनीय हैं।[३]

इस देश में स्थापत्य सम्बन्धी निर्माण-कार्य में ईंटों का भी प्रयोग होते रहा है। हड़प्पा-सभ्यता में ईंटों से निर्माण के प्रमाण मिले हैं।[४] स्तूपों के निर्माण में ईंटों का प्रयोग किया जाता था। जैसे-मीरपुरखास, मालोट, काफिरकोट आदि। गुप्तकाल में और उसके बाद भी ईंटों से बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण किया गया, जिनमें विशेषतः भीतरगाँव, परावली, कुरारी, बोधगया, राजशाही सीरपुर और पुजारीपाली के मन्दिर उल्लेखनीय हैं। इनमें कहीं-कहीं त्रिज्याकार मेहराब और दुहरे गुम्बद का भी प्रयोग किया गया। इनमें अलङ्करण कटी हुई ईंटों या मृण्मय पट्टों से किया जाता था। इस वर्ग में भीतरगाँव का मन्दिर सर्वोत्कृष्ट कृति है।[५]

---

१. मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, पृष्ठ ३२

२. वही, पृष्ठ ३२

३. वही, पृष्ठ ३२

४. (क) भारतीय कला, पृष्ठ २१

(ख) प्राचीन भारत का इतिहास (डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी), पृष्ठ १४-१५

(ग) भारत का प्राचीन इतिहास (प्रो० सत्यकेतु), पृष्ठ ७२-७३

५. मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, पृष्ठ ३२

भारत में मुस्लिमों का आक्रमण दशवीं शताब्दी (इससे पूर्व ७११ ई० सन् में मुहम्मद बिन कासिम के नेतृत्व में अरबों का भारत के सिन्ध प्रदेश पर आक्रमण) का उत्तरार्ध माना जाता है परन्तु तराइन-युद्ध (द्वितीय, ११९२ ई०सन्) में मोहम्मद गौरी ने पृथ्वीराज चौहान को परास्त करके उसका वध करवा दिया। इसी काल में भारत में मुस्लिम शासन की नींव पड़ी। इस्लाम के भारत में आने से पहले ही इस देश में वास्तुकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी और विश्वप्रसिद्ध बड़े-बड़े मन्दिरों का निर्माण हो चुका था। इनमें मामल्लापुरम् के सुन्दर रथ, पट्टादकिल का वीरुपक्ष का मन्दिर, कांजीवरम् का कैलाश मन्दिर, तञ्जोर का बृहदेश्वर-मन्दिर, औसिया और किराड़ के मन्दिर, मुढ़ेरा का सूर्य-मन्दिर, आबू के जैन-मन्दिर, खजुराहो के मन्दिर, ग्वालियर का सहस्रबाहु-मन्दिर और भुवनेश्वर के लिङ्गराज तथा मुकटेश्वर के मन्दिर विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। पत्थर के इन भव्यप्रासादों के अत्यन्त सुन्दर शिखर बनाये गये। इनमें देवी-देवताओं और स्त्री-पुरुषों की मूर्त्तियों का अलङ्करण के लिए प्रयोम हुआ। मन्दिर के साथ-साथ मूर्तिकला का भी विकास हुआ और उसने धीरे-धीरे कलात्मकता के चरम आदर्श को प्राप्त कर लिया।[१]

स्थापत्यकला में पत्थर का प्रयोग व्यापक रूप से होता था। पत्थर के खम्भे या दीवारें, पत्थर की छतें और पत्थर के ही शिखर बनाये जाते थे। छज्जे भी पत्थर के ही लगाये जाते थे। कहीं-कहीं तो एक-दूसरे पत्थरों को बिना चूने मसाले के रखकर निर्माण किया जाता था। पत्थर के कार्य में भारतीय कारीगर अत्यन्त निपुण था और परम्परागत पत्थर से ही निर्माण-कार्य करता था। यद्यपि यहाँ पर मेहराब भी बनाये जाते थे, इस बात की पुष्टि भीतरगाँव के मन्दिर से होती है, पुनरपि मेहराब बनाने की परम्परा यहाँ की नहीं थी।[२]

इस्लाम के आगमन से पूर्व इस देश में वास्तुकला पर बड़े-बड़े ग्रन्थों की रचना हो चुकी थी, जिनमें 'मानसार','मयमत' (९वीं शताब्दी) और 'समराङ्गणसूत्रधार' (११ वीं शताब्दी) विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं। वास्तुकला की एक बृहत् वास्तुविधा बन गई थी। मन्दिर के छोटे-छोटे तत्त्वों का विवेचन किया जा चुका था और निर्माण-सम्बन्धी एक-एक बात के निश्चित मानदण्ड स्थापित हो चुके थे। शास्त्रीयकरण की यह स्थिति कला की अत्यन्त विकसित अवस्थाओं के साथ-साथ ही सम्भव होती है। इससे भी यह स्पष्ट हो जाता है कि इस देश में मुस्लिमों के आगमन के समय

---

१. मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, पृष्ठ ३२

२. वही, पृष्ठ ३३

वास्तुकला बहुत अधिक उन्नातावस्था में थी और उसकी परपराएँ बहुत गहरी और सुदृढ़ थीं।[१]

मन्दिर-निर्माण करते समय सबसे पहले यह बात आती थी कि किस प्रकार की भूमि पर मन्दिर का निर्माण किया जाये, अतः मन्दिर अथवा देवालय के निर्माण के लिए उपयुक्त भूमि का चयन किया जाता था। गृह्यसूत्रों में इसे **'भू-परीक्षा'** कहा गया है।[२] गृह्यसूत्रों तथा बाद के पौराणिक ग्रन्थों एवं स्थापत्य-शास्त्रों में कहा गया है कि मन्दिर के उत्तम स्थान प्रायः समुद्र-तट, सरिता-तट, सुन्दर उपवन तथा पर्वतीय प्रदेश हैं।[३] ये स्थान मनोहर और पवित्र होने के साथ-साथ शान्त वातावरण से युक्त होते थे, अतः वे मन्दिर-निवेश के लिए विशेष उपयुक्त समझे जाते थे। नगरों, ग्रामों तथा अन्य साधारण स्थानों में यदि देवालय बनाना आवश्यक होता था तो अपेक्षित भूमि को यज्ञादि के द्वारा शुद्ध करने के पश्चात् उन स्थानों पर मन्दिर-निर्माण किया जाता था।

**लौकिक वास्तु**—धार्मिक पक्ष के अतिरिक्त भारतीय वास्तु का दूसरा पक्ष लौकिक है। इस बात की पुष्टि प्राचीन साहित्य तथा पुरातात्त्विक अवशेषों से होती है। ग्रामों तथा पुरों का सन्निवेश एवं विभिन्न प्रकार के भवनों, मार्गों, दुर्गों आदि का निर्माण लौकिक वास्तु अथवा स्थापत्य के अन्तर्गत थे। रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र, जैन एवं बौद्ध साहित्य तथा मानसार, मयमत, समराङ्गणसूत्रधार आदि वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में नगर-सन्निवेश के विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं।

यद्यपि ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर पुरों का उल्लेख मिलता है परन्तु पुरातत्त्व से इस दिशा में अभी तक कोई उल्लेखनीय सहयोग प्राप्त नहीं हो सका है। इस प्रकार भारत में सुनियोजित नगर बसाने का ज्ञान हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के उत्खनन में प्राप्त पुरातात्त्विक साक्ष्यों से मिलता है* । इसके बाद उत्तरोत्तर नगरों की संख्या में वृद्धि

---

१. मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास, पृष्ठ ३३

२. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ४

३. वही, पृष्ठ ४

* कतिपय विद्वान् हड़प्पा तथा हड़प्पा-सभ्यता के नगरों (रङ्गपुर, लोथल, कालीबंगा) में हवनकुण्ड, अग्निशाल या वेदी के प्रमाण से इन्हें वैदिक पुर होने की पुष्टि करते हैं। आर०एस० विष्ट (१९९३ ई०) तथा भगवान सिंह (वैदिक हरप्पन्स, प्रथम संस्करण, १९९५ ई०, पृष्ठ ८४-८५) ने धौलवीरा के साक्ष्य एवं ऋग्वैदिक सन्दर्भों के तुलनात्मक अध्ययन के आधार पर इसे वैदिक पुर होने का दृष्टान्त माना है।
(प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २४-२५ से उद्धृत)।

होती दिखाई देती है। राजनीतिक, व्यापारिक एवं धार्मिक कारणों से विभिन्न नगरों के बीच आवागमन की सुविधाएँ बढ़ी और बड़े-बड़े राजमार्गों का निर्माण हुआ। समृद्ध नगरों में पुष्कलावती, परुषपुर, तक्षशिला, शाकल, इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर, अहिच्छत्रा, कान्यकुब्ज, मथुरा, अयोध्या, वाराणसी, श्रावस्ती, वैशाली, पाटलिपुत्र, राजगृह, चम्पा, ताम्रलिप्ति, प्रयाग, कौशाम्बी, विदिशा, उज्जयिनी, दशपुर, भृगकृच्छ, वलभी, प्रतिष्ठान, कांची, कावेरीपट्टनम् आदि उल्लेखनीय हैं।

सुरक्षा की दृष्टि से नगरों के चारों ओर एक या उससे अधिक परिखाएँ खोदी जाती थीं, जिनमें प्राय: नदी का जल भरा रहता था। उसे आकर्षक बनाने के लिए जल में विभिन्न रङ्गों के फूल लगाये जाते थे। इस प्रकार का निर्देश भारतीय स्थापत्य-ग्रन्थों में भी मिलता है। नगर-रक्षा के लिए दूसरा विधान नगर के चारों ओर प्राकार का निर्माण था। प्राकार का निर्माण पत्थरों, ईंटों या सख्त मिट्टी से किया जाता था। कभी-कभी मिट्टी की चौड़ी दीवार के ऊपर पत्थर या पकी ईंटों की चिनाई की जाती थी। प्राकारों में यथास्थान अट्टालक बनाये जाते थे, जिनमें सैनिक नियुक्त रहते थे। नगर में प्रवेश-हेतु कई प्रमुख तथा गौणद्वार बनाये जाते थे। इन द्वारों पर भी नगर-रक्षक तैनात रहते थे जो नगर में प्रवेश करने वालों और बाहर जाने वालों पर दृष्टि रखते थे। नगर के भीतर मार्गों की उचित व्यवस्था होती थी। मुख्यमार्ग एक-दूसरे को समकोण पर काटते थे। उनके द्वारा विभाजित क्षेत्रों में विशेष वर्गों के लोगों को बसाया जाता था। बौद्ध लेखक धम्मपाल के अनुसार पाँचवीं शताब्दी ई०पू० महागोविन्द नामक वास्तुविद् ने उत्तर भारत की अनेक राजधानियों के विन्यास तैयार किये थे। नगरों का आकार प्राय: चौकोर होता था और उनके मध्य में दो प्रमुख राजमार्ग बनाकर उन्हें चार-चार भागों में बाँट दिया जाता था।[१]

राजप्रासाद का सन्निवेश नगर के मध्य में या प्रमुख स्थान पर किया जाता था और तदनुसार भवनों का निर्माण किया जाता था। पक्की सड़कों में पत्थर, ईंट और कङ्कड़ का प्रयोग किया जाता था। नालियों की ठीक व्यवस्था नगर-योजना का महत्त्वपूर्ण अङ्ग था। इस बात की पुष्टि हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, लोथल, कौशाम्बी आदि प्राचीन नगरों के उत्खनन से हुई है।

राजप्रासाद तथा बड़े भवनों के अतिरिक्त जन-साधारण के भवनों में भी वायु तथा प्रकाश के आने का समुचित ध्यान रखा जाता था। एतदर्थ द्वारों, गवाक्षों आदि की

---

१. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड १०, पृष्ठ ४५०

उचित व्यवस्था की जाती थी। प्रायः प्रत्येक घर में कूड़ा-करकट एकत्रित करने और जल के निर्गमन की सुविधा होती थी। गृहस्थ जनों के विभिन्न कार्य सुगमता से सम्पन्न हो सकें, इसके लिए घरों में कक्षों की व्यवस्था की जाती थी। गृहों की दीवारों पर सफेद सुधा-लेप लगाने की प्रथा थी। इससे वे धवलित दिखाई देते थे। दीवारों की चिनाई में मिट्टी के गारे तथा विशेष प्रकार से निर्मित चूने का प्रयोग किया जाता था।

नगरों में सार्वजनिक उपयोग के लिए मन्दिर, स्तूप, जलाशय, उद्यान, विद्यालय, सभा-भवन, बाज़ार और आरोग्यशाला आदि का निर्माण यथास्थान किया जाता था।

मुगलों का स्थापत्य-प्रेम का इतिहास अनूठा है। उनकी रचनाएँ भी स्थापत्य अथवा वास्तु की दृष्टि से बहुत महत्त्वपूर्ण हैं, परन्तु उनके शासन-काल में उनके नगरों में वह ज्यामितीय विन्यास जिसका युग-युगों से प्रतिष्ठा चली आयी थी, उसे बनाये रखना सम्भव न हुआ। प्रतिरक्षा की दृष्टि से गली-कूचे जान बूझकर टेढ़े-मेढ़े रखे गये, चाहे वे किसी पूर्व योजना के अनुसार हों या अनियोजित ही बन गये हों। शहर पनाह और उनके दरवाजे, मुख्यमार्गों पर दरवाजे और फिर गली-कूचों पर स्थान-स्थान पर दरवाजे बनाना आवश्यक समझा गया। वर्तमान पुरानी दिल्ली, जो अनेक बार उजड़ी और बसी, इसका अच्छा उदाहरण है।

मुगल-शासन-काल में सुव्यवस्थित नगर नियोजन का उत्तम उदाहरण 'जयपुर' नगर है, जिसे महाराजा जयसिंह (द्वितीय) ने सन् १७३० ई० में प्राचीन वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के सिद्धान्तों तथा तत्कालीन आवश्यकताओं का समन्वय करते हुए नियोजित करके बनवाया था। ज्यामितीय रूपरेखा पर निर्मित यह नगर मध्यकालीन वास्तुकला का एक अच्छा उदाहरण है।

भारतीय वास्तुकला के इतिहास पर संक्षिप्त दृष्टिपात से यह सिद्ध होता है कि प्राचीन समय में पुर-निवेश के जो सिद्धान्त अपनाये गये, उनमें ज्यामितीय विन्यास का विशेष महत्त्व था। यह लोगों की शान्तिप्रियता का सूचक है, चाहे वह अल्पकालिक ही रही हो। बहुसंख्यक गाँव अपनी स्वाभाविक वृद्धि के दबाव में आकर अनियोजित ही बढ़ते रहे और टेढ़े-मेढ़े अनियमित गली-कूचे जो प्रतिरक्षा की दृष्टि से अच्छे समझे जाते रहे उनकी स्वाभाविक वृद्धि के प्रतीक बन गये।

यह सत्य है कि विश्व की वास्तुकला के प्रयोगों में बहुत अस्थितरता रही है, जिससे अगणित शैलियाँ प्रकट हो गई हैं, किन्तु उन शैलियों से किसी वास्तुक को क्या प्रयोजन? वास्तविकता यह है कि वास्तुकला न कोई पंथ है न शैली, अपितु यह तो

विकास का अवच्छिन्न क्रम है। अतः वास्तुक को शैलियों से विशेष प्रयोजन नहीं। इस विषय में फैंक लायड राइट ने कहा है कि **"वास्तुकला की परिधि इधर-उधर हटती रहती है, उसका केन्द्र नहीं बदलता"**।[१]

**वास्तुकला का उद्भव**—वास्तुकला कालान्तर में चाहे जितनी जटिल हो गई हो परन्तु ज्ञान-विज्ञान की इस शाखा का आरम्भ मौसम की उग्रता, वन्य पशुओं के भय और शत्रुओं के आक्रमण से बचने के प्रारम्भिक उपायों में से ही हुआ होगा। मानव-सभ्यता के इतिहास का भी कुछ ऐसा ही आरम्भ है। इसीलिए विद्वानों ने इसे मानव-सभ्यता का '**योजक-मसाला**' कहा है।[२]

संस्कृति के उषःकाल के पूर्व मानव-जीवन के विकास की आरम्भिक दशा की यदि हम कल्पना करें तो ज्ञात होगा कि उस युग से मानव को जीवन-रक्षा के लिए किसी आश्रय की आवश्यकता पड़ी। सूर्य के प्रखर ताप और वर्षा से रक्षा हेतु प्रारम्भ में तरुमूल, उनकी शाखाएँ अथवा पर्वतों की कन्दराएँ आदिम जन के आश्रय बने। वस्तुतः आज भी यात्री जब सुदूर देशों की पैदल यात्रा निर्जन प्रदेशों के बीच से करते हैं तो प्रकृति के प्रकोप से बचने के लिए उनको छायादार वृक्षों की शरण लेनी पड़ती है। वृक्षों की हरी-भरी कोमल शाखाओं को हाथों से तोड़कर उनको झोपड़ें की आकृति में बदलना तथा उस पर पत्तियों का छाजन बनाना कठिन नहीं है और इन सब कार्यों को पूर्ण करने में किसी विशेष साधन-यन्त्र की आवश्यकता नहीं पड़ती। इस प्रकार के गृह की उस पूर्ण विकसित वट-वृक्ष के प्राकृतिक स्वरूप के आधार पर रचना करना कठिन नहीं था जिसकी जटाएँ विस्तृत क्षेत्र में भूमि के अन्दर तक प्रवेश कर लेती हैं। पर्वतीय प्रदेशों में प्रकृति-जन्य पर्वत-कन्दराएँ स्वाभाविक रूप से कुछ मनुष्यों के निवास-गृहों के रूप में थीं। अनेक स्थानों पर उसने अपने निवास के लिए पर्वत को काट-छाँटकर भी गुफाओं का निर्माण किया। शिलाश्रयों में रहने वाले लोग कभी-कभी गुफाओं की भीतरी छतों और दीवारों पर अनेक प्रकार की चित्र-रचना भी करते थे परन्तु यह सब बिना प्रभावशाली सहकारी यन्त्रों के नहीं हो सकती थी। अतएव यह अनुमान करना युक्तिसङ्गत है कि मानव-सभ्यता के प्रारम्भिक काल में लकड़ी ही मनुष्यों के गृह-रचना का सर्वप्रथम उपादान कारण थी।

**भारतीय वास्तुकला का उद्भव और विकास**—भारतीय वास्तुकला का इतिहास

---

१. हिन्दी विश्वकोश, खण्ड १०, पृष्ठ ४४८-४९

२. वही, खण्ड १०, पृष्ठ ४४९

अपने आप में भारतीय सभ्यता व संस्कृति का इतिहास है। अन्य प्राचीन भारतीय विद्याओं की भाँति वास्तुकला का भी क्रमबद्ध इतिहास उपलब्ध नहीं होता, लेकिन इसकी मूल संकल्पना एवं आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख प्राचीन भारत के अनेक ग्रन्थों में मिलता है। भारतवर्ष में वास्तुकला के आरम्भ को लेकर विद्वानों में मतभेद हो सकता है परन्तु प्राचीन साहित्य के गंभीर अध्ययन से यह बात पूरी तरह स्पष्ट हो जाती है कि ज्ञान-विज्ञान की इस शाखा का आरम्भ तभी हो गया था, जब मनुष्य ने पर्ण-कुटी बनाकर रहना शुरू किया होगा। इस युक्तिसङ्गत अनुमान को समरङ्गणसूत्रधार में पौराणिक शैली में निम्नलिखित रूप में कहा गया है :-

कृतयुग में देव और मानव एक साथ सुखपूर्वक निवास करते थे। देवों के समान मानवों की भी पुण्यश्लोकता थी, अजरता थी, अमरता थी। उस युग में वे उन कल्पद्रुमों में रहते थे जिनका स्वरूप राजप्रासाद जैसा था। ये वृक्ष उनकी सभी आकाङ्क्षाओं को पूर्ण करते थे। कामदेव का सखा वसन्त-ऋतु ही वर्षभर रहती थी। अत एव किसी कठोर और दृढ़ निवास-गृह की आवश्यकता नहीं पड़ती थी। उस समय सामाजिक समता पूर्णतया वर्तमान थी, इस कारण जीवन शान्तिपूर्ण था और शक्ति और प्रतिष्ठा को प्राप्त करने के लिए संघर्षों का कोई अस्तित्व नहीं था, परन्तु कालान्तर में मानवों में देवों के प्रति अवज्ञा आविर्भूत हुई, जिसके परिणाम-स्वरूप मानवों की वह पुण्यश्लोकता चली गई। कल्पवृक्षों के नीचे उनके आहार-विहार, क्रीड़ा-प्रमोद आदि भी समाप्त हो गये और वे क्षुधा तथा तृषा से व्याकुल होकर, व्याधियों से पीड़ित होकर शस्यादि का आहार करने लगे, जिससे उनमें मल-प्रवृत्ति हो गई और उससे उनकी प्रकृति भी राजस हो गई एवं वे आधि-व्याधियों के वशीभूत होने लगे। उनमें द्वन्द्व का प्रादुर्भाव हो गया। वह पुराना साम्यवाद समाप्त हुआ एवं व्यक्तिवाद ने आकर अपना अस्तित्व स्थापित किया। पूर्वकालीन सदैव रहने वाली वसन्त-ऋतु निदाघ, शीत तथा वर्षा-ऋतुओं में बदल गई। अतः वृक्षों की छाया ही उनके लिए यथेष्ट मात्रा में सुरक्षित शरण-स्थल अर्थात् निवास-गृह के रूप में नहीं रह सकी। ऐसी स्थिति में मैथुन आदि की अभिगुप्ति के लिए और शीतादि से बचने के लिए उन्हें घर की आवश्यकता हुई। अत एव उन्होंने पत्थरों से बने औजारों से वृक्षों की शाखाओं को काटकर, राजप्रासाद की आकृति के कल्पद्रुमों के स्वरूप को यादकर अपने नये भवनों की रचना आरम्भ की।[१]

**विश्वकर्मा तथा मय**–वास्तुशास्त्र के उद्भावकों में विश्वकर्मा और मय के

१. समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय ६

नाम सर्वाधिक प्रसिद्ध थे। इनमें से विश्वकर्मा को देवों का स्थपति या देववास्तु का प्रवर्तक माना गया और मय असुर-वास्तु के प्रवर्तक के रूप में प्रसिद्ध हुआ। देवों में जो प्रतिष्ठा विश्वकर्मा की थी, वही प्रतिष्ठा असुरों में मय की थी। भारत में स्थापत्य विषयक ये दोनों धारणाएँ साथ-साथ विकसित होती रहीं। धीरे-धीरे उनके अनेक तत्त्व एक-दूसरे से घुल-मिल गये, परन्तु कतिपय मौलिक भेद चिरकाल पर्यन्त विद्यमान रहे। स्थानीय विशेषताओं का भी थोड़ा-बहुत योगदान रहा।[१]

ऋग्वेद के दो सूक्तों में विश्वकर्मा का विस्तृत विवेचन हुआ है।[२] इन दोनों सूक्तों के ऋषि और देवता क्रमशः 'विश्वकर्मा भौवन' और 'विश्वकर्मा' है। वस्तुतः यहाँ सर्वशक्तिमान् परमात्मा के परमेष्ठी तथा त्वष्टा रूप को सूचित करने के लिए विश्वकर्मा शब्द का प्रयोग हुआ है। वह परमतत्त्व जगत् रूप ब्रह्माण्ड का, समग्र विश्व का निर्माण करने के कारण विश्वकर्मा कहलाता है। ऋग्वेद में इसे महान् आकाश और पृथिवी से परे तथा 'अज' बताया गया है।[३] यजुर्वेद में भी विश्वकर्मा का उल्लेख हुआ है।[४] मानसार में कहा गया है कि वही विश्वकर्मा ब्रह्माण्ड की रचना बार-बार करता है।[५] यह विश्व जिसका कर्म है, उसे विश्वकर्मा कहा गया। उसने संसार-रूपी महावृक्ष को गढ़-छीलकर या तक्षण करके द्यावा-पृथिवी का निर्माण किया।[६] मत्स्यपुराण[७] और वाल्मीकि- रामायण के सुन्दर-काण्ड में जिस विश्वकर्मा को लङ्कापुरी तथा महाभारत में पाण्डवों के सभा-भवन का निर्माता बताया गया है, वह ऋग्वेद के सूक्तों में जिसे देवता* बताया गया है उससे भिन्न है। लोक में देव-स्थपति के रूप में विख्यात विश्वकर्मा सम्भवतः ऋग्वेद में ऋषि** के नाम से उल्लिखित विश्वकर्मा है।

१. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ५

२. ऋग्वेद, १०.८१, ८२

३. (क) "परो दिवा पर एना पृथिव्या।" -वही, १०.८२.५
(ख) "अजस्य नाभौ........।" -वही, १०.८२.६

४. "सा विश्वायुः सा विश्वकर्मा सा विश्वधायाः।"
-यजुर्वेद, १.४; १७.२४; १७.३२; १७.७; ७९ आदि।

५. "स एवायं विश्वकर्मा ब्रह्माण्डं सृजते महुः।" -मानसार, अध्याय २.२

६. भारतीय कला, पृष्ठ ५३

७. भृगरत्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा। नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः।।
-मत्स्यपुराण, अध्याय २५२.२

* जिस बात को कोई मंत्र कहता है, अर्थात् जिस वस्तु-तत्त्व का वर्णन करता है वह वस्तु-तत्त्व ही उसका देवता होता है।

** "ऋषिदर्शनात्, ऋषयो हि मन्त्रदष्टारः।" -निरुक्त, १.१०

डॉ० शुक्ल भी स्थपति विश्वकर्मा को ऋषि और देव-पुरुष मानते हैं। उन्होंने मत्स्यपुराण में उल्लिखित वास्तु-शास्त्रोपदेष्टाओं की सूची प्रस्तुत करते हुए लिखा है कि इनमें प्रायः सभी वैदिक कालीन ऋषि अथवा प्रख्यात देव-पुरुष हैं।[१] इस प्रकार यहाँ विश्वकर्मा के दो रूप दिखाई देते हैं-प्रथम-समस्त ब्रह्माण्ड का रचयिता परमात्मा और द्वितीय-ऋषि या देवपुरुष स्थपति।

वाल्मीकीय रामायण में विश्वकर्मा द्वारा निर्मित लङ्कापुरी की अवस्थिति, विस्तार और सौंदर्य आदि के विषय में विस्तृत विवरण उपलब्ध होते हैं। आदिकवि के अनुसार लङ्का के चारों ओर खुदी हुई परिखाएँ उस नगरी की शोभा को बढ़ा रही थीं उनमें उत्पल और पद्म आदि कई जातियों के कमल खिले हुए थे। वह महापुरी सोने की चहारदीवारी से घिरी हुई थी तथा पर्वत के समान ऊँचे और शरद्-ऋतु के बादलों के समान श्वेत-भवनों से युक्त थी। श्वेत रंग की ऊँची-ऊँची प्रतोलियाँ उस पुरी को सब ओर से घेरे हुए थीं। सैकड़ों अट्टालिकाएँ वहाँ शोभा पा रही थीं तथा फहराती हुई ध्वजा-पताकाएँ उस नगरी की शोभा को बढ़ा रही थीं। उसके बहिर्द्वार स्वर्ण-निर्मित थे और उनकी दीवारें लता-बेलों के चित्र से सुशोभित थीं। हनुमान ने उन फाटकों से सुशोभित लङ्का को उसी प्रकार देखा, जैसे कोई देवता देवपुरी का निरीक्षण कर रहा हो। हनुमान ने विश्वकर्मा द्वारा निर्मित तथा राक्षस-राज रावण द्वारा सुरक्षित उस पुरी को आकाश में तैरती सी देखा।[२]

डॉ० डी०एन० शुक्ल ने समराङ्गणसूत्रधार तथा अपराजितपृच्छा के आधार पर विश्वकर्मा की वंश-परम्परा का कथन करते हुए इसे प्रभास वसु का पुत्र बताया है।[३]

---

१. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र (भवन-निवेश, प्रथमभाग, हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ३

२. (क) "परिखाभिः सपद्माभिः सोत्पलाभिरलङ्कृताम्।"

(ख) काञ्चनेनावृतां रम्यां प्राकारेण महापुरीम्।
गृहैश्च गिरिसंकाशैः शारदाम्बुदसंनिभैः।।
पाण्डुराभिः प्रतोलीभिरुच्चाभिरभिसंवृताम्।
अट्टालकशताकीर्णां पताकाध्वजशोभिताम्।।
तोरणैः काञ्चनैर्दिव्यैर्लतापङ्क्तिविराजितैः।
ददर्श हनुमाँल्लङ्कां देवो देवपुरीमिव।।

(ग) पालितां राक्षसेन्द्रेण निर्मितां विश्वकर्मणा।
प्लवमानामिवाकाशे ददर्श हनुमान् कपिः।।

-वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग २.१४; १६-१८; २०

३. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र (भवननिवेश, प्रथमभाग, हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ ४

उनके अनुसार विश्वकर्मा सूक्ष्मकला, स्थापत्यकला, शिल्पकला, चित्रकला के निर्माण-पक्ष और सौंदर्य-पक्ष का कुशल ज्ञाता था। वह एक बहुत प्रसिद्ध यान्त्रिक भी था, जिसने भूमि, समुद्र और आकाश में चलने वाले यानों का निर्माण किया था।[१] वाल्मीकि-रामायण में दो प्रकार के विमानों का उल्लेख हुआ है। प्रथम–आकाश मार्ग से गमन करने वाला रथ तथा द्वितीय–भवन।[२]* लङ्काधिपति रावण के पास जो पुष्पक नामक महद् विमान था, उसका निर्माण विश्वकर्मा ने किया था। उसमें वे विशेष महाभूत प्रयुक्त थे, जो देवों के पास भी नहीं थे। वह विमान वायुपथ में प्रतिष्ठित होकर आदित्य मार्ग का तारा दिखाई देता हुआ गति करता था। वह मारुत-तुल्य शीघ्रगामी था और लगभग १० घंटे में लङ्का से अयोध्या पहुँच सकता था। उसको ले जाने वाले सहस्रों भूत गण थे। इन भूतों अर्थात्, वायु, अग्नि और आप: आदि को बाँध लिया गया था।[३] वस्तुत: इस दिव्य विमान का निर्माण विश्वकर्मा ने आदिदेव ब्रह्मा के लिए किया था।[४] ब्रह्मा ने इसे कुबेर को दे दिया** और कुबेर से इसे रावण ने बलपूर्वक ले लिया था।[५]

---

१. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ५९

२. पुष्पक विमान: वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग ७-९ आदि।
भवन : "प्रासादैश्च विमानैश्च लङ्का परमभूषिता।" –वही, युद्धकाण्ड, सर्ग ३९.२१

३. भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृष्ठ ६९

४. ब्रह्मणोऽर्थे कृतं दिव्यं दिवि यद्विश्वकर्मणा।
विमानं पुष्पकं नाम सर्वरत्नविभूषितम्।। –वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग ९.११

५. पुष्पकं नाम भद्रं ते विमानं सूर्यसन्निभम्।
मम भ्रातु: कुबेरस्य रावणेन बलीयसा।।
हृतं निर्जित्य संग्रामे......................।
–वाल्मीकि रामायण (सम्पादक: जगदीश्वरानन्द), युद्धकाण्ड, सर्ग ६७.८-९

* (क) सात मंजिल के मकान को भी विमान कहते हैं। प्राचीन वास्तुविद्या के अनुसार उस देवमन्दिर को विमान की संज्ञा दी गई है जो ऊपर की ओर पतला होता चला गया हो (पं० रामनारायण, टिप्पणी : वाल्मीकीय रामायण (हिन्दी-अनुवाद), पृष्ठ ७३३, गीता प्रेस, गोरखपुर, संस्करण २०४४

(ख) "विमानाग्रभूमी:"–विमान सात मञ्जिलों वाले ऊँचे भवनों को कहते हैं।
(टिप्पणी : विजेन्द्र कुमार शर्मा, मेघदूत, उत्तरमेघ, पृष्ठ १३)

** समराङ्गणसूत्रधार में प्राप्त विवरण के अनुसार 'वैराज', 'कैलास', 'पुष्पक', 'मणिक' और 'त्रिविष्टप' नामक विमानों का निर्माण ब्रह्मा ने किया था–
पुरा ब्रह्मासृजत् पञ्चविमानान्यसुरद्विषाम्। वियद्वर्त्मविचारीणि श्रीमन्ति च महान्ति च।।
तानि वैराजकैलासे पुष्पकं मणिकाभिधम्। हैमानि मणिचित्राणि पञ्चमं च त्रिविष्टपम्।।
आत्मन: शूलहस्तस्य धनाध्यक्षस्य पाशिन:। सुरेशिने च विश्वेशो विमानानि यथाक्रमम्।।
–समराङ्गणसूत्रधार (सम्पादक: प्रो० पुष्पेन्द्र), अध्याय ४९.२-४

भारतीय वास्तुकला के इतिहास में 'मय' एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण नाम है। पूर्व-पृष्ठ में मत्स्यपुराण से उद्धृत वचन में वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं के अन्तर्गत मय की भी गणना हुई है। मानसार में प्रदत्त विवरणानुसार मय की उत्पत्ति ब्रह्मा* के दक्षिण-मुख से हुई थी।[१] ब्रह्मा के अन्य तीन मुखों (पूर्व, उत्तर तथा पश्चिम) से क्रमशः विश्वकर्मा, मनु एवं त्वष्टा की उत्पत्ति हुई।[२] ऐसा प्रतीत होता है कि मय ने सूत्र-ग्राहिता में विलक्षण निपुणता प्राप्त की थी। अत एव मय के पुत्र को सूत्रग्राही कहा गया है।[३] ध्यातव्य है कि सूत्रग्राही वस्तुतः एक पारिभाषिक संज्ञा है।

वास्तुकला-सम्बन्धी अनेक मुद्रित-अमुद्रित ग्रन्थों के शीर्षकों में मय शब्द का प्रयोग प्राप्त होता है। जैसे-मयमत, मयमत-शिल्पशास्त्र-विधान, मयमतशिल्पशतिका, मयशिल्प, मयवास्तु, मयवास्तुशास्त्र तथा मयमतवास्तुशास्त्र आदि। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय के अनुसार कालान्तर में मय एक जाति का नाम हो गया जिसकी अपनी एक विशिष्ट संस्कृति थी। इसका प्रसार मध्य अमेरिका तक था जहाँ पुरातत्त्व सम्बन्धी उत्खनन से हनुमान, गणेश, इन्द्र आदि की मूर्तियाँ उपलब्ध हुई हैं।[४]

---

१. "........दक्षिणे मयः।" -मानसार, अध्याय २.६

२. "पूर्वानने विश्वकर्मा जातः...........।"
"उत्तरस्य मुखे त्वष्टा पश्चिमे तु मनुः स्मृतः।" -वही, अध्याय २.५; ६

३. "मयस्य तनयः सूत्रग्राहीति परिकीर्तितः।" - वही, अध्यय २.९

४. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, भाग १, पृष्ठ ६०५

* सर्वविदित है कि ब्रह्मा के चतुर्मुख से अभिप्राय विद्वद्वर्ग उसे चतुर्वेदविद् मानता है। वर्तमान में भी कोई भी चतुर्वेदविज्ञ विद्वान् किसी यज्ञ में ब्रह्मा के आसन पर विराजमान हो सकता है। भारतीय परम्परा में जिस प्रकार बह्मा को योग-विद्या, आयुर्वेद तथा त्रिवर्गशास्त्र (धर्मशास्त्र, अर्थशास्त्र, कामशास्त्र), ज्योतिष-शास्त्र आदि का लोक-भाषा में आद्य प्रवक्ता कहा जाता है उसी प्रकार वास्तुशास्त्र का भी प्रथम प्रवक्ता माना जाता है। मत्स्यपुराण में वास्तुशास्त्र के उपदेशकों में ब्रह्मा का भी नामोललेख हुआ है- ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च। वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रबृहस्पती।। -मत्स्यपुराण, अध्याय २५२.३

आचार्य वराहमिहिर ने लिखा है-"वास्तुज्ञानमथातः कमलभवाद् मुनिपरम्परायाम्"।
-बृहत्संहिता, ५३.१

समराङ्गणसूत्रधार में भी एतद्विषक उल्लेख मिलता है-
"ये तत्र विहिता भेदाः पूर्वं कमलयोनिना।"
-समराङ्गणसूत्रधार (सम्पादक : प्रो० पुष्पेन्द्र), अध्याय ४९.९

विष्णुधर्मोत्तरपुराण से भी इस बात की पुष्टि होती है-"प्रासादलक्षणमिदं कथितं समासाद् आलोक्य पूर्वचरितम् (रचितम्) हि पितामहोक्तम्।" -(खण्ड ३, अध्याय ८६.१३९)

वाल्मीकिरामायण में किष्किन्धाकाण्ड के ५०वें सर्ग से लेकर ५३ वें सर्ग तक भूगर्भ में वर्तमान गिरि-दुर्ग का रमणीय विशद वर्णन हुआ है, जिसकी रचना मय ने अपने लोकोत्तर शक्तियों से की थी।[१] महर्षि वाल्मीकि ने लङ्का-नगरी को विश्वकर्मा द्वारा निर्मित बताकर रावण के भवन-सौन्दर्य के विषय में लिखा है कि वे अपनी सर्वाङ्गीण रमणीयता में इतने अधिक विलक्षण थे मानो स्वयं मय ने उनकी रचना अपने हाथों से की थी।[२]

महाभारत में भी महा-स्थपति मय के वास्तुकौशल की बड़ी प्रशंसा की गई है। उसने ही पाण्डवों के विलक्षण सभाभवन का निर्माण किया था।[३] इसमें विश्वकर्मा ने स्फटिकों द्वारा ऐसे फर्श का निर्माण किया था जो जल-युक्त सरोवर का आभास देता था और जल से युक्त सरोवर सूखा फर्श प्रतीत होता था।[४] इसमें ऐसे द्वारों का निर्माण किया गया था जो खुले होने पर भी बन्द प्रतीत होते थे।[५] ऐसी राजसभा की रचना का अनुकरण साधारण मनुष्य जाति के लोग नहीं कर सकते थे। इसमें देव-सम्बन्धी, असुर-सम्बन्धी तथा मानव-सम्बन्धी भावों को पत्थर, चूना, ईंट तथा रङ्गों में प्रकट किया गया था।[६]

मत्स्यपुराण भी मय को दुर्ग-सन्निवेश का विशेषज्ञ बताते हुए कहता है कि उसने ब्रह्मा से वरदान पाकर एक ऐसे विचित्र दुर्ग का निर्माण किया था, जिसमें तीन द्वार थे और तीनों द्वारों में तीन नगर बसे हुए थे। इस दुर्ग के तीनों नगरों का निर्माण बड़े व्यवस्थित ढंग से हुआ था। अट्टालिकाओं, राजमार्गों, रथ्याओं, तड़ागों, वाटिकाओं, उद्यानों, सभागारों तथा समुदाय-भवनों की समुचित व्यवस्था के कारण वे तीनों नगर अपने वैभव, सौन्दर्य एवं सुख-सुविधाओं की बहुलता से स्वर्ग को भी पराभूत करते थे।[७]

---

१. "मयस्य मायाविहितं गिरिदुर्गं विचिन्वताम्।"
–वाल्मीकि रामायण (सम्पादक: जगदीश्वरानन्द), किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग २५.२१

२. "मयेन साक्षादिव निर्मितानि।"
–वही (सम्पादक: श्रीनिवास कट्टी शास्त्री), सुन्दरकाण्ड, सर्ग ७.४

३. सभा-भवन-वर्णन, द्रष्टव्य : महाभारत, सभापर्व, अध्याय ३.२२-३५

४. "स्फटिकं स्थलमासाद्य जलमित्यभिशङ्कया।" "स्व वस्त्रोत्कर्षणं राजा कृतवान् बुद्धिमोहितः।"
ततः स्फाटिकतोयां वै स्फाटिकाम्बुज शोभिताम्। वापीं मत्वा स्थलमिव सवासाः प्रापतज्जले।।
–वही, सभापर्व, अध्याय ४७. ३-४; ६

५. "द्वारन्तु पिहिताकारं स्फाटिकम्.......।" –वही, सभापर्व, अध्याय ४७.११

६. स्वतंत्रकलाशास्त्र, भाग १, पृष्ठ ६०६

७. मत्स्यपुराण, अध्याय १२९-४०

भारतीय स्थापत्य के आचार्य द्वय (विश्वकर्मा-मय) के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। अधिकांश विद्वानों के अनुसार विश्वकर्मा भारतीय वास्तुकला की उत्तरी परम्परा तथा मय दक्षिणी परम्परा के प्रतिनिधि थे। परन्तु कतिपय विद्वानों के अनुसार सम्पूर्ण भारत में वास्तुकला की दो भिन्न-भिन्न परम्पराएँ न होकर एक ही परम्परा प्रचलित थी। इस सम्बन्ध में प्रो०सी० लाल और डॉ० पी० कुमार का कथन है कि भारतीय वास्तुकला को आर्य-अनार्य (द्रविड़) वर्गों में विभाजित करना अपने आप में एक भ्रम है, जो कि भारतीय शास्त्रों के वास्तविक स्वरूप को न जानने का परिणाम हे। द्राविड़ का प्रपञ्च तो डॉ० ग्रियर्सन ने भारत में विभाजन की बीज बोने के लिए रचा था। इन्होंने अपने मत की पुष्टि के लिए रामायण में वर्णित लङ्का-नगरी के भवनों का उल्लेख किया है, जिसे आदि कवि ने विश्वकर्मा-निर्मित बताकर यह भी बताया है कि रावण की नगरी के भवन मय द्वारा निर्मित प्रतीत होते थे। इससे ज्ञात होता है जिसे विश्वकर्मा को उत्तर भारतीय संस्कृति तथा वास्तुकला का आचार्य कहा गया है, वह लङ्कापुरी का भी निर्माता था।

उपर्युक्त कथन की पुष्टि के लिए इन्होंने रामायण के बालकाण्ड, किष्किन्धाकाण्ड और सुन्दरकाण्ड में वर्णित क्रमशः अयोध्या, स्वर्णवन तथा लङ्कापुरी की स्थापत्यकला का उल्लेख करते हुए कहा है कि इन तीनों स्थानों की वास्तुकला में समानता है। इससे यह स्पष्ट है कि भारतीय वास्तुकला में न तो दो परम्पराओं या शैलियों का प्रचलन था और न ही विश्वकर्मा उत्तरी परम्परा के और मय दक्षिणी परम्परा के प्रतिनिधि थे। यदि विश्वकर्मा को पृथक् रूप से उत्तरी परम्पराओं का ही प्रतिनिधि माना जाये तो उसके द्वारा लङ्का-नगरी के निर्माण की बात में सङ्गति नहीं बैठती।[१] परन्तु यहाँ पर वाल्मीकि द्वारा विश्वकर्मा को लङ्कापुरी का निर्माता बताकर पुनः यह कहना कि "रावण की नगरी के भवन मय द्वारा निर्मित प्रतीत होते थे" इससे जहाँ विश्वकर्मा की स्थापत्य-परम्परा का विस्तार सूचित होता है, वहीं विश्वकर्मा और मय, दोनों की भिन्न-भिन्न स्थापत्य-परम्पराएँ भी ध्वनित होती हैं। यदि उन दोनों स्थापत्य-विदों की एक ही परम्परा होती तो वाल्मीकि द्वारा स्पष्ट रूप से यह कह दिया जाता कि लङ्कापुरी का निर्माण विश्वकर्मा ने किया था। यहाँ इस कथन की कोई आवश्यकता प्रतीत नहीं होती कि रावण की नगरी के भवन मय द्वारा निर्मित प्रतीत होते थे। अतः सम्भव है कि

---

१. भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ १०, २२ एवं ३२

विश्वकर्मा ने मयासुर की वास्तुशैली का अनुकरण किया हो।* पं० भगवद्दत्त ने दैत्यों या असुरों को अमितप्रज्ञ बताया है। उनके अनुसार वे माया अर्थात् विज्ञान में बहुत योग्य थे।[१]

**अन्य वास्तुशास्त्रीय आचार्य**--पुराणादि प्राचीन ग्रन्थों में सङ्कलित वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं की विस्तृत सूचियों से वास्तुशास्त्र की परम्परा की प्राचीनता स्वत: सिद्ध हो जाती है। यहाँ पर मत्स्यपुराण, अग्निपुराण, बृहत्संहिता, मानसार, सनत्कुमारवास्तुशास्त्र तथा विश्वकर्मवास्तुशास्त्र में प्रदत्त वास्तुविद्याचार्यों के नामों का उल्लेख किया जा रहा है।

---

१. भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृष्ठ १६

* असुर का अभिप्राय केवल आधुनिक समय में प्रचलित राक्षस, पिशाच आदि वैदिक मर्यादा-विहीन जनों से नहीं था अपितु पहले यह शब्द श्रेष्ठ अर्थ (असु+र "मत्वर्थीय=प्राणों वाला अर्थात् बलवान्) का वाचक था। अत: जेन्दावस्ता में असुर = अहुर शब्द श्रेष्ठ देव-वाचक है। भारतीय इतिहास के अनुसार आरम्भ में प्रजापति कश्यप की तीन पत्नियों-दिति, अदिति और दनू आदि से जो सन्तानें उत्पन्न हुईं, वे माता के नाम पर दैत्य, आदित्य और दानव आदि कहलाई। दैत्य ही भारतीय इतिहास में असुर कहे गये हैं। बाद में दानव आदि भी असुरों के सहयोगी बन गये। अदिति के १२ पुत्र आदित्य देव कहे गये हैं-धाता, अर्यमा, मित्र, वरुण, वंश, भग, इन्द्र, विवस्वान्, पूषा, पर्जन्य, त्वष्टा और विष्णु -(वायुपुराण, अध्याय ६६. ६५-६७; अध्याय ६७. ४३-४४)। "देवाश्च वा असुराश्च प्रजापतेर्द्वया: पुत्रा आसन्।" -(ताण्ड्य ब्राह्मण, १८.१.२-भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृष्ठ ४६ से उद्धृत)। इन्हीं से असुरों और देवों के कुलों का आरम्भ होता है। असुर आरम्भ में श्रेष्ठ चरित्रवान् थे। प्रजापति कश्यप ने इनकी श्रेष्ठता और ज्येष्ठता के कारण पृथिवी का शासन इन्हें दिया। "कनीयसा एव देवा ज्यायसा असुरा:।" -(शतपथब्राह्मण, १४.४.१.१)।

"दितिस्त्वजनयत् पुत्रान् दैत्यांस्तात यशस्विन:।"
"तेषामियं वसुमती पुरासीत् सवनार्णवा।।"

-(वाल्मीकि रामायण, अरण्यकाण्ड, सर्ग १४. १५-१६)

"असुराणां वा इयमग्र आसीत्।"

-(तैत्तिरीय संहिता, ६.२.४.२); (तैत्तिरीय ब्राह्मण, ३.२.९.६)

उपर्युक्त सभी वचन असुरों की ज्येष्ठता और श्रेष्ठता की पुष्टि करते हैं, अत: कतिपय विद्वानों की यह आशङ्का कि विश्वकर्मा जो देव अर्थात् दिव्य-गुण-सम्पन्न था वह सामान्य (असुर) का अनुकरण क्यों करेगा? निराधार कल्पना है। यह अवश्य है कि बाद में इनमें पतन हुआ और असुर शब्द इनके निकृष्ट आचरण के कारण निकृष्ट अर्थ का बोधक बन गया।

**मत्स्यपुराण**[1]–मत्स्यपुराण में अठारह वास्तुशास्त्रोपदेशकों की गणना की गई है, जो निम्नलिखित हैं–

| | | |
|---|---|---|
| १. भृगु | ७. नग्नजित् | १३. शौनक |
| २. अत्रि | ८. विशालाक्ष | १४. गर्ग |
| ३. वशिष्ठ | ९. पुरन्दर | १५. वासुदेव |
| ४. विश्वकर्मा | १०. ब्रह्मा | १६. अनिरुद्ध |
| ५. मय | ११. कुमार | १७. शुक्र तथा |
| ६. नारद | १२. नन्दीश | १८. बृहस्पति। |

**अग्निपुराण**[2]–अग्निपुराण में इससे भी विस्तृत सूची दी गई है, जिसमें पच्चीस आचार्यों का परिगणन हुआ है।

| | |
|---|---|
| १. हयशीर्ष (हयशीर्ष-तंत्र) | ७. गालव |
| २. त्रिलोकमोहन (त्रैलोक्यमोहन-तंत्र) | ८. नारद (नारदीय-तंत्र) |
| ३. विभव (वैभव-तंत्र) | ९. सम्प्रश्न |
| ४. पुष्कर (पौष्कर-तंत्र) | १०. शाण्डिल (शाण्डिल्य-तंत्र) |
| ५. प्रह्लाद (प्रह्लाद-तंत्र) | ११. विश्वक (वैश्वक-तंत्र) |
| ६. गर्ग (गार्ग्य-तंत्र) | १२. सत्य (सात्य-तंत्र) |

---

१. भृगुरात्रिर्वसिष्ठश्च विश्वकर्मा मयस्तथा।
नारदो नग्नजिच्चैव विशालाक्षः पुरन्दरः।।
ब्रह्मा कुमारो नन्दीशः शौनको गर्ग एव च।
वासुदेवोऽनिरुद्धश्च तथा शुक्रो बृहस्पतिः।।
अष्टादशैते विख्याताः शिल्पशास्त्रोपदेशकाः।। –मत्स्यपुराण, अध्याय २५२.२-४

२. व्यस्तानि मुनिभिर्लोके पञ्चविंशतिसङ्ख्यया।
हयशीर्षं तन्त्रमाद्यं तन्त्रं त्रैलोक्यमोहनम्।
वैभवं पौष्करं तन्त्रं प्रह्लादङ्गार्ग्यगालवम्।
नारदीयञ्च सम्प्रश्नं शाण्डिल्यं वैश्वकं तथा।।
सत्योक्तं शौनकं तन्त्रं वासिष्ठं ज्ञानसागरम्।
स्वायम्भुवं कापिलञ्चतार्क्षं नारायणीयकम्।।
आत्रेयं नारसिंहाख्यमानन्दाख्यं तथारुणम्।
बौधायनं तथार्षं तु विश्वोक्तं तस्य सारतः।। –अग्निपुराण, अध्याय ३९.२-५

| | |
|---|---|
| १३. शुनक (शौनक-तंत्र) | २०. अत्रि (आत्रेय-तंत्र) |
| १४. वशिष्ठ (वाशिष्ठ-तंत्र) | २१. नरसिंह (नारसिंह-तंत्र) |
| १५. ज्ञानसागर | २२. आनन्द |
| १६. स्वयम्भू (स्वायम्भुव-तंत्र) | २३. अरुण (आरुण-तंत्र) |
| १७. कपिल (कापिल-तंत्र) | २४. बौद्धायन |
| १८. तार्क्ष्य | २५. ऋषि (आर्ष)। |
| १९. नारायण (नारायणिका-तंत्र) | |

**बृहत्संहिता**[1]–

१. वसिष्ठ, २. गर्ग, ३. पराशर, ४. कश्यप, ५. विश्वकर्मा, ६. मय, ७. मनु आदि।

**मानसार**[2]–मानसार में वास्तुविद्याचार्यों की सूची अत्यन्त विस्तृत है। इसमें बत्तीस आचार्यों का परिगणन हुआ है, जिनके नाम निम्नलिखित हैं–

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. विश्वकर्मा | ९. नल | १७. आदिसार | २५. चैत्य |
| २. विश्वेश | १०. मानवित् | १८. विशाल | २६. चित्रक |
| ३. विश्वसार | ११. मानकल्प | १९. विश्वकाश्यप | २७. आवर्य |
| ४. प्रबोधक | १२. मानसार | २०. वास्तुबोध | २८. साधकसारसहित |
| ५. वृत | १३. प्रष्टा | २१. महातंत्र | २९. भानु |
| ६. मय | १४. मानबोध | २२. वास्तुविद्यापति | ३०. इन्द्र |
| ७. त्वष्टा | १५. विश्वबोध | २३. पाराशरीयक | ३१. लोकज्ञ तथा |
| ८. मनु | १६. नय | २४. कालयूप | ३२. सौर। |

१. बृहत्संहिता, अध्याय ५३ तथा ५७

२. विश्वकर्मा च विश्वेच(शः) विश्वसारं (रः) प्रबोधकः।
वृतश्चैव मयश्चैव त्वष्टा चैव मनुर्नलः।।
मानविन्मानकल्पश्च मानसारो बहुश्रुतः।
प्रष्टा च मानबोधश्च विश्वबोधो ना (न) यश्च तथा।।
आदिसारो विशालश्च विश्वकाश्यप ए(श्चै) व च।
वास्तुबोधो महातन्त्रो वास्तुविद्यापतिस्तथा।।
पाराशरीयकश्चैव कालयूपो महाऋषिः (हर्षिश्च)।
चैत्याख्यः चित्रकः आ(श्चा) वर्यः साधकसारसंहितः।।
भानुश्चेन्द्रश्च लोकज्ञः सौराख्यः शिल्पिवित्तमः।
तदेव (ते एव) ऋषयः प्रोक्ता द्वात्रिंशतिः संख्यया।। –मानसार, अध्याय ६८. ५-९

**सनत्कुमारवास्तुशास्त्र**[१] –

| | | | |
|---|---|---|---|
| १. ब्रह्मा | ४. भार्गव | ७. गार्ग्य | १०. भृगु |
| २. इन्द्र | ५. अङ्गिरस | ८. मनु | ११. विश्वकर्मा आदि। |
| ३. यम | ६. गौतम | ९. व्यास | |

**विश्वकर्मवास्तुशास्त्र**[२] –

| | | |
|---|---|---|
| १. अगस्त्य | ६. काश्यप | ११. पालकाप्य |
| २. नन्दी | ७. लोकदर्शक | १२. पुण्डरीक |
| ३. नारद | ८. कात्यायन | १३. दीर्घदर्शी |
| ४. बृहस्पति | ९. मरीचि | १४. पुनर्वसु और |
| ५. तिम्यलोक | १०. चित्रतोयक | १५. योगसार। |

डॉ० शुक्ल ने प्राचीन वास्तुशास्त्रोपदेष्टाओं के सम्बन्ध में विस्तृत विवरण देते हुए उनके द्वारा रचित कतिपय वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों का भी नामोल्लेख किया है।[३]

रूपमण्डन में उपलब्ध लेखानुसार मत्स्यपुराण की सूची की अपेक्षा अग्निपुराण और मानसार की सूचियाँ भ्रष्ट और काल्पनिक हैं तथा इनमें पुनरुक्ति दोष भी है।[४] इन आचार्यों में कुछ ज्ञान-विज्ञान के अधिष्ठाता देव, कुछ वैदिक तथा पौराणिक ऋषि, कुछ असुर और कुछ सामान्य शिल्पज्ञ आचार्य हैं। इस लेख के अनुसार ब्रह्मा*, शिव, अग्नि, सोम-चन्द्र आदि अनेक देवों की गणना वास्तुशास्त्र की अपौरुषेयता सिद्ध करने के लिए की गई है।[५] सम्भव है कि कतिपय देवों के नाम वास्तुशास्त्रोपदेशकों की सूची में सम्मिलित कर लिये गये हों परन्तु ब्रह्मा वास्तुकला का प्रथम प्रवक्ता था,

---

१. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटैक्चर, पृष्ठ ६४
२. अगस्त्यो भगवान्नन्दी नारदश्च महामुनिः। बृहस्पतिस्तिम्यलोकः काश्यपो लोकदर्शकः।।
कात्ययनो महातेजा मरीचिश्चित्रतोयकः। पालकाप्यः पुण्डरीको दीर्घदर्शी पुनर्वसुः।।
योगसारो महातेजा ये चान्ये मुनिपुङ्गवाः। –विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, अध्याय १८.१-३
३. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटैक्चर, पृष्ठ ६४-६७
४. देवतामर्ति प्रकरण, भूमिका, पृष्ठ १०-रूपमण्डन, भूमिका, पृष्ठ ३ से उद्धृत।
५. कन्ट्रिब्यूशन् टू ए बिब्लिआग्रफि ऑफ् इण्डियन् आर्ट् एण्ड् एस्थेटिक्स् (हरिदास), पृष्ठ ५४-७३-उद्धरण, वही, पृष्ठ ३
* ब्रह्मा से महदण्ड, हिरण्यगर्भ-ब्रह्मा या कमलोद्भव ब्रह्मा में से किसका ग्रहण किया गया है, यह अस्पष्ट है तथापि सम्भव है अब्जयोनि ब्रह्मा का ही ग्रहण किया गया हो। भगवद्दत्त ने अनेक प्रमाणों से यह स्पष्ट किया है कि हिरण्यगर्भ ब्रह्मा (प्रतितामह) और कमलासन ब्रह्मा में सूक्ष्म अन्तर है। विस्तृत विवरण के लिए द्रष्टव्य : भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग-२, पृष्ठ १२-२७

जिसकी चर्चा की जा चुकी है और समराङ्गणसूत्रधार के अनुसार विश्वकर्मा ने अपने मानस-सुत 'जय' द्वारा पूछे गये वास्तुकला विषयक विभिन्न प्रश्नों के उत्तर देने के प्रसङ्ग में कहा है-"इनका उत्तर सुनो जो पितामह ब्रह्मा ने हमको बताया है।"[१] असुरों के सम्बन्ध में भी पहले उल्लेख किया जा चुका है। रूपमण्डन में प्राप्त लेख में व्यास, वसिष्ठ, भृगु आदि ऋषियों के साथ मनु का नामोल्लेख हुआ है[२] जिसके सम्बन्ध में वास्तुशास्त्र से कोई सम्बन्ध न होने का उल्लेख हुआ है, परन्तु यहाँ किस मनु का नामोल्लेख किया गया है, यह स्पष्ट नहीं है। विवस्वान् का पुत्र (वैवस्वत) मनु राजा होने के साथ-साथ नगर-निर्माता भी थे। अयोध्या-नगरी को मनु ने ही बसाई थी।[३] डॉ० शुक्ल ने भृगु के सम्बन्ध में लिखा है कि-आजकल की भारतीय विज्ञान-परम्परा में 'भृगु' शब्द एक प्रकार से प्राचीन कारीगरों के लिए बताया गया है, जिनको हम आजकल स्वर्णकार, लौहकार, रथकार के रूप में परिकल्पित कर सकते हैं।[४] लेखक के अनुसार जिन ऋषियों के नाम पर वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ मिलते हैं वे निम्नलिखित हैं-

अगस्त्य (अगस्त्य सकलाधिकार और अगस्त्य प्रोक्त सर्वाधिकार); कश्यप (काश्यपशिल्प); नारद (नारदसंहिता तथा नारद-शिल्प); नग्नजित् (चित्रलक्षण); पिशुन (वास्तुविधान); पराशर (वास्तुशास्त्र); विश्वकर्मा (विश्वकर्मशिल्प, विश्वकर्मपद्धति, विश्वकर्मपुराण, विश्वकर्मप्रकाश, विश्वकर्ममत, विश्वकर्मशास्त्र, विश्वकर्मसंहिता, विश्वकर्मवास्तुशास्त्र आदि); सनत्कुमार (सनत्कुमार-वास्तु); सिद्धार्थ (सिद्धार्थपृच्छा और सिद्धार्थसंहिता) आदि।[५] ये प्रायः वैदिक अथवा पौराणिक ऋषि या शास्त्रप्रणेता हैं किन्तु इनके नाम पर लिखे गये अधिकांश ग्रन्थ गुप्तोत्तर और पूर्वमध्यकालीन या इससे भी परवर्ती प्रतीत होते हैं।[६] डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने विश्वकर्मा के नाम से प्रचलित ग्रन्थों के विषय में यही मत व्यक्त किया है।[७] अस्तु,

---

१. "वदतो मेऽवधानेन श्रृणु यद् ब्रह्मणोदितम्।" -समराङ्गणसूत्रधार, अध्याय ४.३

२. रूपमण्डन, पृष्ठ ३

३. मनुना मानवेन्द्रेण यापुरी निर्मिता स्वयम्।। -वाल्मीकि रामायण, बाल्काण्ड, सर्ग ५.६

४. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र, (भवन-निवेश, प्रथम-भाग, हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ५

५. कन्ट्रिब्यूशन टू ए बिब्लिआग्रफि ऑफ् इण्डियन् आर्ट् एण्ड् एस्थेटिक्स् (हरिदास), पृष्ठ ५४-७३-रूपमण्डन, भूमिकापृष्ठ ३ से उद्धृत।

६. रूपमण्डन, भूमिका पृष्ठ ३-४

७. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, भाग १, पृष्ठ ६०४

वास्तुशास्त्रोपदेशक आचार्यों के संक्षिप्त नाम-कीर्तन के पश्चात् पुनः इसके प्रारम्भिक काल की ओर लौटते हैं।

भारत में अन्य कलाओं या सामाजिक व्यवस्थाओं की भाँति वास्तुकला का उद्भव भी वैदिक युग में ही माना जाता है। कुछ लोगों को यह आशङ्का है कि वैदिक काल में लोगों को भवन-निर्माण की प्रविधि की जानकारी नहीं थी, किन्तु वैदिक वाङ्मय का परिशीलन इस धारणा को निर्भ्रान्त बना देता है। विद्वानों ने भारतीय वास्तुकला का आदिम प्रारूप यज्ञ-वेदी को माना है। इस सम्बन्ध में प्रो० सी० लाल एवं डॉ० पी० कुमार के अनुसार जब ऋषि एवं सद्गृहस्थ वैदिक ऋचाओं का उच्चारण करते हुए यज्ञ करते थे, उस समय यज्ञ-वेदी एक निश्चित माप की ईंटों की एक निश्चित संख्या के प्रयोग द्वारा एक निश्चित लम्बाई-चौड़ाई तथा ऊँचाई की बनाई जाती थी।[१] इसी प्रकार डॉ० शुक्ल ने भूमि-चयन, भूमि-शोधन, इष्टिका-क्रम एवं इष्टिका-चयन आदि को यज्ञ-वेदियों का अनिवार्य अङ्ग बताते हुए भारतीय स्थापत्य का जन्म इसी से माना है।[२] पं० रघुनन्दन शर्मा के अनुसार आर्य-जनों के भवन बहुत सादे मिट्टी और फूस के होते थे परन्तु यज्ञ-मण्डप को बहुत दृढ़ और सुन्दर बनवाते थे। साधारण यज्ञशालाएँ फूस की ही होती थीं परन्तु जहाँ निरन्तर यज्ञ होते थे, ऐसी यज्ञशालाएँ प्रत्येक ग्राम में ईंटों से बनती थी।[३] परन्तु यह विचारणीय विषय बन जाता है कि यज्ञों का प्रादुर्भाव कब हुआ?

पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार द्रव्यमय यज्ञों का प्रादुर्भाव कृतयुग और त्रेतायुग के संधिकाल में हुआ, क्योंकि यज्ञों की प्रकल्पना सृष्टि-यज्ञ का ज्ञान कराने के लिए की गई थी और सृष्टि के प्रारम्भ में सभी मानव सत्त्वगुण-सम्पन्न साक्षात्कृतधर्मा परावरज्ञ परम मेधावी थे।[४] अतः उन्हें यज्ञ करने की आवश्यकता नहीं थी। इस काल में सारा जगत् ब्राह्ममय था।[५] यज्ञों के सम्बन्ध में साङ्ख्यायन आरण्यक में लिखा है-

---

१. भारतीय वास्तुकला, पृष्ठ ९
२. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र, (भवन-निवेश, प्रथम भाग, हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ ३१
३. वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ २९६-२९७
४. (क) "साक्षात्कृतधर्माण ऋषयो बभूवुः।" -निरुक्त, १.२०
(ख) "पुरा खलु अपरिमित-शक्ति प्रभावीर्य......धर्मसत्त्वशुद्धतेजसः पुरुषा बभूवः।"
-पराशकृत ज्योतिषसंहिता, उत्पलकृत बृहत्संहिता, टीका, पृष्ठ १५
-श्रौत-यज्ञ-मीमांसा, पृष्ठ १३५ से उद्धृत।
५. "सर्वं खलुब्राह्ममिदं जगत्।"-महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय १८८.१०

**"तद्धस्मैत्पूर्व विद्वांसोऽग्निहोत्रं न जुह्वांचक्रुः।"** –४.५

अतएव कहीं पर यज्ञों की उत्पत्ति कृतयुग के अन्त में और कहीं पर त्रेतायुग के आरम्भ में कही गई है।[१] इस आधार पर भारतीय स्थापत्य का जन्म त्रेता-युग ठहरता है। पुराणों तथा वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में वास्तु-भूतोद्भव का जो वर्णन प्राप्त होता है जो कि भवनाधारभूत भूमि पर निर्मेय भवन का रूपरेखाचित्र है,उसका काल भी त्रेतायुग ही बताया जाता है। समराङ्गणसूत्रधार में भी कृतयुग में भवनों का अभाव बताया गया है। भगवद्दत्त के मतानुसार भी पहले (कृतयुग) में गृह-निर्माण नहीं था, ग्रामों और नगरों का अभाव था।[२] अतः यह कहा जा सकता है कि यद्यपि वेदों में गृहों, नगरों आदि का उल्लेख हुआ है परन्तु वर्ण-व्यवस्था या आश्रम-व्यवस्था की भाँति वेदों में इस सम्बन्ध में उल्लेख होते हुए भी एक निश्चित विधि के अनुसार गृह-निर्माण का प्रचलन नहीं था। परन्तु आवास मानव की मूलभूत आवश्यकता है, उसे आत्मरक्षा के लिए किसी न किसी आश्रय की आवश्यकता थी। अतः 'वसन्ति प्राणिनो यत्र' के आधार पर जहाँ वह रहता था, वही उसका आवास था। पं० गङ्गाप्रसाद उपाध्याय ने भी इसी प्रकार का विचाराभिव्यक्त किया है। उनके अनुसार सर्वप्रथम उत्पन्न व्यक्तियों का निवास-स्थान कुछ काल पर्यन्त गुफाएँ रही होंगी, क्योंकि गृहनिर्माण-कला के विकास में कुछ समय तो अवश्य लगा होगा।[३]

निःसन्देह भारतीय इतिहास में वैदिक युग का स्थान अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं परन्तु

---

१. (क) इदं कृतयुगं नाम कालः श्रेष्ठः प्रवर्तितः।
अहिंस्या यज्ञपशवो युगेऽस्मिन्न तदन्यथा।। –महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ३४०.८२
(ख) "त्रेतादौ केवला वेदा यज्ञा वर्णाश्रमास्तथा।" –वही, शान्तिपर्व, अध्याय २३८.१४
(ग) "त्रेतायुगे विधिस्त्वेष यज्ञानां न कृते युगे।" –वही, शान्तिपर्व, अध्याय १३२. ३२
(घ) "यथा त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्।" – वायुपुराण, अध्याय ५७. ८९
(ङ) "कथं त्रेतायुगमुखे यज्ञस्यासीत् प्रवर्तनम्।" –मत्स्यपुराण, अध्याय ४२. ९
(च) "तदेतत् सत्यं मन्त्रेषु कर्माणि कवयो यान्यपश्यंसतानि त्रेतायां बहुधा संततानि।"
-मुण्डुकोपनिषद्, १.२.१
(छ) त्रेतायां वा युगे प्रयाषः प्रवृत्ताः।" –शाङ्करभाष्य, मुण्डुकोपनिषद्, १.२.१
पं० युधिष्ठिर मीमांसक के अनुसार उपर्युक्त प्रमाणों की पारस्परिक सङ्गति से उपर्युक्त परिणाम (कृतयुग और त्रेतायुग के संधिकाल में यज्ञों का प्रादुर्भाव) ही निकलता है।
–श्रौत यज्ञमीमांसा, पृष्ठ १४९

२. भारतीय संस्कृति का इतिहास, पृष्ठ ३

३. वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ १६३

वैदिक काल के सम्बन्ध में विद्वद्वर्ग एकमत नहीं है। विद्वानों का एक बहुत बड़ा वर्ग वैदिक काल का अभिप्राय इस सर्ग के प्रारम्भिक काल को मानता है, जबकि आधुनिक विद्वान् वैदिक युग से अभिप्राय उस काल से लेते हैं, जब वैदिक साहित्यों की रचना हुई और इतिहास-लेखन-क्रम में वैदिक काल को सिन्धु-घाटी-सभ्यता के पश्चात् रखा जाता है। परन्तु वैदिक काल से क्या अभिप्राय है? यदि वैदिक काल का अभिप्राय वेदों का रचना-काल से है तो वेदों की रचना कब हुई? यह एक विवादित विषय है।

वस्तुतः वैदिक काल-विषयक विवाद वेदों के सम्बन्ध में पौरुषेय-अपौरुषेय विचारधारा के कारण है। यदि वेदों को अनादि और अपौरुषेय मान लिया जाये तो उनका प्रयोग इतिहास के लिए नहीं किया जा सकेगा। ऐसी अवस्था में वैदिक युग इतिहास के उस काल को कहा जाएगा, जिस काल में मनुष्यों का जीवन वेदों की शिक्षा के अनुरूप था। प्रो० सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने वैदिक ऋषियों और पुराणों में वर्णित वंशावलियों के तुलनात्मक आधार पर कहा है कि –जिस काल में ऋचाओं का निर्माण या दर्शन हुआ उसी को भारतीय इतिहास में वैदिक युग कहा जाता है, जो कि वैवस्वत मनु से लेकर राजा शान्तनु (महाभारत युद्ध से दो पीढ़ी पूर्व) तक का काल था।[१] परन्तु महाभारत-युद्ध का समय भी विवाद-ग्रस्त है। भारतीय परम्परा के अनुसार यह युद्ध ३१०२ ई०पू० लड़ा गया परन्तु आधुनिक विद्वानों को यह काल स्वीकार्य नहीं है। उनके अनुसार इसका काल १००० से १२००० ई०पू० के लगभग था। कतिपय विद्वान् इसका काल लगभग १५०० ई०पू० मानते हैं।

**वेदों का रचना-काल**–वेदों को अनादि और अपौरुषेय मानने पर उसके रचनाकाल के सम्बन्ध में विचार-विमर्श करना निरर्थक है तथापि इनके रचना-काल के सम्बन्ध में प्रमुखतया दो मतों का उल्लेख किया जा सकता है–(क) पाश्चात्य मत तथा पौर्वात्य या भारतीय मत।

**पाश्चात्य मत**–उन्नीसवीं शताब्दी में पहले मैक्समूलर ने यह विचार व्यक्त किया था कि ऋग्वेद का रचना-काल १२०० ई०पू० है तथा बाद में पुनः यह संभावना व्यक्त की है कि ऋग्वेद की रचना का समय ३००० ई०पू० भी हो सकता है।[२] इसी प्रकार बाद में मैक्डानल्ड, कीथ, बुह्लर, विन्टर्निट्ज तथा जैकोबी आदि विद्वानों ने भी इस दिशा में प्रयत्न किया, जिनमें विन्टर्निट्ज ने ऋग्वेद का रचना-काल २५०० ई०पू० तथा जैकोबी ने ३००० से ४००० ई०पू० तक माना है।[३]

---

१. प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ २०

२. वही, पृष्ठ ७७

३. आर्योदय (हिन्दी मासिक पत्रिका), मार्च २०, १९६६, पृष्ठ १२३

**भारतीय मत**–आधुनिक भारतीय विद्वानों ने ज्योतिष तथा भूगर्भ-शास्त्र आदि विज्ञानों का सहारा लेकर वैदिक साहित्य के रचना-काल को उपर्युक्त पाश्चात्य विद्वानों द्वारा निर्धारित समय से बहुत अधिक पुराना माना है। शङ्कर बालकृष्ण दीक्षित ने शतपथब्राह्मण का रचना-काल ३००० ई०पू० के लगभग प्रतिपादित किया है, अतः स्पष्ट है कि ऋग्वेद का काल इससे पूर्व है।[१] अन्य विद्वानों में लोकमान्य तिलक ने वेदों का रचना-काल ६००० से १०,००० ई०पू०, अविनाशचन्द्र दास ने २०,००० ई०पू० तथा डी०ए० मुखोपाध्याय ने २५,००० ई०पू० स्वीकार किया है। इन विद्वानों के अतिरिक्त अन्य भारतीय विद्वानों ने भी ज्योतिष और भूगर्भ-शास्त्र के प्रमाणों के आधार पर वेदों का रचनाकाल अत्यन्त प्राचीन सिद्ध किया है, जो कि तद्-तद्विषयक ग्रन्थों में ही द्रष्टव्य हैं, परन्तु भूगर्भ-शास्त्र के आधार पर जिन विद्वानों ने वेदों का रचनाकाल निश्चित करने का प्रयास किया है उनमें भी मतभिन्नता है। प्रो० सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने भूगर्भ-शास्त्रियों द्वारा वर्णित भौगोलिक दशाओं का उल्लेख करते हुए लिखा है कि ऋग्वेद को बने न्यूनातिन्यून २७,००० वर्ष हो चुके है, यह मानना युक्तिसङ्गत होगा।[२]

अस्तु, यह विषय इतना विवाद-ग्रस्त है कि किसी भी मत को पूर्णतया स्वीकार्य समझना कठिन है, परन्तु इतना निश्चित है कि वेद विश्व-साहित्य के प्राचीनतम ग्रन्थ हैं। विगत वर्षों में नृतत्त्व--शास्त्र और इतिहास के क्षेत्र में जो नवीन खोज हुई है, उनसे मानव-सभ्यता के आदि युग का समय बहुत प्राचीन प्रामाणित होता जा रहा है और साथ में वैदिक युग को भी अधिक प्राचीन प्रतिपादित करने की प्रवृत्ति बढ़ती जा रही है।

यहाँ हमारा उद्देश्य वेदों को पौरुषेय या अपौरुषेय सिद्ध करना या उनका काल-निर्धारण करना नहीं है परन्तु भारतीय सभ्यता और अन्य विविध कलाओं की भाँति वास्तुकला का उदय भी वैदिक काल से ही माना जाता है अतः वैदिक काल के सम्बन्ध में किञ्चिद् विचाराभिव्यक्त आवश्यक समझा गया।

एक ओर भारत के प्राचीनतम इतिहास को जानने के लिए जहाँ वैदिक साहित्य एक महत्त्वपूर्ण साधन है, वहीं दूसरी ओर पुरातत्त्व-सम्बन्धी खोज द्वारा भी प्राचीन युग के जीवन पर अच्छा प्रकाश पड़ता है। डॉ०जयप्रकाश खण्डेलवाल ने सिन्धु-घाटी की स्थापत्यकला को अत्यन्त विकसित बताते हुए लिखा है कि "इससे यह सहज ही

१. प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ ७८
२. वही, पृष्ठ ७९

अनुमान लगा सकते हैं कि भारतीय वास्तुकला का उद्भव सिन्धु-सभ्यता के युग से बहुत पूर्व सम्भवतः वैदिक युग में हो चुका था।"[१] वेदों के प्राचीनतम साहित्य होने तथा इस कथन के आधार पर और अनेक मनीषियों के साथ विचार-विमर्श करने पश्चात् यहाँ सिन्धु-उपत्यका की स्थापत्यकला से पूर्व वैदिक साहित्य में उपलब्ध वास्तुकला का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया गया है। यहाँ पर ध्यातव्य है कि वैदिक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले ब्राह्मणग्रन्थों का रचना-काल भी पूर्वापर माना जाता है। सूत्रग्रन्थ भी बहुत बाद में रचित माने जाते हैं, तथापि इस विवाद में न पड़ते हुए सुविधा की दृष्टि से आलोच्य वैदिक साहित्य को एकत्र ही रखा गया है और साहित्यिक आधार पर तथा पुरातात्त्विक साक्ष्य के आधार पर भारतीय वास्तुकला के इतिहास को तीन उपखण्डों में विभाजित किया गया है, जो निम्न प्रकार से है–

(अ) वैदिक वाङ्मय, (आ) सैन्धव स्थापत्य और (इ) लौकिक साहित्य। लौकिक साहित्य के अन्तर्गत आने वाले स्थापत्यग्रन्थों को स्थापत्य-विशेष कहा जा सकता है, जबकि वैदिक साहित्य और कतिपय लौकिक साहित्य से सम्बन्धित ग्रन्थों को अस्थापत्य विशेष कह सकते हैं, क्योंकि इनमें यत्र-तत्र प्रसङ्ग-वश स्थापत्यकला का उल्लेख हुआ है।

## वैदिक वाङ्मय

वैदिक वाङ्मय एक विशाल वाङ्मय है, जिसके अन्तर्गत संहिताएँ, ब्राह्मणग्रन्थ, आरण्यकग्रन्थ, उपनिषद् और वेदाङ्ग के सूत्र आदि आते हैं, जो कि स्थापत्य के विविध अङ्गों पर समुचित प्रकाश डालते हैं। संहिताएँ चार हैं–ऋग्वेद, यजुर्वेद, सामवेद और अथर्ववेद। इन चारों वेदों में विद्यमान विषयों को स्पष्ट करने के लिए प्राचीन काल में ऋषियों ने पृथक्-पृथक् शास्त्र की रचना कर एक-एक विषय का विस्तार से विवेचन किया। इस तरह वैदिक वाङ्मय का विशाल साहित्य-भण्डार बन गया। वेदों में विद्यमान चिकित्साशास्त्र के विस्तृत विवेचन के लिए आयुर्वेद; धनुर्विद्या के ज्ञान के लिए धनुर्वेद; गानविद्या की विस्तृत व्याख्या के लिए गान्धर्ववेद और भौतिक-विज्ञान के लिए अथर्ववेद की रचना की गई, जो कि उपवेद के नाम से जाने जाते हैं। कतिपय विद्वान् अथर्ववेद के उपवेद के रूप में अथर्वेद के अतिरिक्त स्थापत्यवेद भी स्वीकार करते हैं जो कि स्थापत्यकला की प्राचीनता के साथ-साथ उसकी महत्ता का द्योतक है।

**संहिताएँ**–संहिताओं के अनुशीलन से विदित होता है कि तत्कालीन समाज

१. प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य, पृष्ठ २११

पूर्णतया सुसंस्कृत था, उसने जीवन को सुखी बनाने के लिए गृहनिर्माण-कला का विकास किया था।

**गृह**–संहिताओं में सर्वप्रथम ऋग्वेद आता है। ऋग्वेद में गृह शब्द निवास या घर के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[१] यह शब्द अथर्ववेद[२] और ब्राह्मणग्रन्थों[३] में भी प्रयुक्त हुआ है। गृह के लिए ऋग्वेद में अन्यत्र अनेक पर्याय उपलब्ध होते हैं। जैसे–गय, धामन्, दम, सदस्, सदन, आयतन, क्षय, ओकस्, निवेशन, वेश्म आदि।[४]

ऋग्वेद में '**वास्तोष्पति**' शब्द का उल्लेख हुआ है[५] जिसका शाब्दिक अर्थ है–वास्तु (घर) का पति (स्वामी)। विद्वानों ने इस शब्द की व्याख्या अपने-अपने ढंग से की है। कोशग्रन्थों में इसका अर्थ 'इन्द्र' बताया गया है।[६] डॉ० शुक्ल[७] ने वास्तोष्पति का अर्थ भवन-स्थल का 'आराध्य देवता' तथा गङ्गाप्रसासद उपाध्याय[८] ने '**ईश्वर**' और '**प्रधान शिल्पी**' किया है, जिससे घर में रहने वाले द्विपदों और चतुष्पदों के लिए सुख-सौभाग्य आदि की प्रार्थना की गई है। महर्षि दयान्द ने इसका अर्थ घर में निवास करने वाला 'प्रमुख व्यक्ति' या 'घर का रक्षक' किया है।[९] परन्तु हमारी दृष्टि से 'वास्तोष्पति' का अर्थ '**ईश्वर**' ही युक्ति-सङ्गत प्रतीत होता है क्योंकि वह विश्व ब्रह्माण्ड रूपी वास्तु का स्वामी है।

ऋग्वेद में इस प्रकार के गृह-निर्माण का निर्देश प्राप्त होता है, जिसमें सूर्य की किरणें बहुमात्रा में आएँ।[१०] इससे यह स्पष्ट है कि शालाओं अथवा गृहों का मुख प्रायः

१. "सुरणं गृहे ते"-ऋग्वेद, ३.५३.६; "दाशुषो गृहे" -ऋग्वेद, ४.४९.६; ८.१०.१ आदि।
२. "वरुण गृहः"-अथर्ववेद, ७.८३.१; "गृहे वसतु"-अथर्ववेद, १०.६.४
३. ऐतरेय ब्राह्मण, ८.२१ आदि।
४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ४७
५. (क) "वास्तोष्पते प्रति जानीह्यस्मान्स्व वेशो अनमीवो भवा नः।"
   (ख) "वास्तोष्पते प्रतरणो न एधि गयस्फानो गोभिरश्वेभिरिन्दो।"
   (ग) "वास्तोष्पते शग्मया संसदा ते सक्षीमहि रण्वया गातुमत्या।" -ऋग्वेद, ७.५४.१-३
   (घ) अमीवहा वास्तोष्पते विश्वा रूपाण्यविशन्। सखा सुशेव एधि नः।। -वही, ७.५५.१
६. (क) पद्मचन्द्रकोश, पृष्ठ ३४८
   (ख) शब्दार्थभानु, पृष्ठ २८७
   (ग) शब्दस्तोममहानिधि, पृष्ठ १०२३
   (घ) हिन्दीशब्दसागर, खण्ड ९, पृष्ठ ४४४०
७. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ६८
८. वैदिक संस्कृति, पृष्ठ १०५ एवं १६५
९. द्रष्टव्य : ऋग्वेद, १०.५४.१-३ तथा १०.५५.१ हिन्दी भाष्य, पृष्ठ १०९-११
१०. "तां व वास्तून्युश्मसि गमध्यै यत्र गावो भूरिशृङ्गा अयासः।" -ऋग्वेद, १.१५४.६

पूर्व-दिशा की ओर होता था। डॉ० अग्रवाल ने शतपथ ब्राह्मण को उद्धृत करते हुए घर के मुहार के सम्बन्ध में लिखा है कि देवताओं को पूर्व-पश्चिम का विन्यास अधिक रुचिकर था और मनुष्यों के घरों में उत्तर-दक्षिण का विन्यास अधिक पसन्द किया जाता था[1] और गृहों के उत्तर-दक्षिण के विन्यास में प्रायः पूर्व-दिशा में ही घर का मुख होता है।

अथर्ववेद में दो शाला*-सूक्त हैं जो कि शाला या गृह-निर्माण के विवरणों की दृष्टि से अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। इनसे वैदिक युग के गृहों का एक सुन्दर और स्पष्ट चित्र हमारे समक्ष उपस्थित होता है। उस युग में शाला के सम्बन्ध में वैदिक भावना बड़ी उन्नत थी। तीसरे सूक्त के प्रथम मन्त्र में गृहनिर्माण का निर्देश देते हुए कहा गया है कि –इस प्रकार के गृह का निर्माण करना चाहिए जो सब ओर से उत्तम उपमायुक्त हो और जिसे देखकर विद्वज्जन सराहना करें। एक द्वार के सामने दूसरा द्वारा हो तथा कोण और कक्ष भी सम्मुख हों। वह शाला चारों ओर के परिमाण से समचौरस हो और उस घर के द्वार चारों ओर के वायु को स्वीकार करने वाले हों तथा उसके बन्धन दृढ़ हों।[2] अथर्ववेद में गृह-सम्बन्धी इस वर्णन से स्पष्ट है कि उस समय घरों का निर्माण एक निर्धारित परिमाप के अनुसार किया जाता था। इसमें ही एक अन्य स्थान पर कहा गया है कि हे शाले! तू हमारे लिए ध्रुव होकर रह। तू घोड़ों और गौवों से भरी-पूरी हो। तुझमें मधुवाणी सुनाई दिया करे। दूध, घी और जल की धाराएँ तुझमें बहती रहा करें। तेरे द्वारा हमें महान् सौभाग्य प्राप्त हो।[3] क्योंकि वैदिक आर्य अपनी आजीविका के

१. "प्राचीनवंशं हविर्धानमेतद्वै देवानां निष्केवल्यं यत् हविर्धानं उदीची वै मनुष्याणां दिक्.......।" –शतपथब्राह्मण ३.६.१.२३, भारतीय कला, पृष्ठ ६०
२. अथर्ववेद, ९.३.१
३. इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय।। –वही, ३.१२.२

* वेद में 'शाला' शब्द से अभिप्राय 'घर' है। अमरकोश में भी 'शाला' शब्द की गणना गृह के २० पर्यायवाची शब्दों में हुई है (काण्ड २, वर्ग २ 'पुरवर्ग')। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार यह शब्द मूलतः वैदिक शब्द था, जो घर के लिए प्रयुक्त होता था परन्तु पाणिनि-काल में इसका प्रयोग व्यापक रूप से दिखाई देता है (पाणिनि-कालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १३९)। डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री ने भी इसी प्रकार से कहा है। उनके अनुसार (पतञ्जलि-काल में) सामान्यतया इस शब्द का प्रयोग किसी विशिष्ट कार्य-हेतु निश्चित घर के लिए होता था। जैसे-गोशाला,दण्डियतीशाला आदि। यह बहुत छोटा छप्पर का घर होता था और गृह, शाला से बड़ा होता था परन्तु सर्वदा ऐसा नहीं होता था। इसे सभा का पर्याय भी माना जाता था। (पतञ्जलि-कालीन भारत, पृष्ठ १८०-८१)। समराङ्गणसूत्रधार में शाला की परिभाषा देते हुए कहा गया है कि जो घर सब तरफ से छन्न हो उसे शाला कहते हैं-**गृहमेकं तु यच्छन्नं सर्वं शालेति सा स्मृता।**" –(अध्याय २२. १९)।

लिए प्रधानतया खेती और पशुपालन पर निर्भर रहते थे, अतः उनके घरों में पशु भी बड़ी संख्या में रहा करे थे। उनकी शालाएँ अश्वों तथा गौवों से परिपूर्ण रहती थीं और घृत की धाराएँ बहती रहती थीं। इस प्रकार के गृहों में उन्हें यह सोचकर आनन्द मिलता था कि उनका घर अन्न और दूध के भण्डारों से भरा हुआ है।

वैदिक युग के गृहों में अनेक प्रकोष्ठ हुआ करते थे, जिन्हें भिन्न-भिन्न प्रयोजनों के लिए प्रयोग किया जाता था। वैदिक काल में प्रचलित गृहनिर्माण की यह योजना परवर्ती भारतीय गृह या प्रासादनिर्माण की परम्परा में निरन्तर चलती रही। अथर्ववेद के एक मन्त्र में चार प्रकार के प्रकोष्ठों का उल्लेख हुआ है[१], जिनमें से प्रथम-हविर्धान या भण्डारगृह, जिसमें याज्ञिक कर्मकाण्ड के लिए आवश्यक वस्तुएँ और गार्हस्थ्य जीवन के लिए उपयोगी विविध सामग्री आदि सञ्चित करके रखी जाती थी। आधुनिक समय में भी घरों में भण्डारगृह (Store) के नाम से अलग कक्ष होता है, जिसमें विभिन्न वस्तुएँ रखी जाती हैं। द्वितीय-अग्निशला के रूप में वह कक्ष था, जिसमें अग्नि का आधान किया जाता था। वैदिक युग में गृहस्थ गार्हपत्य अग्नि को कभी बुझने नहीं देते थे। इसी प्रयोजन से वे अपने घर में एक ऐसा पृथक् कक्ष रखते थे, जिसमें अग्नि सदैव प्रज्वलित रहती थी। कालान्तर में यही अग्निशाला राजप्रासादों में देवगृह कही जाने लगी। यहाँ पर राजा, ऋषि-मुनियों या पुरोहित आदि अतिथियों का स्वागत करता था।[२] तृतीय-'पत्नीनां सदनम्' अर्थात् स्त्रियों का पृथक् कक्ष होता था, बाद में उसी की संज्ञा अन्तःपुर हुई। चतुर्थ-सदस् या बैठक थी, जिसे सभा भी कहा जाता था। बाद में इसी सभा को आस्थान-मण्डप भी कहा गया है। यह राजप्रासादों का वह भाग होता था, जहाँ पर दरबार और अतिथियों का स्वागत किया जाता था।[३] वैदिक युग में इन उपर्युक्त कक्षों के अतिरिक्त, गौ, बैल, घोड़े पशुओं के लिए भी पृथक् स्थान होता था, जहाँ पर उनकी देखभाल समुचित रूप से की जाती थी।

ऋग्वेद में पूर्वोक्त शब्दों के अतिरिक्त घर के लिए गृह,[४]

---

१. हविर्धानमग्निशालं पत्नीनां सदनं सदः।
सदो देवानामसि देवि शाले।।-अथर्ववेद, ९.३.७

२. भारतीय कला, पृष्ठ ५७

३. वही, पृष्ठ ५७

४. (क) "......कल्याणीर्जाया सुरणं गृहे ते।" -ऋग्वेद, ३.५३.६
(ख) "कदा त उक्था सधमाद्यानि कदा भवन्ति सख्या गृहे ते।" -वही, ४.३.४
(ग) " ......दाशुषो गृहे।" -वही, ४.४९.६
(घ) "पुरश्चन्द्रं यजतं विश्वधायसं दमूनसं गृहपतिं वरेण्यम्।।"

सद्म,[१] प्रसद्म, दीर्घप्रसदम्[२] आदि शब्दों का प्रयोग हुआ है जिससे यह विदित होता है कि वैदिक काल में छोटे तथा बड़े घर भी बनाये जाते थे। एक स्थान पर हर्म्य* शब्द भी आया है जिसका अभिप्राय महल या विशाल भवन प्रतीत होता है।[३] ऋग्वेद में एक ऐसे 'बृहन्तमान' (जिसका माप या परिमाण बहुत बड़ा हो) का वर्णन हुआ है, जिसमें सहस्र द्वार थे।[४] इसमें अतिशयोक्ति हो सकती है परन्तु इससे इतना तो अवश्य स्पष्ट हो जाता है कि वैदिक युग में बहुत बड़े-बड़े भवनों का निर्माण होता था। इसी प्रकार अन्यत्र राजाओं और शासकों की सहस्र स्तम्भों वाली बड़ी-बड़ी सभाओं[५] तथा भवनों का उल्लेख पाया जाता है।[६]

---

"................शोचिष्केशं गृहपतिं नि षेदिरे।" -वही, ५.८.१-२

(ङ) "सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते।।" -वही, ७.८८.५

(च) "गृहेऽत आ यातमश्विना।।" -वही, ८.१०.१

(छ) "......गन्तारा दाशुषो गृहम्।" - वही, ८.२२.३

(ज) "यददो दिवो अर्णव इषो वा मदथो गृहे।" -वही, ८.२६.१७

(झ) "ते गृहासो घृतश्चुतो भवन्तु ......।।" वही, १०.१८.१२

(ञ) ".......यदयात्सूर्या गृहम्।।"

"गृहानाच्छ गृहपत्नी यथासो वशिनी त्वं विदधमा वदासि।।"-वही, १०.८५.१०;२६ आदि।

१. "अर्हन्नग्ने पैजवनस्य दानं होतेव सद्म पर्येभि रेभन्।।" -वही, ७.१८.२२

२. "यत्स्थो दीर्घप्रसद्मनि यद्वादो रोचने दिवः।" -वही, ८.१०.१

३. "......यथेदं हर्म्यं तथा।।" - वही, ७.५५.६

४. "वहन्तं मानं वरुण स्वधावः सहस्रद्वारं जगमा गृहं ते।।" -वही, ७.८८.५

५. राजानावनभिद्रुहा ध्रुवे सदस्युत्तमे। सहस्रस्थूण आसते।। -वही, २.४१.५

६. "राजाना क्षत्रमहृणीयमाना सहस्रस्थूणं बिभृथः सह द्वौ।" -वही, ५.६२.६

* वेद में हर्म्य शब्द का अर्थ घर, घर के किसी सुनिश्चित भाग या विशाल भवन है, यह स्पष्ट रूप से नहीं कहा जा सकता। विद्वानों ने इसका अर्थ भिन्न-भिन्न किया है। स्वामी दयानन्द ने हर्म्य का अर्थ 'मनोहर गृह' (ऋग्वेद ७.५५.६, हिन्दी भाष्य, पृ० ९१२) और डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल ने घर की ऊपरी मञ्जिल या अट्टालिका किया है (प्राचीन भारतीय एवं वास्तु कला पृष्ठ ४७-४८)। अमरकोश के अनुसार हर्म्य आदि पद से स्वस्तिक, अट्टलिक आदि का सङ्ग्रह है-**हर्म्या ( दि धनिनां वासः )**-काण्ड २, वर्ग २ 'पुरवर्ग'। मानसार और मयमत के १९वें अध्याय में यह शब्द घर के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। समराङ्गणसूत्रधार में गृह के ऊपर की भूमि को हर्म्य कहा गया है-"**गृहस्योपरिभूमिर्या हर्म्यं तत् परिकीर्तितम्**" -(अध्याय २२. १०)। अपराजितपृच्छा में एक मञ्जिल, दो मञ्जिल अथवा तीन मञ्जिल वाले भवन को हर्म्य कहा गया है-"एकभौमं द्विभौमं वा हर्म्यं स्याद्वा त्रिभौमकम्।"-(सूत्र ९६. १७)। परन्तु आधुनिक समय में हर्म्य पद का अर्थ विशाल-भवन या महल किया जाता है।

घरों को सुदृढ़, स्वच्छ और सुन्दर बनाने का विचार वैदिक काल से ही प्राप्त होता है। अथर्ववेद में कहा गया है कि जैसे चिकित्सक टूटे अवयवों को जोड़कर दृढ़ बना देता है वैसे ही गृह-सम्बन्धी आवश्यक सामग्री एकत्रित करके घरों को सुदृढ़ और दीर्घजीवी बनाने की बात कही गई है।[१] अथर्ववेद में ही गृह की उपमा अलङ्कृत हथिनी से दी गई है।[२] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वैदिक कालीन गृहों की छतें हथिनी की पीठ की तरह ढोलाकार होती थीं।[३] घरों की बाहरी तथा भीतरी दीवारों को सम्भवतः विशेष प्रकार के चित्रों से आकर्षक बनाने की प्रथा थी,अतएव एक स्थान पर घर की तुलना सुन्दर वधू से की गई है[४], मानो उस स्थान पर मनुष्य को अमित सुख की प्राप्ति होती है। डॉ० अग्रवाल ने लिखा है कि वैदिक शालापति या गृहस्वामी उसे अपने घर की देवी समझकर उसकी पूजा-प्रतिष्ठा करता था, क्योंकि उसी स्थान में उसके समस्त जीवन का विकास होता था।[५] शतपथब्राह्मण में घर के विभिन्न कक्षों का रोचक वर्णन मिलता है।[६] पारस्कर महोदय ने गृह्यसूत्र में घर को संसार का केन्द्र कहा है।[७]

वस्तुतः घर, गृहस्वामी के विश्व का केन्द्र होता है क्योंकि उसी धुरी के चारों और उसके विचार घूमते रहते हैं।

अथर्ववेद में साधारण कुटिया से लेकर विशाल भवन तक प्रत्येक प्रकार के गृह का उल्लेख हुआ है। इसमें द्विपक्षा, चतुष्पक्षा, षट्पक्षा आदि शालाओं का भी वर्णन हुआ है।[८] जिसे निम्नलिखित रेखाचित्रों के द्वारा प्रकट किया जा सकता है-(अग्रिम पृ० देखें)

वैदिक कालीन गृहों में किस प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया जाता था इस

---

१. आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थींश्चकार ते दृढान्।
परूंषि विद्वांछस्तेवेन्द्रेण वि चृतामसि।। अथर्ववेद, ९.३.३

२. "मिता पृथिव्यां तिष्ठसि हस्तिनीव पद्वती।।" -वही, ९.३.१७

३. भारतीय कला, पृष्ठ ५९

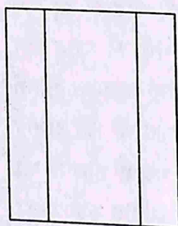
४. "वधूमिव त्वा शाले यत्रकामं भरामसि।।" -अथर्ववेद, ९.३.२४

५. भारतीय कला, पृष्ठ ५९

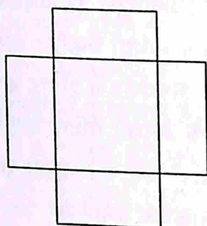
६. शतपथब्राह्मण, ३.५.१.११

७. इमामुच्छ्रयामि भुवनस्य नाभिं वसोर्धारां प्रतरणीं वसूनाम्।
इहैव ध्रुवां निमिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठतु घृतमुक्षमाणा।। -पारस्कर गृह्यसूत्र, ३.४.४

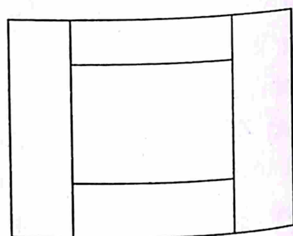
८. या द्विपक्षा चतुष्पक्षा षट्पक्षा या निमीयते।
अष्टपक्षां दशपक्षां शालां मानस्य पत्नीमग्निगर्भ इवा शये।। -अथर्ववेद, ९.३.२१



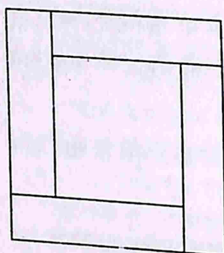
द्विपक्षा



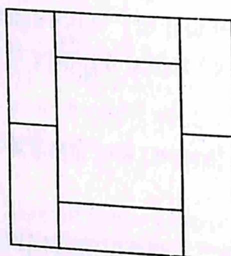
चतुष्पक्षा ( १ )



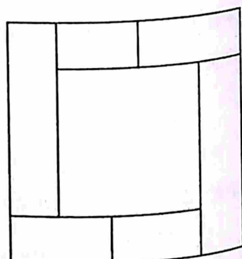
चतुष्पक्षा ( २ )



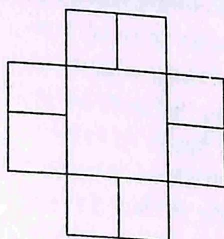
चतुष्पक्षा ( ३ )



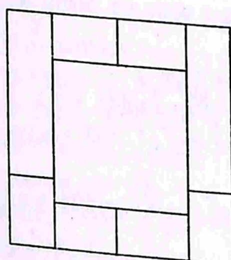
षट्पक्षा ( १ )



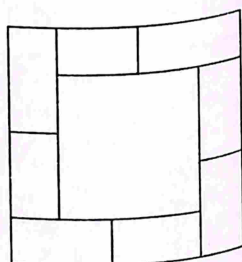
षट्पक्षा ( २ )



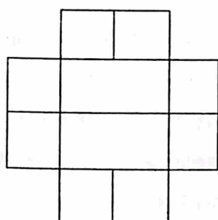
अष्टपक्षा ( १ )



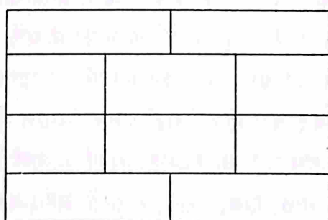
अष्टपक्षा ( २ )



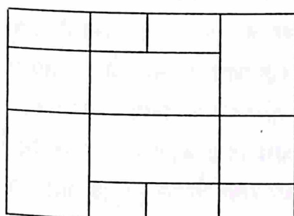
अष्टपक्षा ( ३ )



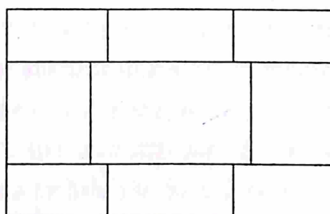
दशपक्षा ( १ )



दशपक्षा ( २ )



दशपक्षा ( ३ )



दशपक्षा* ( ४ )[१]

सम्बन्ध में कुछ सूचनाएँ वैदिक साहित्य में प्राप्त होती हैं। गृह-वास्तु का विशिष्ट अङ्ग स्तम्भ या स्थूण** हुआ करता था। उस समय गृह की छत को थामने के लिए इन

१. अथर्ववेद, भाषा भाष्य (पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी) काण्ड ९, सूक्त ३, पृष्ठ १३३ से उद्धृत। द्विपक्षा आदि शालाओं के और भी अनेक चित्र हो सकते हैं-त्रिवेदी, वही, पृष्ठ १३२

* प्रो० सी० लाल एवं डॉ० पी० कुमार ने अथर्ववेद के काण्ड ९ तथा सूक्त ३ में उपलब्ध मन्त्रों के आधार पर शालाओं को बहुपक्षीय, बहुमञ्जिली या अलग-अलग बहु इकाइयों वाली आज के Living Units की भाँति बताया है ( भारतीय वास्तु कला, पृष्ठ १८), परन्तु प्रो० सत्यकेतु विद्यालङ्कार के कथनानुसार द्विपक्षा, चतुष्पक्षा आदि के दो अर्थ हो सकते हैं, जिनमें दो या चार तल्ले हों या जिनमें दो या चार सहन (आङ्गन) हों परन्तु लकड़ी, बाँस और फूँस से निर्मित शालाओं में आठ-आठ, दस-दस मञ्जिलें होने की अपेक्षा यह अधिक युक्तिसङ्गत प्रतीत होता है कि इस सूक्त में अष्टपक्षा और दशपक्षा से आठ सहनों अथवा दस सहनों वाली शालाएँ ही अभिप्रेत हैं-(प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ २३५)।

** इतिहासकारों ने सम्भवतः अथर्ववेद के दोनों शाला-सूक्तों (३.१२ तथा ९.३) में उल्लिखित वंशों (३.१२.६; ९.३.४) और तृणों (३.१२.५; ९.३.४;१७ आदि) के आधार पर तथा वर्तमान काल में भी अनेक ग्रामों में गृह-निर्माण में प्रयुक्त सामग्री एवं उसकी प्रविधि को देखकर स्तम्भों का निर्माण काष्ठ से माना है परन्तु अथर्ववेद और ऋग्वेद में वर्णित स्थूणों या स्तम्भों का निर्माण वैदिक युग में किस पदार्थ से किया जाता था, यह अस्पष्ट है।

स्तम्भों (स्थूणों) का प्रयोग किया जाता था, जिन्हें भूमि पर गाड़ दिया जाता था। डॉ० अग्रवाल के अनुसार वैदिक काल में बड़े-बड़े वृक्षों को तक्षण करके विशाल भवन बनाने की प्रथा थी। वर्तमान में भी पर्वतीय क्षेत्रों में जहाँ देवदारु और साल के बड़े-बड़े वृक्ष होते हैं वहाँ भवन-निर्माण से पूर्व सौ-सौ फुट लंबे और ऊँचे भारी पेटे और ठोस गाभे के १०-२० वृक्षों को एकत्रित कर लिया जाता है और गाँव के बढ़ई, उनसे भीत, खंबे, पटव, अटली आदि का निर्माण करते हैं।[१]

स्तम्भों या स्थूणों को भली-भाँति नाप-जोखकर लगाते थे। गृह-सम्बन्धी मापन-कार्य सूत्र द्वारा किया जाता था।[२] इनकी संख्या आवश्यकतानुसार एक या एक से अधिक होती थी। प्रथा के अनुसार छत को खम्भों की तीन पंक्तियों पर टिकाया जाता था। स्तम्भों के मध्यभाग वाली पंक्ति के ऊपर जो अन्य दोनों पंक्तियों से कुछ ऊँची होती थी, उसके ऊपर सीधे और आड़े बल्ले रखे जाते थे। बीच में रखे हुए मोटे बल्ले को प्राग्वंश कहा जाता था।[३] बल्लों के ऊपर बाँस की खपचियाँ आच्छादित की जाती थी और उन्हें रस्सियों या दूसरे बन्धनों से बांध दिया जाता था। अथर्ववेद के शाला-सूक्त में बल्लों और बाँसों को यथास्थान स्थिर रखने के लिए सुदृढ़ गाँठे लगाने और बाँस की खपचियों से जाल बनाने पुनः उस पर तृण (फूँस) का छप्पर डालने का उल्लेख हुआ है।[४]

वैदिक साहित्य का अनुशीलन बताता है कि वैदिक युग में भवन-निर्माण का आधार केवल लकड़ी ने होकर मिट्टी, ईंट और पत्थर आदि भी था।[५] ऋग्वेद में एक स्थान पर वरुण (सर्वशक्तिमान् परमेश्वर)* से प्रार्थना की गई है कि मैं मिट्टी के घर

---

१. भारतीय कला, पृष्ठ ५६ तथा ५३
२. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ४८
३. भारतीय कला, पृष्ठ ५८
४. (क) वंशानां ते नहनानां प्राणाहस्य तृणस्य च।
पक्षाणां विश्ववारे ते नद्धानि वि चृतामसि।। –अथर्ववेद, ९.३.४
(ख) "यत् ते नद्धं विश्ववारे पाशो ग्रन्थिश्च यः कृतः।" –वही, ९.३.२
(ग) "आ ययाम सं बबर्ह ग्रन्थीश्चकार ते दृढान्"। –वही, ९.३.३
(घ) "तृणैरावृता.....।" –वही, ९.३.१७
५. (क) "अध स्वनान्मरुतां विश्वमा सद्म पार्थिवम्।" –ऋग्वेद १.३८.१०
(ख) "दीर्घं पृथु पप्रथे सद्म पार्थिवं येषामज्मेष्वा महः शर्धांस्यद्भुतैनसाम्।।"–वही, ५.८७.७
* इन्द्रं मित्रं वरुणमग्निमाहुरथो दिव्यः स सुपर्णो गुरुत्मान्। एक सद्विप्रा बहुधा वदन्त्यग्निं यमं मातरिश्वानमाहुः।। -ऋग्वेद, १.१६४.४६ ; अथर्ववेद, ९.१०.२८; निरुक्त ७. १८

में निवास न करूँ।[१] इससे स्पष्ट है कि उस युग में मिट्टी के घर हुआ करते थे और यहाँ मिट्टी से भिन्न सामग्री (सम्भवतः मिट्टी से उन्नत सामग्री) से निर्मित भवन को प्राप्त करने के लिए कामना की गई है। अथर्ववेद में पत्थरों से निर्मित भवन का भी उल्लेख हुआ है।[२] ऋग्वेद में 'त्रिधातु' को मनुष्यों का शरण बताया गया है।[३] मन्त्र में प्रयुक्त त्रिधातु शब्द पर विद्वानों में मतभेद है। ग्रिफिथ ने इसका अर्थ ईंट, पत्थर और लकड़ी से निर्मित भवन बताया है।[४] आचार्य सायण ने त्रिधातु का अर्थ 'त्रिभूमिकम्' अर्थात् तीन मञ्जिलों वाला भवन[५] और महर्षि दयानन्द ने 'सुवर्ण, चाँदी तथा ताँबे से युक्त गृह' किया है।[६]

'त्रिधातु' शब्द के अर्थ पर विद्वानों में मतभेद हो सकता है परन्तु अथर्ववेद के मन्त्रों से ज्ञात होता है कि गृह या शाला की नींव बहुत सुदृढ़ रखी जाती थी,[७] जो कि भित्तियों आदि से सम्बन्धित है* और जिनके निर्माण में पत्थर आदि के प्रयोग का सङ्केत मिलता है। इस दृष्टि से भवन कई तल्लों वाले भी हो सकते हैं।

वैदिक युग में गृहों को अनेक प्रकार के पर्यङ्कों तथा आसन्दी आदि से भी

१. "मोषु वरुण मृन्मयं गृहं राजन्नहं गमम्।" –ऋग्वेद, ७.८९.१
२. "अश्मवर्म मेऽसि................।" –अथर्ववेद, ५.१०.१–७
३. (क) इन्द्र त्रिधातुशरणं त्रिवरूथं स्वस्तिमत्।
छर्दिर्यच्छ मघवद्भ्यश्च मह्यं च यावया दिद्युमेभ्यः।। –ऋग्वेद, ६.४६.९
(ख) "स त्रिधातुशरणं शर्म यंसत्त्रिवर्तु ज्योतिः स्वभिष्ट्यस्मे।।" –वही, ७.१०१.२
(ग) "त्रिधातुना शर्मणा पातमस्मान्...............।।" –वही, ८.४०.१२
(घ) "यद्देवाः शर्म शरणं यद्भद्रं यदनातुरम्।
त्रिधातु यद्वरूथ्यं तदस्मासु वि यन्तन............।" –वही, ८.४७.१०
४. वेदकालीन समाज, पृष्ठ ३२४
५. ऋग्वेद, भाग ३, पृष्ठ ५६
६. ऋग्वेद, ६.४६.९, हिन्दी भाष्य, खण्ड ३, पृष्ठ ५४४ (७.१०१.२) के भाष्य में 'विचित्र गृह', द्रष्टव्यः खण्ड ४, पृष्ठ १४६; ८.४०.१२ के भाष्य में 'तीन धारक तत्त्व-सत्त्व, रज और तम', द्रष्टव्य : खण्ड ४, पृष्ठ ५०६
७. इहैव ध्रुवां नि मिनोमि शालां क्षेमे तिष्ठाति घृतमुक्षमाणा।
त्वां त्वा शाले सर्ववीराः सुवीरा अरिष्टवीरा उप सं चरेम।
इहैव ध्रुवा प्रति तिष्ठ शालेऽश्वावती गोमती सूनृतावती।
ऊर्जस्वती घृतवती पयस्वत्युच्छ्रयस्व महते सौभगाय।। –अथर्ववेद, ३.१२.१–२

* क्षेमकरणदास त्रिवेदी ने 'प्रतिमिताम्' शब्द का अर्थ प्रतिमान युक्त करने के बाद कोष्ठक में आमने-सामने की भीतें, द्वार, खिड़की आदि को एक माप में होना बताया है।
–द्रष्टव्यः अथर्ववेद, ९.३.१ भाषा भाष्य, पृष्ठ १२४

सुसज्जित करने की प्रथा थी। ऋग्वेद के एक मन्त्र में पलङ्ग को 'तल्प' कहा गया है।[१] अथर्ववेद में भी पर्यङ्क के लिए 'तल्प' शब्द का प्रयोग हुआ है।[२]

**ग्राम और पुर**—वैदिक युग में आर्य-जन अनवस्थित अवस्था से उन्नति कर स्थायी रूप से विभिन्न स्थानों और प्रदेशों में बस गये थे, अतः बहुत से ग्रामों और पुरों का निवेश हो जाना स्वाभाविक था।

आर्यों के विविध 'जन' जब किसी प्रदेश पर स्थायी रूप से बस गये तो वे 'जनपद' स्थापित हुए जो 'जन' के नाम से ही जाने जाते थे।[३] इन जनपदों का स्वरूप नगर-राज्यों के समान था। जनपद की राजधानी को पुर कहते थे, जिसे दुर्ग के रूप में बनाया जाता था।[४] जनपद के सम्भ्रान्त वर्ग के लोग, शिल्पी तथा व्यापारी पुर में निवास करते थे और किसान देहाती क्षेत्र में। उनकी बस्तियाँ ग्राम कहलाती थीं।[५]

वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर ग्रामों का उल्लेख मिलता है। ऋग्वेद में अग्नि (विद्वान्) को ग्रामों का रक्षक कहा गया है।[६] यजुर्वेद में भी ग्राम का उल्लेख हुआ है।[७] ग्राम प्रायः विस्तृत होते थे। ग्रामों का निवेश करते समय शुद्ध जल और वायु का ध्यान रखा जाता था। बड़े ग्रामों की संज्ञा 'महाग्राम' होती थी।[८] शतपथ-ब्राह्मण से विदित होता है कि वैदिक युग में कुछ ग्राम एक-दूसरे के निकट होते थे[९] और कुछ दूर-दूर स्थित थे तथा सड़कों के द्वारा एक-दूसरे से सम्बद्ध थे।[१०]

अथर्ववेद में सम्भवतः ग्रामगृह में आये हुए व्याघ्र, भेड़िया तथा चोर आदि के विनाश की बात कही गई है।[११] इससे वैदिक युग में ग्रामों का एक अस्पष्ट चित्र हमारे

१. "…..नारीर्यास्तल्पशीवरीः।" –ऋग्वेद, ६.४६.९
२. "आ रोह तल्पम्…..।" –अथर्ववेद, १४.२.३१
३. प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ २३७
४. वही, पृष्ठ २३७ तथा ऋग्वैदिक कल्चर, पृष्ठ १८६ –वेदकालीन समाज, पृष्ठ ३२१ से उद्धृत।
५. प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ २३७
६. "……असि ग्रामेष्वविता पुरोहितोऽसि यज्ञेषु मानुषः।।" –ऋग्वेद, १.४४.१०
७. यद्ग्रामे यदरण्ये यत् सभायां यदिन्द्रिये।" –यजुर्वेद, ३.४५; २०.१७
८. वैदिक इण्डेक्स्, भाग १, पृष्ठ २४४-४५
९. स यद्ग्राम्यैः संस्थापयेत्। समध्वानः क्रामेयुः समन्तिकं ग्रामयोग्रामान्तौ स्यातां नऽर्क्षीकाः पुरुषव्याघ्राः परिमोषिण आव्याधिन्यस्तस्करा अरण्येष्वाजायेरन्यदारण्यैर्व्यवधानः क्रामेयुविदूरं ग्रामयोग्रामान्तौ स्यातामृक्षीकाः पुरुषर्व्याघ्रः परिमोषिण आव्याधिन्यस्तस्करा अरण्येष्वाजायेरन्।।
–शतपथ ब्राह्मण, १३.२.४.२
१०. "तद्यथा महापथ आतत उभौ ग्रामौ गच्छतीमं चामुं च…..।।" –छान्दोग्य उपनिषद्, ८.६.२
११. "उदितस्यो अक्रमन् व्याघ्रः पुरुषो वृकः।"
परेणैतु पथावृकः परमेणोत तस्करः।
परेण दत्वती रज्जुः परेणाद्यायुरर्षतु।। –अथर्ववेद, ४.३.१-२

समक्ष उपस्थित होता है। इन ग्रामों में चोर, बाघ, भेड़िये आदि का भय बना रहता था और उनसे रक्षा के लिए अग्नि देवता तथा पुरोहितों की शरण ली जाती थी। शतपथ-ब्राह्मण में भी कहा गया है कि ग्रामों की सीमाओं पर अरण्यों में रीछ आदि पशु और तस्कर आदि का निवास होता है।[१] पर्सी ब्राऊन का अनुमान है कि वैदिक कालीन ग्रामों के चारों ओर लकड़ी की बाड़ बनायी जाती थी। बाड़ के चारों ओर एक या अधिक तोरण (द्वार) भी बनाये जाते थे।[२] हैवेल का भी यही मत है। उनके अनुसार ग्राम प्रायः आयाताकार हुआ करते थे और उनके चारों ओर एक-एक द्वार होता था।[३]

वैदिक साहित्य के अनुशीलन से वैदिक कालीन पुरों के विषय में कतिपय महत्त्वपूर्ण जानकारी मिलती है। इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि वैदिक कालीन पुर प्रायः दुर्गों के रूप में हुआ करते थे। ऋग्वेद के एक मन्त्र से 'शतभुजी' पुर या दुर्ग की सत्ता का सङ्केत मिलता है।[४] शतभुजी से सौ दीवारों या सौ पार्श्वों वाले किले का बोध होता है। ऐसे पुर या दुर्ग सम्भवतः बहुत बड़े-बड़े होते थे। अत एव एक मन्त्र में दुर्ग के साथ 'पृथ्वी' (सुविस्तीर्ण) और 'उर्वी' (विशाल) विशेषणों का प्रयोग हुआ है।[५] इसी प्रकार ऋग्वेद में एक स्थान पर सौ अश्वमन्मयी पुरियों का उल्लेख हुआ है।[६] इन पुरियों के भवन सम्भवतः पत्थरों से निर्मित थे। ऋग्वेद में ही अन्य स्थानों में 'आयसी' (लौह-निर्मित)* पुरियों का वर्णन है।[७]

---

१. प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ २३८
२. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ३१
३. वही, पृष्ठ ३१
४. "शतभुजिभिस्तमभिह्रुतेरघात् पूर्भी......।"-ऋग्वेद, १.१६६.८
५. अग्नेत्वं पारया नव्यो अस्मान्त्स्वस्तिभरतिदुर्गाणि विश्वा।
पृश्च पृथ्वी बहुला न उर्वी भवा तोकाय तनयाय शं योः।। -ऋग्वेद १.१८९.२
६. "शतमश्मन्मयीनां पुरामिन्द्रो व्यास्यत्।" -वही, ४.३०.२०
७. (क) "तेभिर्नो अग्ने अमितैर्महोभिः शतं पूर्भिरायसीभिर्नि पाहि।।" -वही, ७.३.७
(ख) अधा मही न आयस्नाधृष्टो नपीतये। पूर्भवा शतभुजिः।। -वही, ७.१५.१४
(ग) "पुरः कृणुध्वमायसीरधृष्टा................।।" -वही, १०.१०१.८

* वैदिक साहित्य में अनेक स्थानों पर 'अयस्' शब्द का प्रयोग हुआ है (जैसे-ऋग्वेद ४.२१.७; ६.३.५ आदि)। संस्कृत में इसका अर्थ लोहा है परन्तु वेदों में भी अयस् से लोहा ही अभिप्रेत है, इस सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है। प्रो० सत्यकेतु विद्यालङ्कार के अनुसार अयस् का रंग लाल होने के सङ्केत वैदिक मन्त्रों में विद्यमान है। अतः कुछ विद्वान् इसे तांबे का पर्यायवाची मानते हैं। (द्रष्टव्य : प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग, पृष्ठ २२६) पुनश्च यजुर्वेद में जहाँ अनेक धातुओं का परिगणन किया गया है, वहाँ हिरण्य, त्रपु और सीसे के साथ 'अयस्' और 'लोह' की गणना पृथक् रूप से हुई है।-**"हिरण्यं च मेऽयश्च मे श्यामञ्च मे लोहञ्च मे सीसञ्च मे त्रपुश्च मे यज्ञेन कल्पन्ताम्।"** -(यजुर्वेद, १८. १३)

सम्भवतः इन पुरियों के भवन और प्राकार आदि में अयस् का प्रयोग प्रचूर मात्रा में हुआ होगा।

**ब्राह्मणग्रन्थ**–ब्राह्मण ग्रन्थों में भी गृह-वास्तु का विस्तृत परिचय मिलता है। इसके अतिरिक्त इन ग्रन्थों में वेदी, श्मशान तथा यूप आदि के विषय में भी विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। ऐतरेयब्राह्मण में 'शिल्प' शब्द तथा इससे सम्बन्धित ज्ञान प्राप्त होता है,[१] जबकि कौषीतकिब्राह्मण में नृत्य, सङ्गीत और गायन के भेद से तीन प्रकार के शिल्प का उल्लेख हुआ है।[२] वर्तमान में प्रचलित कला शब्द का पर्याय प्राचीन काल में शिल्प था। **"सैषी त्रयी विद्या यज्ञः। तस्या एतच्छिल्पं एष वर्णः।"**[३] यहाँ पर आचार्य सायण ने शिल्प का अर्थ 'चित्ररूपम्' किया है जो कि कला का समानार्थी है।

ब्राह्मण-साहित्य में अनेक प्रतिष्ठित और प्रसिद्ध पुरों या नगरों का नामोल्लेख हुआ है, जो कि उस समय उनकी विद्यमानता को प्रकट करता है। जैसे–अयोध्या, काम्पील, आसन्दीवत्, वरणावती, कौशाम्बी, मष्णार,[४] कारोती[५] तथा परिचक्रा[६] आदि। शतपथ-ब्राह्मण में तीनों लोकों की उपमा पुर से दी गई है।[७] इस युग में पुर सुदृढ़ दुर्ग-विधान से सुरक्षित होते थे। ऐतरेय ब्राह्मण में पुर की सुरक्षा के साधन 'प्राकार'[८] का तथा शतपथ-ब्राह्मण में 'परिखा या खाई'[९] का उल्लेख पुरों की सुदृढ़ रचना के

शतपथ-ब्राह्मण में भी एक ही स्थान पर लोह और अयस् दोनों का उल्लेख हुआ है, जिससे इनका पृथकत्व सूचित होता है। –**"एतदयो न हिरण्यं यल्लोहायसम्।"**

–(शपतथ ब्राह्मण, ५.४.१.२)

१. ऐतरेय ब्राह्मण, ६.५.२७
२. कौषीतकि ब्राह्मण, २९.५
३. शतपथ ब्राह्मण, १.१.४.३
४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५४
५. "अथ ह स्माह शाण्डिल्यः। तुरो ह कावषेयः कारोत्यां देवेभ्योऽग्निं चिकाय.......।"

–शतपथ ब्राह्मण, ९.५.२.१५

६. "......तदेतद्गाथयाभिगीतम् अश्वं मेध्यमालभत क्रिवीणामतिपुरुषः पाञ्चालः परिवक्रायां सहस्रशतदक्षिणमिति।" –वही, १३.५.४.७
७. "......इमानेव लोकानिमे वै लोकाः पुरस्ता प्रापद्यनत ताः..........।" –वही, १०.२.५.१
८. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५४
९. "......दक्षिणावृत्तस्मादिमं लोकं दक्षिणावृत्समुद्रः पर्येति खातेन तस्मादिमं लोकं खातेन समुद्रः पर्येति।।" –शतपथ ब्राह्मण, ७.१.१.१३

अथैनान्परिश्रिद्भिः परिश्रयति। आपो वै परिश्रितोऽद्भिरेवैनांस्तत्परितनोति स वै पर्येव निदधाति क्षत्रं हैता अपां याः खातेन यन्त्यथ हैता विशो यानीमानि वृथोद्कानि स यदमुं खातेन परिश्रयति क्षत्रे तत्क्षत्रं दधाति.....। –वही, ९.४.३.१

समर्थक हैं। ऐतरेय[1] और गोपथ-ब्राह्मण[2] में 'महापुर' का भी उल्लेख हुआ है, जो सम्भवतः छोटी-बड़ी जनपद इकाइयों का केन्द्र या राजधानी होते थे। यद्यपि इन ग्रन्थों में पुर और महापुर का उल्लेख अनेक स्थानों पर हुआ है तथापि तत्कालीन आर्थिक जीवन का केन्द्र ग्राम ही थे। वेडेन पावेल के अनुसार ग्राम आत्मनिर्भर इकाई के रूप में सङ्गठित थे[3] और इनके सीमान्त-प्रान्तों की संज्ञा 'मर्यादा' थी।[4] ग्रामों में चौराहे से युक्त बस्तियाँ बसाई जाती थी, जहाँ पर हव्य प्रदान किया जाता था।[5] एक ग्राम से दूसरे ग्राम में जाने के लिए सुविधा-हेतु दूरी-सूचक चिह्न लगे रहते थे। तत्कालीन भवनों में प्रायः चार दरवाजे होते थे।[6] सुरक्षा के लिए गृहों में द्वार तथा द्वारों में अर्गला का प्रयोग प्रचलित था।[7] घरों में छत डाली जाती थी, जिसे 'छदिस्' कहा जाता था[8] और यह धरन् पर आश्रित होती थी। इसे 'प्राचीन वंश' कहा गया है।[9] जैमिनीय ब्राह्मण में भी 'छदिष्मत्-गृह' (छत से युक्त घर) का उल्लेख हुआ है।[10]

ब्राह्मण-ग्रन्थ में यज्ञ का वितान एवं विस्तार परम श्रेयस्कर समझा गया है।[11] अतः इनमें यज्ञ के लिए निर्मित वेदियों का सविस्तार प्रतिपादन हुआ है। वेदियों के निर्माण में ११९७० या ११११८ ईंटें लगती थीं, जो अध्यर्धा, अर्धपद्या, अर्धबृहती,

---

१. ऐतरेय ब्राह्मण, १.२३.२

२. गोपथ ब्राह्मण, २.२.७

३. इण्डियन् विलेज कम्युनिटी, पृष्ठ ९

४. शतपथ ब्राह्मण–एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १७१

५. "…..चतुष्पथे जुहोत्येतद् ह वाऽस्य ज्ञाधितं प्रज्ञातमवसानं यच्चतुष्पथं तस्माच्चतुष्पथे जुहोति।।"
–शपतथ ब्राह्मण, २.६.२.७

६. शतपथ ब्राह्मण–एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ १७२

७. (क) "स ह न्वेवैनं जयति योऽस्य द्वाराणि वेद किं हि स तैर्गृहैः
कुर्याद्यानन्तरतो न व्यवविद्यात्…..।" –शतपथ ब्राह्मण, १.६.१.१९
(ख) तस्यैतद्वारं यदमावास्या चन्द्रमा एव द्वारपिधानः।। –वही, ११.१.१.१
(ग) "उभयतो द्वारं हविर्धानं भवति। उभयतोद्वारं सदः……।" –वही, ३.५.३.७

८. तयोः समववृत्तयोः छदिरधिनिदधाति यदि छदिर्न विन्देयुश्छदिः संमितां भित्तिं प्रत्यानह्यन्ति रराट्यां परिश्रयन्त्युछ्रायीभ्यां छदिः पश्चादधिनिदधाति छदिः समितां वा भित्तिम्।
–वही ३.५.३.९

९. "तच्छालो वा निर्मितं वा प्राचीनवंशं भिन्वन्ति। प्राची हि देवानां दिक्………।।
–वही, ३.१.१.६

१०. जैमिनीय ब्राह्मण, २.१६३

११. अथ यस्माद्यजो नाम। घ्नन्ति वाऽएनमेतद्यदभिषुण्वन्ति तद्यदेवं तन्वते तदेनं जनयन्ति स तायमानो ज्ञायते स यज्ञायते तस्माद्यज्ञो यज्ञो ह वै नामैतद्यद्यज्ञ इति। –शतपथ ब्राह्मण, ३.९.३.२३

पद्मा, पूर्णात्सेधा, अर्धोत्सेधा आदि विविध आकार-प्रकार की होती थीं। ये विभिन्न वेदियों की लम्बाई-चौड़ाई तथा ऊँचाई के अनुपात के द्योतक हैं।[१] इन ग्रन्थों में इष्टकाओं के भी विभिन्न नामों का उल्लेख हुआ है, जो कि उनके अपने स्वरूप के आधार पर निर्धारित होते थे। जैसे-स्वयमातृण्णा, दिव्ययजुः, रेतःसिच्, ऋतव्या, प्राणभृत् आदि।[२] शतपथब्राह्मण में वेदि-निर्माण का वर्णन करते हुए कहा गया है कि उसे पूर्व और पश्चिम की ओर अधिक चौड़ी तथा बीच में उसका आकार सङ्करा होना चाहिए। वह पूर्व, उत्तर और दक्षिण में प्रवणा (ढालू) हो।[३]

चिति, जिसमें अग्नि प्रज्वलित रखी जाती थी, इसका निर्माण भी इष्टकाओं के द्वारा होता था। डॉ० शुक्ल तथा कृष्णदत्त वाजपेयी के अनुसार पहले चिति के निर्माण में कच्ची (सूर्य की गर्मी से पकी हुई) ईंटों का प्रयोग होता था, परन्तु प्राचीन भारत में बाद में पकी हुई ईंटों के प्रयोग का ज्ञान हुआ होगा, क्योंकि चिति में प्रयुक्त ईंटें अग्नि से जल जाती थी।[४]

शतपथ-ब्राह्मण में शवान्न (श्मशान) के स्वरूप की चर्चा करते हुए कहा गया है कि देवी प्रजाओं के श्मशान 'चतुःस्रक्ति' (चौकोर) तथा आसुरी लोगों के 'परिमण्डल' (वर्तुलाकार) होते हैं।[५] यास्क ने श्वान्न पद का अर्थ 'शव-शयन' किया है।[६] अतः

१. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, ३.९.४.२३
२. शतपथ-ब्राह्मण एक सांस्कृतिक अध्ययन, पृष्ठ ६७
३. "सा वै पश्चाद्वरीयसी स्यात्। मध्ये संह्वारिता पुनः पुरसतादुर्व्येवम्.......।"
सा वै प्राक्प्रवणा स्यात्। प्राची हि देवानां दिगथोऽउदक्प्रवणोदीची हि मनुष्याणां दिग्दक्षिणतः पुरीषं प्रत्युदूहत्येषा वै दिक्पितृणां सा यद्दक्षिणाप्रवणा स्यात्.......।"
—शतपथ ब्राह्मण, १.२.५.१६-१७
४. (क) वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ७१
(ख) भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ३८
५. "......अथास्मै श्मशानं कुर्वन्ति। गृहान्वा प्रज्ञानं वा यो वै कश्च म्रियते स शवस्तस्माऽएतदन्नं करोति तस्माच्छवान्नं शवान्नं ह वै तच्छ्मशानमित्याचक्षते परोक्षं श्मशा उ हैव नाम पितृणामत्तारः. .......।" चतुःस्रक्ति। देवाश्चासुराश्चोभये प्राजापत्या दिक्ष्वस्पर्धन्त ते देवा असुरान्त्सपत्नान्भ्रातृव्यान्दिग्भ्योऽनुदन्त तेऽदिकाः पराभवस्तस्माद्या दैव्यः प्रजाश्चतुः स्रक्तीनि ताः श्मशानानि कुर्वतेऽथ या आसुर्यः प्राच्यास्त्वद्ये त्वत्परिमण्डलानि तेऽनुदन्त ह्येमान्दिग्भ्यः.. ...............।"
—शतपथ ब्राह्मण, १३.८.१.१; १५
* यज्ञवेदी-विधान-विषयक टिप्पणी, द्रष्टव्यः '**प्राचीन भारतीय पुरनिवेश**' लेखक का अन्य ग्रन्थ।
६. निरुक्त, ३.५

स्पष्ट है कि श्मशान उस समाधि का द्योतक था, जिसके नीचे मृत व्यक्तियों की अस्थियों को रखा जाता था।[१] विद्वानों के कथनानुसार ये भारतीय स्तूपों के प्रारम्भिक रूप का बोध कराते हैं। प्राचीन टीकाकार हरिस्वामी ने वर्तुलाकार समाधि-स्थल की व्याख्या स्तूप के रूप में ही की है।[२] शतपथ-ब्राह्मण के उपर्युक्त श्मशान-वर्णन में उसे पत्थर से घेरने का भी उल्लेख हुआ है। यह स्थल पत्थर से घिरा होता था। इसके चारों ओर खूँटे लगाये जाते थे जो कि स्तूप के चारों ओर चार प्रमुख दिशाओं में स्थापित स्तम्भों की परम्परा को दर्शाता है।[३]

**सूत्रग्रन्थ**—सूत्रग्रन्थों को भारतीय कला का कोश-ग्रन्थ कहा जा सकता है। डॉ० शुक्ल के अनुसार ये हमारे आरम्भिक वास्तुशास्त्र हैं।[४] इन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर वास्तुशास्त्रीय शब्द उपलब्ध होते हैं। जैसे—प्राकार[५], शाला-स्तम्भ[६] आदि। शाङ्खायन गृह्यसूत्र में भी चार अध्यायों में से तीन अध्यायों में गृहनिर्माण-सम्बन्धी नियमों का प्रतिपादन हुआ है।[७] इसी प्रकार आश्वलायन गृह्यसूत्र में भी चार अध्यायों में से तीन अध्यायों में गृहनिर्माण के सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है।[८] यद्यपि ये ग्रन्थ प्रमुखतया विभिन्न संस्कारों / समारोहों का विस्तृत विवेचन करते हैं तथापि भारतीय स्थापत्य के सिद्धान्तों की भी जानकारी देते हैं। शाङ्खायन गृह्यसूत्र अपनी साङ्केतिक भाषा में केन्द्रीय स्तम्भ-कला के सिद्धान्तों को उचित रूप से समझने के लिए आवश्यक सामग्री प्रदान करता है। यह उल्लेखनीय है कि भूमि के केन्द्रीय स्थल को उस समय अत्यन्त सम्मान-भाव से देखा जाता था। यह वह स्थल होता था, जहाँ पर प्रथम आवश्यक विधि-विधान पूर्ण किया जाता था और गृह की आधार-शिला रखी जाती थी। सूत्रग्रन्थों में केन्द्रीय स्थल का उल्लेख करना तथा उसे अत्यधिक महत्त्व प्रदान करना इस बात की ओर सङ्केत करता है कि आरम्भिक काल में, जब इस प्रकार के समारोहों का प्रचलन था, तब आर्यों के घर ऐसे होते थे, जिनके मध्य-भाग में एक स्तम्भ होता था, जिस पर घर की दृढ़ता निर्भर करती थी।[९]

---

१. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ३८
२. "परिमण्डलानि स्तूपाख्यानि।" –प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५५ से उद्धृत।
३. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ७१ से उद्धृत।
४. वही, भाग १, पृष्ठ ७१
५. शाङ्ख्यायन श्रौतसूत्र, १६.१८.१४
६. कात्यायन श्रौतसूत्र, ७.१.३६
७. वास्तुशास्त्र भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ७१
८. वही, भाग १, पृष्ठ ७१
९. वही, भाग १, पृष्ठ ७१

गोभिल तथा खादिर गृह्यसूत्रों में भूमिचयन-विषयक अन्य सिद्धान्तों का अर्थात् चतुष्कोण या गोलाकार भूमियों का उल्लेख हुआ है। इनमें घरों में प्रयुक्त होने वाले दरवाजों तथा चारों ओर लगाने वाले वृक्षों का भी उल्लेख है। ये ग्रन्थ वास्तुशास्त्र के वैज्ञानिक विषय-वस्तु से युक्त हैं। इनमें गृहकार्य के अवसर पर श्रद्धापूर्वक आहुतियाँ देने का भी उल्लेख हुआ है।[1]

शुल्बसूत्रों की महत्ता वर्तमान में भी अक्षुण्ण है। भारतीय रेखागणितीय ऐतिहासिक जानकारी की दृष्टि से ये अत्यन्त उपादेय ग्रन्थ हैं। यज्ञों के लिए आवश्यक वेदियों के विभिन्न रूपों की रचना-विधियाँ इनके प्रतिपाद्य विषय हैं। इस साहित्य में यज्ञ-वेदियों का ध्यानाकर्षक सूक्ष्म विवेचन हुआ है। यज्ञवेदियों के विभिन्न तलों में कितनी ईंटों की चिनाई करनी चाहिए, उन ईंटों की लम्बाई-चौड़ाई क्या होनी चाहिए, वैज्ञानिक दृष्टिकोण से तथा निर्दोष रूप में ईंटों की चिनाई करने के लिए विभिन्न स्तरों पर विभिन्न अंशों में विभाजन किस प्रकार से करना चाहिए, इत्यादि बातों के विस्तृत विवरण प्राप्त होते हैं। बौधायन एवं आपस्तम्ब शुल्बसूत्रों में प्राप्त कतिपय चितियों के प्रसिद्ध नाम निम्नलिखित हैं, जो भिन्न-भिन्न आकृतियों वाली होती हैं- (१) चतुराश्रयश्येन (श्येन पक्षी के आकार की), (२) वक्रपक्षश्येन (श्येन पक्षी के टेढ़े पंख के आकार की), (३) व्यस्तपुच्छ (श्येन पक्षी की फैली हुई पूँछ की आकृति वाली), (४) कङ्कचित् (कङ्कपक्षी के आकार की), (५) अजलाचित् (अजला पक्षी के आकार वाली), (६) प्रागचित् (समभुज त्रिभुज आकार वाली), (७) उभयतः प्रागचित् (समभुज त्रिभुज के आधार पर दूसरा समभुज त्रिभुज बनी हुई), (८) रथचक्रित् (गोलाकृति), (९) चतुराश्रय द्रोणचित् (चतुष्कोण पात्र के आकार की), (१०) परिमण्डल द्रोणचित् (गोल पात्र के आकार की), (११) कूर्मचित् (कूर्म के आकार वाली)[2] इत्यादि। इनका आरम्भिक वर्णन तैत्तिरीय-संहिता में उपलब्ध होता है।[3]

आचार्य रामदेव के अनुसार चतुराश्रय-श्येन वेदि/चित्ति का क्षेत्रफल सात वर्ग पुरुष हुआ करता था। उन सात वर्गों में से प्रत्येक वर्ग की भुजा की लम्बाई एक पुरुष

---

१. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ आर्किटेक्चर, पृष्ठ ७१-७२
२. (क) भारतवर्ष का इतिहास (आचार्य रामदेव), भाग १, पृष्ठ ८०
   (ख) वैदिक सम्पत्ति, पृष्ठ २९८
   (ग) स्वतन्त्रकलाशास्त्र, भाग १, पृष्ठ ५९६
   (घ) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५६
३. तैत्तिरीय संहिता, ५.४.११

हुआ करती थी और जब चतुराश्रयश्येन वेदी के स्थान में प्रागचित् या रथचक्रित् आदि आकृतियों वाली चितियों का निर्माण करना होता था तो चतुराश्रयश्येन चिति के स्थान को बिना घटाए-बढ़ाए उसी सात वर्ग पुरुष-स्थान में दूसरी चिति या वेदी बना दिया जाता था।[१] डॉ० शुक्ल ने भी इनकी रचना-विधियों का उल्लेख करते हुए कहा है- इनकी सतह में पांच, दस या पन्द्रह ईंटें लगाई जाती थीं और इसी के अनुसार इनकी ऊँचाई भी निश्चित की जाती थी। इस प्रकार प्रत्येक सतह में घुमाव तक दो सौ ईंटें होती थीं और कुल एक हजार ईंटें होती थीं।[२]

डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल ने शुल्बसूत्रों में उपलब्ध नाप की सुनिश्चित इकाईयों का उल्लेख किया है, जो स्थापत्यविद्या से सम्बन्ध दर्शाते हैं। जैसे-अणु, तिल, अङ्गुल =१४ अणु या ३४ तिल, क्षुद्रपद = १० अङ्गुल, प्रादेश = १२ अङ्गुल, वितस्ति =बित्ता, पृथा = १३ अङ्गुल, पद या दीर्घपद = १५ अङ्गुल, प्रक्रम = २ पद या ३० अङ्गुल, अरत्नि = २ प्रादेश, शम, शम्या, बाहु = ३६ अङ्गुल, पुरुष = ५ अरत्नि या १२० अङ्गुल, व्याम = ५ अरत्नि, व्यायाम = ४ अरत्नि आदि। इनमें से अनेक का उल्लेख संहिताओं और ब्राह्मण-ग्रन्थों में भी विभिन्न स्थलों पर हुआ है।[३]

## सैन्धव स्थापत्य

भारतीय पुरातत्त्व-विभाग की ओर से १९२१-२२ ई० में सिन्धुघाटी के दो महत्त्वपूर्ण स्थानों (हड़प्पा और मोहनजोदड़ो) की खोज से भारतीय इतिहास की संस्कृति, सभ्यता और कला के क्षेत्र में एक नवीन अध्याय जुड़ गया। हड़प्पा और मोहनजोदड़ो दोनों अपने युग के महानगर थे और इनके विकास में सिन्धु और उसकी सहायक सरिताओं का महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। हड़प्पा पश्चिमी पञ्जाब (पाकिस्तान) के मौंटगोमरी जिले में रावी की प्राचीन धारा पर बसा था और मोहनजोदड़ो सिन्ध प्रान्त के लरकाना (पाकिस्तान) जिले में सिन्धु-सरिता के पश्चिमी-तट पर अवस्थित था। बाद के भारतीय ग्रन्थों में पुर-सन्निवेश के लिए भूमि-चयन के प्रसङ्ग में जहाँ प्राकृतिक सुषमा-मण्डित सुरम्य देश को प्रशस्त बताया गया है, वहाँ जलाशय-तटों और सरिताओं

१. भारतवर्ष का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ८१
२. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ७२
३. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५६

के पुलिन-प्रान्तों की भी प्रशंसा की गई है।[1] पुरसन्निवेश-सम्बन्धी यह सिद्धान्त हमें हड़प्पा और मोहनजोदड़ो के सन्निवेश में भी दिखाई देता है। इन दोनों स्थानों के उत्खनन से प्राप्त पुरातत्त्व सामग्री के आधार पर ज्ञात हुआ कि वहाँ लगभग ३,००० ई०पू० सुव्यवस्थित नगरों का निर्माण हो चुका था। इन दोनों प्राचीन पुरों में से हड़प्पा सिन्धु-सभ्यता के प्रसार का उत्तरी केन्द्र और मोहनजोदड़ो इस सभ्यता की पश्चिमी राजधानी थी। इसका प्रसार जम्मू क्षेत्र में चिनाब के किनारे माण्डा (अखनूर तहसील) से लेकर अरबसागर के किनारे सुटकागनडोर अथवा उससे भी आगे कंदहार में मुण्डीगाक तक था। पूर्व में इसका विस्तार मेरठ जिले में उखलीना तथा दक्षिण-पश्चिम की ओर कच्छ के रण-क्षेत्र में दोलावीरा, सुर्खकोटडा तथा काठियावाड़ में रंगपुर लोथल, सोमनाथ आदि तथा आगे नर्मदा और ताप्ती के मुहाने के पास खम्भात की खाड़ी तक पाया गया है।[2] इस प्रकार इसका प्रसार एक विशाल भू-क्षेत्र में था।

इस विस्तृत क्षेत्र में फैली हुई सभ्यता अपने कतिपय स्थानीय विशेषताओं के होते हुए भी समान तत्त्वों वाली थी। इन विभिन्न क्षेत्रों में भौतिक जीवन के एक जैसे उपकरण ही प्रयुक्त होते थे। आर्थिक व्यवस्था भी एक जैसी थी। एक लिपि का प्रयोग होता था और धार्मिक मान्यताओं में भी प्रायः एकरूपता थी। सम्भवतः राजनीतिक प्रशासन भी इस विस्तृत क्षेत्र में एक जैसा ही था।[3]

**सन्निवेश-समानताएँ**–हड़प्पा और मोहनजोदड़ो दोनों उत्तम नगर-विन्यास के उदारहण हैं। डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल के अनुसार–इनकी भूमिस्थ रूप-रेखा में प्रायः समानता है। इनका निर्माण पहले से सोची-समझी और अभ्यस्त योजना-प्रणाली पर हुआ था।[4] दोनों ही पुर भारतीय स्थापत्य के समान आदर्शों और सिद्धान्तों के आधार पर निर्मित थे। दोनों का सन्निवेश लगभग तीन मील के घेरे में हुआ था। इनमें से प्रत्येक के दो भाग थे–प्रथम दुर्गवाला भाग, जो कि नगर का पश्चिमी भाग (४००-५०० गज उत्तर-दक्षिण तथा २००-३०० गज पूर्व-पश्चिम, जिसकी ऊँचाई धरातल से ४० फुट) थी। यह, नगर का विशिष्ट भाग था। द्वितीय भाग–अवम नगर (Lower-City). अवम नगर में सामान्य जन निवास करते थे। अतः पुर का यह भाग

१. (क) "आसिन्धुनौगमाकूले।" –शुक्रनीति, अध्याय १.१४
(ख) "नदीसङ्गमे ह्रदस्य वा विशोषस्याङ्के।"
–अर्थशास्त्र (गैरोला), अधिकरण २, अध्याय ३, पृष्ठ १०३
(ग) "नदीतीरगता..............।" –विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, अध्याय ८.२०
(घ) "नदीभिः पुलिनप्रान्तैः.............।" –समराङ्गणसूत्रधार (शुक्ल-सम्पादित), १०.२८
२. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १
३. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ११
४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ३

प्राकार परिवेष्टित नहीं था। पुर-सन्निवेश की यह ऊर्ध्वाधर-योजना भारतीय वास्तुविद्याचार्यों की मौलिक देन थी। दुर्ग-परिवेष्टित भाग में सम्भवतः राजकीय या शासनिक सत्ता के विशिष्ट भवन और अधिकारी-गण के आवासीय भवन थे।[१] आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार वास्तु-विद्याचार्यों ने इनका विन्यास दुर्ग के रूप में किया था जिनमें परिखा, प्राकार, वप्र, द्वार, अट्टालक, महापथ, प्रासाद, कोष्ठागार, सभा, चत्वर, वीथी, जलाशय आदि वास्तु के विभिन्न अङ्ग प्राप्त हुए हैं। प्रो० सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने भी इन नगरों के चतुर्दिक् परिखा-प्राकार के उपलब्ध होने का उल्लेख किया है।[२]

**हड़प्पा**–जैसा कि यह उल्लेख किया जा चुका है कि हड़प्पा नगर रावी के तट पर बसा हुआ था। वर्तमान में यहाँ पर एक विशाल ग्राम बसा हुआ है।[३] इसके भग्नावशेषों में प्राप्त ईंटों को स्थानीय नागरिकों द्वारा स्वकीय कार्य-हेतु स्थानान्तरित कर देने के कारण दुर्गस्थ भवनों का कोई उचित स्वरूप सामने नहीं आया परन्तु उत्खनन से ज्ञात हुआ है कि वहाँ के भवनों का निर्माण योजना-बद्ध विधि से ही हुआ था।[४] स्थापत्यकला की दृष्टि से दुर्ग और रक्षा-प्राचीर के अतिरिक्त श्रमिक-निवासगृहों, चबूतरों और धान्यशाला का विशेष महत्त्व है।

**दुर्ग**–इस बात की ओर भी ध्यानाकृष्ट किया जा चुका है कि हड़प्पा-नगर दो भागों में विभक्त था, जिसमें एक भाग दुर्ग से घिरा हुआ था तथा दूसरा भाग दुर्गरहित था। दुर्ग वाला भाग आकार में सामान्तर चतुर्भुज था। इसकी लम्बाई उत्तर से दक्षिण की ओर ४६० गज तथा चौड़ाई पूर्व से पश्चिम की ओर २१५ गज थी। इसके स्थान पर अब एक उच्च टीला है, जिसे पुरातत्त्वविदों ने 'टीला ए-बी' की संज्ञा दी है।[५]

दुर्ग का निर्माण एक चबूतरे पर किया गया था जो धरातल से २० फुट से २५ फुट तक ऊँचा था।[६] केदारनाथ शास्त्री के अनुसार प्राकार की नींव के नीचे नदी-पङ्क के भराव से स्पष्ट है कि बाढ़ का पानी उच्छ्राय-रेखा ५४० तक आ जाता था,[७] अतः

१. (क) दि इण्डस् सिविलाइजेशन, पृष्ठ १६
–प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २ से उद्धृत।
(ख) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ३
२. वही, पृष्ठ ७५
३. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २
४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १५
५. दि इण्डस् सिविलाइजेशन, पृष्ठ १८
–प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १३ से उद्धृत।
६. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ४
७. सिन्धु-सभ्यता का आदि केन्द्र 'हड़प्पा', पृष्ठ १६८

प्रारम्भिक काल में इसका निर्माण बाढ़ के पानी से सुरक्षित रहने के उद्देश्य से किया गया था।[१] उसके भीतर राजकीय भवन, कर्मचारियों के आवास और श्रमिकों के गृह बने हुए थे। चौड़े राजमार्ग सुव्यवस्थित योजना के अनुसार निर्मित थे तथा देखने में भव्य लगते थे।[२]

**रक्षा-प्राकार**—दुर्ग की सुरक्षा के निमित्त एक बाह्य-प्राकार का निर्माण किया गया था, जो कि पर्याप्त ऊँचा था। इसकी चौड़ाई आधार में ४५ फुट[३]* और ऊँचाई ३५ फुट थी।[४] इसकी चौड़ाई ऊपर की ओर कम होती गई थी। इसके निर्माण में आन्तरिक-भाग में कच्ची ईंटों का तथा बाह्य-भाग में जहाँ बाह्य आक्रमण का विशेष भय था, वहाँ लगभग ४ फुट तक पक्की ईंटों का प्रयोग किया गया था।** अन्दर की ओर यह प्राकार कुछ ऊँचाई तक बिल्कुल सीधा था और सम्भवतः उसके गिरने के भय के कारण ऊपर वाला भाग कुछ तिरछा निर्मित था।[५]

इस सुरक्षा-भित्ति (प्राकार) में यथा-स्थान अट्टालकों और गोपुरों का निर्माण किया गया था। कुछ अट्टालकों को दीवारों के ऊपर उभरा हुआ भी पाया गया है। इसका प्रमुख द्वार सम्भवतः उत्तर की ओर था।[६] आक्रमणों से रक्षा के लिए पश्चिम की ओर सुरक्षा-भित्ति को न्यून-कोणात्मक बनाया गया था। यहीं पर एक अट्टालक है, जिसमें सुरक्षा-हेतु विशेष प्रबन्ध किया गया होगा। सुरक्षा-भित्ति के दक्षिणी सिरे पर दुर्ग तक चढ़ने के उद्देश्य से सीढ़ियों का भी निर्माण किया गया था,[७] जिससे यह विदित होता है कि प्राचीन हड़प्पा-निवासी सीढ़ियों की निर्माण-विधि और उसकी उपयोगिता से परिचित थे।

---

१. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ११
२. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ४
३. वही, पृष्ठ-४ तथा भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १३
४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ११
५. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १३
६. (क) वही, पृष्ठ १३
(ख) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ११
७. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १३

* डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल के अनुसार रक्षा-प्राचीर की चौड़ाई आधार में ४० फुट थी।
—द्रष्टव्य : प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ११

** डॉ० उदयनारायण राय के अनुसार प्राकार का निर्माण मिट्टी से किया गया था।
—द्रष्टव्य : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ४

जैसा कि यह उल्लेख किया जा चुका है कि हड़प्पा में आधुनिक हड़प्पा-निवासियों के पूर्वज अपने भवनों आदि के निर्माण-हेतु प्राचीन स्मारकों से ईटें का स्थानान्तरण करते रहे, अतः व्यवस्थित सामग्री का अभाव रहा तथापि दुर्ग की उत्तर-दिशा में स्थित 'टीला एफ', जिसकी ऊँचाई लगभग २० फुट है*, इसके उत्खनन से तीन प्रकार के भवन-समूह (श्रमिक-गृह, चबूतरे और धान्यशाला) के भग्नावशेष उपलब्ध हुए हैं।[१]

**श्रमिक-आवास/गृह**—प्रथम वर्ग के भवन-समूह में दुर्ग के समीप में ही दक्षिण की ओर दो भिन्न-भिन्न पंक्तियों में कतिपय छोटे-छोटे गृहों का निर्माण किया गया था, जिनकी पहचान पुरातत्त्वविदों ने श्रमिकों के गृहों के रूप में की है।[२] इनमें से उत्तर की पंक्ति में सात तथा दक्षिण की पंक्ति में आठ गृह निर्मित थे।** इन श्रमिक-गृहों की एकरूपता से ज्ञात होता है कि इनका निर्माण एक विशेष योजना के अन्तर्गत किया गया था, जो कि तत्कालीन राजकीय निर्माण को सूचित करते हैं। इनमें से प्रत्येक की लम्बाई-चौड़ाई ५४ × २४ फुट है।*** ये घर साधारण चहारदीवारी से भी घिरे हुए थे। प्रत्येक घर तीन चार फुट गली द्वारा विभक्त थे[३] और इनमें दो या तीन कमरे तथा आङ्गन भी था। प्रत्येक घर की फर्श में पकी ईंटों का प्रयोग किया गया था।[४] दीवारों की चिनाई में मिट्टी का गारा प्रयुक्त हुआ था परन्तु फर्श की ईंटों को जोड़ने के लिए जिप्सम का प्रयोग किया गया था।[५]

---

१. (क) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १५
   (ख) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ४
   (ग) भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १४
२. (क) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १५
   (ख) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ५
३. (क) सिन्धु-सभ्यता का आदिकेन्द्र 'हड़प्पा', पृष्ठ १७१
   (ख) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ५
४. (क) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १५
   (ख) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ५
   (ग) भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १५
५. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १५

* डॉ० उदयनारायण राय ने टीले की ऊँचाई ३० फुट बताई है।
—द्रष्टव्य : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन, पृष्ठ ४

** केदारनाथ शास्त्री के अनुसार प्रत्येक पंक्ति में सात-सात गृह थे।
—द्रष्टव्य : सिन्धु-सभ्यता का आदिकेन्द्र 'हड़प्पा', पृष्ठ १७१

*** कतिपय विद्वानों के अनुसार इनकी लम्बाई-चौड़ाई ५५×२५ तथा ५६×२४ फुट थी।

इन श्रमिक-गृहों के समीप में ही कुछ ऊँचाई पर भट्टियों के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिनका प्रयोग सम्भवतः धातु गलाने के लिए होता था।[१] अनुमान है कि ईंधन का कार्य कोयला तथा गोबर से लिया जाता था।[२] हड़प्पा के उत्खनन में कतिपय कुओं के अवशेष भी प्राप्त हुए हैं, जिनकी चिनाई अत्यन्त दृढ़ता से की गई थी। इनका उपयोग केवल पीने का पानी प्राप्त करने के लिए किया जाता था। अन्य कार्यों के लिए पानी रावी नदी से लिया जाता था।[३]

**चबूतरे**–हड़प्पा के पूर्वोक्त श्रमिक-गृहों के उत्तर में द्वितीय वर्ग के निर्माण थे, जिनकी पहचान चबूतरों के रूप में की गई है। इनकी संख्या १८ है तथा लगभग १० फुट की गोलाई में हैं। इनका निर्माण सुदृढ़ ईंटों से किया गया था। चबूतरों के मध्य भाग में एक गोलाकार गड्ढा छोड़ दिया गया था, जिसमें काष्ठ-निर्मित ओखली स्थापित की गई थी। उत्खनन से इनमें गेहूँ, जौ आदि अनाज के अस्तित्व के सङ्केत मिले हैं, जिससे ज्ञात होता है कि इन चबूतरों का निर्माण अनाज कूटने के उद्देश्य से किया गया था। यह कार्य समीप में ही स्थित गृहों में रहने वाले राजकीय श्रमिक करते थे।[४] डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल के अनुसार उन श्रमिकों के नङ्गे पैरों के चिन्ह भी देखे गये हैं।[५] इस प्रकार से अनाज कूटने की पद्धति आज भी भारत के कई भागों में देखी जा सकती है।

**धान्यशाला**–चबूतरों से उत्तर की ओर लगभग १०० गज की दूरी पर धान्यशाला का निर्माण किया गया था। यह १६९ फुट लम्बा तथा १३५ फुट चौड़ा विशालकाय भवन था। यह भवन दो पंक्तियों में विभक्त था, जिसकी दोनों पंक्तियों में छः-छः प्रकोष्ठ थे। इनकी लम्बाई-चौड़ाई ५०×२० फुट थी और मध्य में २३ फुट चौड़ा रास्ता था। प्रत्येक अन्न-प्रकोष्ठ एक-दूसरे से ५ फुट चौड़े रास्ते द्वारा पृथक्-पृथक् थे। प्रकोष्ठों का निर्माण ४ फुट ऊँचे चबूतरों पर किया गया था और उनका प्रवेश-द्वार उत्तर की ओर अर्थात् नदी की ओर था।[६]

---

१. (क) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १५
 (ख) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ५
२. वही, पृष्ठ ५
३. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १५
४. (क) वही, पृष्ठ १५
 (ख) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ५-६
५. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १५
६. वही, पृष्ठ १५

सिन्धु-सभ्यता के युग में धान्यशालाओं का अत्यन्त महत्त्वपूर्ण स्थान था, क्योंकि मुद्रा-विहीन युग होने के कारण तत्कालीन आर्थिक जीवन का आधार वस्तु-विनिमय था। धान्यशालाएँ राजकीय कोष के अन्तर्गत आती थीं, जिनके द्वारा विभिन्न उद्देश्यों की पूर्ति की जाती थी। अत एव प्रत्येक राज्य को बड़े-बड़े अन्न के भण्डारों की आवश्यकता थी, जिसमें राजकीय कर के रूप में प्राप्त अन्न को एकत्रित किया जा सके और राजकीय श्रमिकों को भी दैनिक मजदूरी देना सम्भव हो सके। हड़प्पा में रावी के तट पर अवस्थित धान्यशाला इस बात को सूचित करती है कि नदी की धारा के द्वारा जो अन्न राजकीय कर के रूप में प्राप्त होता था, उसे यहाँ तक सुविधा-पूर्वक लाया जा सकता था और यहाँ से अन्य स्थानों पर भी सुगमता से भेजा जा सकता था।

**मोहनजोदड़ो**–हड़प्पा में प्राप्त पुरातत्त्वाशेषों की अपेक्षा मोहनजोदड़ो के भग्नावशेष अधिक सुरक्षित अवस्था में पाये गये हैं, जिससे यहाँ के तत्कालीन सन्निवेश के सम्बन्ध में अत्यन्त स्पष्ट जानकारी उपलब्ध होती है और सैन्धव स्थापत्य में इनका विशिष्ट महत्त्व है। डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल ने लिखा है कि मोहनजोदड़ो में २० से लेकर ७० फुट ऊँचे थूहों की खुदाई में पानी की सतह तक अवशेषों की ७ तहें मिली हैं, जिनमें ऊपर की तीन परतें उत्तर-युग, बीच की तीन मध्य-युग और अंतिम सातवीं पूर्व-युग की हैं।[१] आचार्य रामदेव ने भी भिन्न-भिन्न समय में यहाँ पर अनेक बार नगर बसाने की उल्लेख किया है।[२]

इस बात का उल्लेख भी पूर्व में ही किया जा चुका है कि हड़प्पा और मोहनजोदड़ो, दोनों महानगरों का सन्निवेश समान मूलभूत आदर्शों पर आधारित था। जिस प्रकार से हड़प्पा-नगर दो भागों में विभक्त था, उसी प्रकार मोहनजोदड़ो का नगर भी 'दुर्ग-भाग' और 'नीचस्थ' या 'अवम-पुर' के रूप में दो भागों में बंटा हुआ था।[३]

**दुर्ग**–मोहनजोदड़ो के नगर का दुर्गवाला भाग नगर का पश्चिमी भाग था। नगर के इस भाग में राजपुरुषों के आवास और विशिष्ट नागरिकों के भवन स्थित थे। यह दुर्ग भी सामानान्तर चतुर्भुज की आकृति के सदृश था तथा इसके निर्माण-कार्य में तत्कालीन शिल्पियों ने अपनी उच्च प्रतिभा का परिचय दिया था। यह एक उन्नत कृत्रिम चबूतरे पर बसा था, जिसकी ऊँचाई उत्तर-दिशा में धरातल से ४० फुट एवं दक्षिण में २० फुट के लगभग रही होगी। यह मूलतः मिट्टी और अंशतः ईंटों द्वारा भी

१. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १५
२. भारतवर्ष का इतिहास, भाग २, पृष्ठ २९३
३. दि इण्डस् सिविलाइजेशन्, पृष्ठ २६ –प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन पृष्ठ ८ से उद्धृत।

निर्मित था। इसके चारों ओर मिट्टी का थूहा (वप्र) खड़ा किया गया था, जिसकी चौड़ाई लगभग ४३ फुट थी। इसके ऊपर सुरक्षा-भित्ति या प्राकार का निर्माण किया गया था।[1] इसकी तुलना अर्थशास्त्र[2] तथा समराङ्गणसूत्रधार[3] आदि ग्रन्थों में प्रदत्त वप्र-प्राकार-निर्माण सम्बन्धी निर्देश से की जा सकती है, जिनमें वप्र के ऊपर प्राकार के निर्माण का निर्देश दिया गया है।

मोहनजोदड़ो की रक्षा-भित्ति में भी अट्टालकों का निर्माण किया गया था। दुर्ग के दक्षिण-पूर्व के कोने में की ईंटें से निर्मित अट्टालक के अवशेष प्राप्य हैं। इसी प्रकार इसके पश्चिम किनारे पर भी तत्कालीन अट्टालक के अवशेष उपलब्ध हैं, जिसका निर्माण ईंटे द्वारा किया गया था। इसकी ऊँचाई वर्तमान में भी १० फुट के लगभग है। प्राकार के प्रत्येक प्रधान-दिशा में द्वार बनाये गये थे जिसके भीतर की ओर प्रहरी कक्ष भी निर्मित थे।[4] इस प्रकार की सुरक्षा-व्यवस्था इस देश में परवर्ती परम्परा में भी थी।

मोहनजोदड़ो में दुर्ग वाले भाग में जो अन्य स्मारक मिले हैं, उनमें विशेषतः विशाल स्नानागार, अन्नागार, सभा-भवन आदि उल्लेखनीय हैं। ये अपने निर्माण की उत्कृष्टता और मौलिक योजना के लिए आकर्षण का केन्द्र रहे हैं। अपनी वैज्ञानिक निर्माण-पद्धति के कारण तत्कालीन वास्तुकला के इतिहास में इनका महत्त्वपूर्ण स्थान रहा है।

**विशाल-स्नानागार**–दुर्ग वाले भाग में प्राप्त विभिन्न स्मारकों में स्नानागार सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है। यह एक विलक्षण कोटि का निर्माण था जहाँ पर स्नान करने की सुविधा के अतिरिक्त आवासीय भवन भी थे। मार्शल ने लिखा है कि ज्ञात होता है यह जल-चिकित्सा का बहुत बड़ा संस्थान था और मोहनजोदड़ो के उत्खनन में जितने भग्नावशेष निकले हैं, उनमें यही सबसे भव्य है।[5] इस विशाल स्नानागार से इस बात का सङ्केत मिलता है कि मोहनजोदड़ो की जनता के जीवन में स्नान का एक सांस्कृतिक महत्त्व था।

स्नानागार के मध्य में एक बहुत बड़ा जलकुण्ड था जो उत्तर से दक्षिण २९ फुट

---

१. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ८-९
२. "वप्रस्योपरि प्राकारम्।" –अर्थशास्त्र (गैरोला), अधिकरण २, अध्याय ३
३. "वप्रोर्ध्वभागगं.........कुर्यात् प्राकारम्।।"
–समराङ्गणसूत्रधार (शुक्लसम्पादित), अध्याय २३.२८
४. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ९
५. प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति, पृष्ठ १५ से उद्धृत।

लम्बा तथा पूर्व से पश्चिम २३ फुट चौड़ा और ८ फुट गहरा था।[१*] यह जलकुण्ड पक्की ईंटों से बना था और उसकी दीवारें बहुत दृढ थीं।[२] जलकुण्ड में उतरने-चढ़ने के लिए उत्तर तथा दक्षिण की ओर दोनों किनारों पर सोपान बने थे, जो लगभग ९ फुट चौड़े और ८ इंच ऊँचे थे। प्रत्येक सोपान किनारे पर इस प्रकार उठा हुआ था, जिन पर सरोवर के उपयोग के समय लकड़ी के तख्ते लगाये जाते थे। जहाँ सोपान-मालाओं की परम्परा समाप्त होती है, वहाँ पर दोनों ओर कुण्ड की चौड़ाई में १६ × ३९ इंच चबूतरे बने हुए थे।[३] जलकुण्ड के दक्षिण-पश्चिम के कोने पर एक छिद्र बना हुआ था, जिसका मुख समीपस्थ नाले की ओर खुलता था। इसके द्वारा आवश्यकतानुसार कुण्ड का जल बाहर निकाल दिया जाता था। जलकुण्ड के चारों ओर बरामदे बने हुए थे। दक्षिण के बरामदे के दोनों कोनों पर एक-एक छोटे कमरे एवं गलियारा स्थित था। उत्तरी बरामदे के पीछे छोटे-बड़े कई कमरे बने हुए थे। पूर्वी बरामदे के पीछे एक ही पंक्ति में कई छोटे-बड़े कमरे ब्रने थे, जिनमें से एक में जलकूप खुदा हुआ था। इस जलकूप से कुण्ड के भीतर जल भरने की व्यवस्था की गई थी। स्नानागार की भतरी दीवारें जल को रोकने में पूर्णतया समर्थ थीं।[४]

कमरों में स्थान-स्थान पर नल भी लगे हुए थे, जिनसे होकर सम्भवतः गरम पानी आता था। सभी कमरों की दीवारें बहुत सुदृढ़ थीं। इनकी चौड़ाई लगभग ४ से $४\frac{१}{४}$ फुट तक थी। दीवारें प्रायः बाहर की ओर पक्की ईंटों तथा बीच में कच्ची ईंटों से निर्मित थीं। दीवार की ईटों में एक विशेष प्रकार का मसाला लगाया गया था, जिसमें बलूचिस्तान में पाये जाने वाले चट्टानों का चूर्ण (विटूमेन), बालू एवं खड़िया मिट्टी की बुकनी मिलाई जाती थी। यह तत्कालीन अभियान्त्रिकी का ज्वलन्त प्रतीक है।[५] इन स्नानागारों में सीढ़ियों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं, जिनसे सूचित होता है कि इनके ऊपर के कमरे निवास के काम में आते थे और उन तक पहुँचने का रास्ता स्नानागारों

---

१. (क) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १०
(ख) भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १७
(ग) प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति, पृष्ठ १५
२. भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७५
३. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ११
४. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १०
५. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १७
* डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल ने जलकुण्ड की लम्बाई ३६ फुट बताई है।
–द्रष्टव्य : प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ११

से होकर जाता था। इस विशाल जलकुण्ड और स्नानागार के निर्माण का यथातथ्य प्रयोजन निर्धारित होने से रह गया है। विद्वानों का अनुमान है कि सम्भवतः इसका सम्बन्ध नागरिकों के धार्मिक जीवन से रहा होगा। इसमें किसी अवसर-विशेष पर स्नान करना पवित्र कार्य समझा जाता होगा।[१] यह भी सम्भव है कि इन कमरों में पुरोहित लोग निवास करते होंगे और इस जलकुण्ड का उपयोग किसी विशिष्ट धार्मिक प्रयोजन के लिए करते होंगे।[२]

**अन्नागार**–दुर्ग-भाग में स्नानागार के पश्चिम में एक अन्य भवन के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिसे मार्शल महोदय ने प्रारम्भिक उत्खनन से स्नानागार का एक अङ्ग हमाम समझा था परन्तु श्री ह्वीलर की देखरेख में १९५० ई० में किये गये उत्खनन से ज्ञात हुआ कि ये वहाँ निर्मित विशाल अन्नागार के अवशेष थे।[३] यह भी मोहनजोदड़ो के विलक्षण निर्माणों में था। इसकी बाहरी दीवारें अत्यन्त ठोस एवं ढालुआ कोटि की हैं, वे दुर्ग की दीवार की तरह लगती हैं। अन्नागार की लम्बाई १५० फुट तथा चौड़ाई ७५ फुट थीं। इसके भीतर समान रूप से परन्तु भिन्न परिमाण वाले ईंटों से निर्मित २७ प्रकोष्ठ थे। अन्नागार में प्रत्येक स्थान पर वायु-सञ्चार का समुचित प्रबन्ध था।[४] इसके उत्तर की ओर अन्नागार के दूसरे भाग के रूप में ईंटों से एक लम्बे चबूतरे का निर्माण किया गया था, जिसके माध्यम से धान्य उतारा-चढ़ाया जा सकता था। इसके पश्चिमी किनारे पर इस प्रकार की व्यवस्था थी, जहाँ बैलगाड़ी आदि वाहन अन्दर पास तक जा सकते थे।[५]

**सभाभवन**–दुर्ग के दक्षिणी-भाग में एक अन्य विशाल भवन के अवशेष प्राप्त हुए हैं। यह एक ९० फुट का वर्गाकार भवन था। इसमें चार पंक्तियों में इष्टका-निर्मित २० चौकोर स्तम्भों के अवशेष मिले हैं। प्रत्येक पंक्ति में स्तम्भों की संख्या ५ है। सम्भवतः इन स्तम्भों के ऊपर छत रही होगी।[६] स्तम्भों के मध्य में चार गलियारें उत्तर से दक्षिण की ओर जाते थे, जिनकी भूमि पर ईंटें बिछाई गई थीं। ५ फुट ६ इंच चौड़ी एक पट्टी उत्तर से दक्षिण छोड़ दी गई थी। विद्वानों का अनुमान है कि इन खाली

१. अल्चिन : दि बर्थ ऑफ् इण्डियन् सिविलाइजेशन्, पृष्ठ २४६
–प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ११ से उद्धृत।
२. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १३
३. वही, पृष्ठ १३
४. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १३
५. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १३
६. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १८

पट्टियों पर विशिष्ट जनों के बैठने के लिए आसन निर्मित थे।[१] मार्शल के अनुसार इस भवन में बैठने की ठीक वैसी ही व्यवस्था थी जैसी समीप में स्थित बौद्ध संघाराम में रही होगी।[२] डॉ० उदयनारायण राय ने सम्भावना व्यक्त की है कि हो सकता है इसमें प्रधान व्यक्ति के बैठने के उद्देश्य से प्रमुख आसन की भी व्यवस्था पृथक् रूप से रही होगी। उनके अनुसार दुर्ग के भीतर इसकी स्थिति प्रमाणित करती है कि मोहनजोदड़ो के नगर-जीवन में इसका स्थान अत्यन्त विशिष्ट रहा होगा। सम्भवतः सार्वजनिक लाभ के ध्येय से यह स्वयं राज्य की ओर से ही निर्मित हो। नृत्य-वाद्य या विशेष पर्वों एवं समारोहों का आयोजन तथा विशिष्ट पुर-वासियों की सभा एवं बैठक आदि की व्यवस्था इसमें की जाती होगी। मोहनजोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त सुप्रसिद्ध नर्तकी-मूर्त्ति इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि तत्कालीन नागरिक नृत्य एवं वाद्य के कार्यक्रम द्वारा पारस्परिक मनोविनोद करते होंगे। इस सभा-भवन के निर्माण का प्रयोजन जन-समुदाय का लाभ एवं कल्याण रहा होगा।[३] मैके का अनुमान है कि यहाँ पर 'राजकीय आपण' लगता होगा[४] परन्तु अधिकांश भारतीय विद्वानों ने इसे राजसभा-भवन/मण्डप या संस्थागार मानना ही उचित बताया है, जहाँ सम्भवतः सैन्धव सभ्यताकाल में राजसभा या राजपुरुषों अथवा कुलीन वर्ग के विशिष्ट सदस्यों की बैठक होती थी।[५] क्योंकि इस प्रकार की परम्परा परवर्ती काल में भी इस देश में देखने को मिलती है। कतिपय विद्वानों की भ्रान्तिपूर्ण धारणा है कि बहु-स्तम्भों वाले भवन-सन्निवेश की कला भारतीय नहीं अपितु ईरान की देन है, परन्तु मोहनजोदड़ो के उत्खनन से प्राप्त इन अवशेषों से उनकी मान्यता निराधार सिद्ध हो जाती हे। इसके अतिरिक्त वैदिक साहित्य में सहस्र-स्तम्भों वाले विशाल भवन की चर्चा है, जिसका सङ्केत पूर्व के पृष्ठों में किया जा चुका है।

स्नानागार के उत्तर-पूर्व की ओर एक अन्य विशाल भवन के अवशेष प्राप्त हुए हैं, जिसकी लम्बाई-चौड़ाई २३०×७८ फुट है तथा जिसकी बाहरी दीवार ६ फुट ९ इंच

---

१. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १३
२. वही, पृष्ठ १३ से उद्धृत।
३. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १४
४. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १८ तथा
प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति (गोखले) पृष्ठ १५ से उद्धृत।
५. (क) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १४
(ख) भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १८
(ग) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १५

तक मोटी है।[१] मैके के अनुसार यह सम्भवतः किसी बड़े अधिकारी सम्भवतः बड़े पुराहित का निवास या पुरोहितों का विद्यालय था।[२] डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल ने मोहनजोदड़ो नगर (दुर्ग-भाग) के चित्र में इसे महाविद्यालय (College) बताया है[३] परन्तु साथ में यह भी लिखा है कि वर्तमान अपर्याप्त अवशेषों के आधार पर कोई निश्चित मत देना सम्भव नहीं है।[४] इसमें ३३ फुट लम्बा-चौड़ा वर्गाकार आँगन भी है, जिसके तीन ओर बड़े-बड़े बरामदे हैं और उनके पीछे कई छोटे-छोटे कमरे हैं।[५] सम्भवतः ये मूल भवन से परवर्ती काल के हैं।[६]

**अवम-नगर के अवशेष**–अवम-पुर मोहनजोदड़ो नगर का पूर्वी भाग था जिसमें जनसाधारण के आवासीय भवन थे। इसके उत्खननों से पुरातत्त्व-सम्बन्धी जो अवशेष उपलब्ध हुए हैं, वे अत्यन्त महत्त्वपूर्ण हैं। पुर का यह भाग कई सुनियोजित खण्डों में विभाजित था, जिससे परिष्कृत पुर-सन्निवेश का परिचय मिलता है। यहाँ पथों और महापथों की विस्तृत योजना थी, जिसके बीच में नागरिक भवनों का निर्माण किया गया था। घरों और सड़कों का सुनियोजित निर्माण इस बात की पुष्टि करता है कि तत्कालीन शासन-व्यवस्था में नगर-नियोजन का एक अत्यन्त कार्य-कुशल विभाग था।

**सड़कें** –मोहनजोदड़ो नगर में सड़कों का जाल सा बिछा था। यहाँ पर जो सड़कें हैं, वे या तो उत्तर से दक्षिण की ओर या फिर पूर्व से पश्चिम की ओर सीधी रेखा मे जाती हैं और एक-दूसरे को समकोण पर काटती हैं।[७] राजमार्गों के निर्माण में तत्कालीन अभियन्ताओं ने अपनी कार्य-कुशलता का श्लाघनीय परिचय दिया था। नगर का प्रमुख राजमार्ग ३३ फुट चौड़ा है और यह नगर के ठीक बीच में उत्तर से दक्षिण की ओर गया है, जिसमें एक साथ कई गाड़ियाँ चल सकती हैं। इस प्रमुख मार्ग को काटता हुआ जो राजमार्ग पूर्व से पश्चिम की ओर गया है, वह इससे भी अधिक चौड़ा है तथा

---

१. (क) भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १८
   (ख) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १३
२. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १८
३. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ६
४. वही, पृष्ठ १३
५. (क) वही, पृष्ठ १३
   (ख) भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ १८
६. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ १५
७. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ २०

यह भी नगर के ठीक बीच में है। इन दोनों राजमार्गों के समानान्तर जो अन्य सडकें हैं, वे भी चौड़ाई में बहुत पर्याप्त हैं। ये अन्य सड़कें भी ९ से १८ फुट तक चौड़ी हैं। सड़कों को मिलाने वाली वीथिकाओं की भी चौड़ाई न्यून नहीं है। न्यूनातिन्यून चौड़ी गली ४ फुट है।[१*]

सड़कों के द्वारा एक दूसरी को समकोण पर काटने से इन सड़कों के बीच-बीच में लगभग समान परिमाण से छोटे-छोटे मण्डल बन गये हैं, जिनकी लम्बाई-चौड़ाई क्रमशः सामान्यतया (पूर्व-पश्चिम) १,२०० फुट तथा (उत्तर-दक्षिण) ८०० फुट है।[२] पुरातत्त्वीय उत्खननों द्वारा ७ पुर-मण्डल प्रकाश में लाये गये थे, जो कि वीथिकाओं द्वारा उपमण्डलों में विभक्त थे।[३] नगर के चत्वरों पर प्रहरी-कक्ष निर्मित थे।[४] डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल के अनुसार पूर्व से पश्चिम तथा उत्तर से दक्षिण की ओर जाने वाले राजमार्ग द्वारा एक-दूसरे को काटने पर निर्मित चतुष्पथ किसी भी आधुनिक महानगर के चतुष्पथ के बराबर है।[५]

मोहनजोदड़ो की सड़कें यद्यपि काफी चौड़ी तथा सीधी थीं तथापि उनमें ईंटें आदि बिछाकर उन्हें पक्की नहीं बनाई गई थी। प्रो० सत्यकेतु विद्यालङ्कार ने लिखा है कि केवल मुख्य सड़क, जो उत्तर से दक्षिण की ओर जाती है, उसमें इस बात के चिन्ह पाये गये हैं कि उसे किसी समय ईंटों के टुकड़ों से पक्की करने का प्रयत्न किया गया था परन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि इसमें सिन्धु-सभ्यता के तत्कालीन लोगों को सफलता नहीं मिली। अतः इस परीक्षण को अन्य सड़कों में नहीं दोहराया गया।[६] कृष्णदत्त वाजपेयी ने भी आंशिक रूप से सड़क पर गिट्टियाँ बिछाने का उल्लेख करते हुए इसी प्रकार की सम्भावना व्यक्त की है।[७]

**नागरिक भवन**—मोहनजोदड़ो के उत्खनन से यहाँ के नागरिक-भवनों के सम्बन्ध में उत्कृष्ट ज्ञान प्राप्त होता है। यहाँ प्राप्त पुरातत्त्वीय साक्ष्यों से विदित होता है कि

१. भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७२
२. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ २०
३. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १५
४. वही, पृष्ठ १५
५. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु,पृष्ठ ५
६. भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७२
७. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ २०
* कई लेखकों ने राजमार्गों की अधिकतम चौड़ाई ३० या ३४ फुट तथा वीथिकाओं की चौड़ाई ५ से १० फुट तक बताई है। सम्भवतः कहीं-कहीं इनकी चौड़ाई न्यूनाधिक होगी।

तत्कालीन सभ्यता में गृह-सन्निवेश की सुनियोजित शैली आविर्भूत हो चुकी थी। यहाँ पर निर्मित भवनों को उपलब्ध पुरातात्त्विक प्रमाणों में इस देश के सुखद आवासों का प्राचीन उदाहरण माना जा सकता है। यहाँ पर सड़कों और गलियों के दोनों ओर भवनों का निर्माण किया गया था। ये भवन सादगी के सिद्धान्त पर निर्मित थे तथापि वे अपनी सुदृढ़ता एवं निर्माण-सम्बन्धी उत्कृष्टता के लिए विख्यात थे। इनकी नींव काफी गहराई तक दी गई थी। अनगढ़ ईंटों का प्रयोग प्रायः आधार वाले भाग में किया जाता था परन्तु धरातल के ऊपर की भवन-भित्ति में गढ़ी हुई ईंटों से चिनाई की जाती थी।[१] भवनों की बाहरी दीवारें एक-दूसरे से मिली हुई नहीं थीं। धरातल का अन्तर ऊपर दीवारों के तिरछी होने के कारण बढ़ता गया था।[२] सड़कों और गलियों के साथ निर्मित भवनों की दीवारों की ऊँचाई १८ से २५ फुट तक थी[३], जिससे यह अनुमान लगाया जा सकता है कि सिन्धु-वासियों के भवन ऊँचे और विशाल थे। दीवारों में ईंटों को जोड़ने के लिए मिट्टी का गारा प्रयुक्त होता था परन्तु कभी-कभी उसमें चूना भी मिला लिया जाता था।[४] दीवारें इतनी मोटी और दृढ़ होती थीं कि दो या तीन-तीन छतों का बोझ सहन कर सकती थीं।[५] भीतर की दीवारों में प्रायः सुधालेप (मिट्टी का लेप) चढ़ाने की प्रथा थी परन्तु बाहर की भित्तियां सादी हैं[६], अतः स्पष्ट रूप से यह नहीं कहा जा सकता कि बाहर की दीवारों में सुधा-लेप लगाते थे या नहीं।

सिन्धु-सभ्यता में भवन-निर्माण-हेतु अनेक आकारों की ईंटों का प्रयोग किया जाता था। भवन-निर्माण में जिन ईंटों का प्रयोग बाहुल्य के साथ हुआ है, उनका आकार १०$\frac{३}{४}$× ५ × २$\frac{१}{४}$ इंच है।[७] इनका उत्पादन खुले साँचे में पाथकर होता था, जैसा कि आज भी भारत और पूर्वी देशों में होता है। इन ईंटों को पकाने के लिए समीपस्थ जङ्गलों की लकड़ी का प्रयोग किया जाता था।[८]

---

१. (क) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १६-१७
   (ख) प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति (गोखले), पृष्ठ १४
२. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ २२
३. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७; भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७२
४. (क) वही, पृष्ठ ७३
   (ख) प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति, पृष्ठ १४
५. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५
६. (क) भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ २२
   (ख) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७
७. भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७३
८. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ९

मोहनजोदड़ो के भवनों का आकार औसतन ३० × २७ फुट होता था और विशेष भवन प्रायः इसके दुगुने होते थे।[१] यह बात अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है कि सिन्धु-सभ्यता के भवनों में आङ्गन एक प्रमुख तत्त्व था। यह आङ्गन प्रत्येक घर के केन्द्रीय स्थान में हुआ करता था, जिसके तीन ओर प्रकोष्ठ बने होते थे और एक ओर प्रवेश-मार्ग होता था। आङ्गन के एक कोने में ही रसोईघर बनाया जाता था।[२]

स्नानागार प्रत्येक गृह का अनिवार्य अङ्ग होता था, जिसमें जल को सञ्चित रखने को भी व्यवस्था थी।[३] स्नानागारों के फर्श पक्की ईंटों द्वारा निर्मित थी। इनकी जुड़ाई गारे और चूने से की गई थी। स्नानागारों का निर्माण जनपथ की ओर किया जाता था जिससे स्नान आदि में प्रयुक्त जल सरलता से स्नानागार से बाहर निकल सके।[४]

यद्यपि भवनों की छत कहीं भी अवशिष्ट नहीं मिली परन्तु मोहनजोदड़ो में जो ऊँची दीवारें मिली हैं, उनमें छिद्रों की विद्यमानता यह प्रमाणित करती है कि छतों के निर्माण के लिए धरनों तथा बल्लियों का प्रयोग किया जाता था। छतों को बनाने के लिए पहले धरने और बल्लियाँ डालकर सरकण्डे या एक दृढ़ चटाई बिछा दी जाती थी और उसके ऊपर मिट्टी बिछाकर तथा उसे कूटकर पक्का कर दिया जाता था।[५] एक स्थान पर सरकण्डों के चिन्हों से युक्त मिट्टी मिली है।[६] आधुनिक काल में भी भारत के अनेक भागों में इसी प्रकार से निर्मित छतें देखी जा सकती हैं।

मोहनजोदड़ो और हड़प्पा में प्राप्त अवशेषों में सोपान-निर्माण के प्रमाण भी प्रकाश में आये हैं, जिनसे यह सूचित होता है कि यहाँ के भवन कम से कम एक मञ्जिल वाले अवश्य रहे होंगे। इन सोपानों का निर्माण पत्थर और लकड़ी से किया जाता था[७] परन्तु यह भी सम्भव है कि कतिपय भवनों में सोपानों का निर्माण सम्पूर्ण

१. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५
२. (क) प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति, पृष्ठ १४
   (ख) भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७४
   (ग) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५-७
३. भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७४
४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७
५. (क) भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७४
   (ख) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु पृष्ठ ५
६. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ २२
७. (क) प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १८
   (ख) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५
   (ग) भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७४

रूप से लकड़ी से ही किया जाता हो। वहाँ पर प्राप्त बहुत से सोपानों की ऊँचाई १५ इंच तथा चौड़ाई ५ इंच है।[1] इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी भवन थे, जिनकी सीढ़ियाँ चौड़ी और सुविधाजनक थीं। एक विशाल भवन में ऐसी सीढ़ियाँ मिली हैं, जिनकी ऊँचाई २$\frac{१}{४}$इंच तथा चौड़ाई ८$\frac{१}{४}$इंच थी।[2] सम्भव है यह भवन किसी सम्पन्न व्यक्ति का था।

**उन्नत नाली-प्रबन्ध**–सिन्धु-वासियों के उन्नत जीवन और स्वास्थ्य-प्रियता का प्रमाण उत्तम नाली-प्रबन्ध था, जिनका निर्माण सभी प्रमुख सड़कों तथा प्रायः सभी चौड़ी गलियों के दोनों ओर किया गया था।[3] इन्हें सिन्धु-उपत्यका की तत्कालीन सभ्यता में नगर-सन्निवेश का एक आवश्यक अङ्ग समझा गया था, चाहे इसका कारण वर्षा का अधिक होना ही क्यों न हो।* यह स्वास्थ्य-रक्षा की वैज्ञानिक व्यवस्था वहाँ के शिल्पियों के मस्तिष्क की मौलिक देन थी, जो कि समकालीन बाह्य सभ्यताओं में अप्राप्य थी। पाश्चात्य पुरातत्त्वविदों ने तत्कालीन भारतीय अभियन्ताओं के इस प्रकार के वैज्ञानिक व्यवस्था की प्रचुर प्रशंसा की है।

नालियों का निर्माण पक्की ईंटों से किया जाता था। सड़कों के किनारे निर्मित नालियों की अपेक्षा गलियों के साथ बनी नालियाँ छोटी होती थीं।[4] इन नालियों को वैज्ञानिक रूप प्रदान करने के लिए खुली ईंटों से ढ़क दिया जाता था, जिससे आवश्यकता पड़ने पर नाली को सुगमतापूर्वक साफ किया जा सके। अधिक चौड़ी नालियों के ढ़कने के लिए पत्थरों का भी प्रयोग होता था।[5]

घरों की ऊपरी मञ्जिल से पानी को बहाने के लिए पाइप के सदृश आकार वाली पकी मिट्टी की नालियाँ निर्मित की जाती थीं। इन्हें टूटने से बचाने के लिए मिट्टी की दोहरी परत द्वारा ईंटों की खोल चढ़ाकर चारों ओर ढ़क दिया जाता था।[6] घरों से बाहर

१. (क) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५
   (ख) भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७४
२. भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७४
३. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ २४
४. (क) भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७२
   (ख) सिंधु-सभ्यता (सतीश चन्द्र), पृष्ठ ९
   –भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृ० २२ से उद्धृत।
५. (क) भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७२
   (ख) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ५
६. (क)प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १८

* विद्वानों के कथनानुसार सिन्धु-घाटी में अब की अपेक्षा उस युग में अधिक वर्षा होती थी।

आने वाला पानी पहले एक गड्ढे में गिरता था और फिर जलमार्ग के द्वारा सड़कें के साथ बनी नालियों में जा मिलता था। इससे गंद गड्ढों में बैठ जाता था, जिनकी सफाई नियमित रूप से सम्भव थी और नगर से जल-निकास की प्रमुख प्रणाली बिना अवरोध के कार्यरत रहती थी। इस प्रकार नगर के विभिन्न भागों से एकत्रित जल नालियों के द्वारा सीमान्त भागों में विशाल नालों में चला जाता था। ये विशाल नाले ४ या ५ फुट गहरे तथा २$\frac{१}{२}$ फुट चौड़े होते थे।[१] इन नालों में कहीं-कहीं सीढ़ियाँ भी बनाई गई थी, जिनके द्वारा नीचे उतरकर उन्हें भली-भाँति साफ किया जा सके।[२]

हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो के अतिरिक्त कालीबंगा (राजस्थान), ढोलवीरा/धौलवीरा और लोथल (गुजरात) का भी प्राचीन भारतीय स्थापत्य के दृष्टिकोण से महत्त्वपूर्ण स्थान है। इन स्थानों के उत्खनन-साक्ष्य से भी यह स्पष्ट है कि इन नगरों का सन्निवेश हड़प्पा और मोहनजोदड़ो की ही भाँति आदर्श योजना पर आधारित था। इन स्थानों में भी सुरक्षा-प्राचीर के अवशेष उपलबध हुए हैं, जिनमें अट्टालकों का प्रावधान था। कालीबंगा में कूपों तथा अग्नि-वेदिकाओं के अस्तित्व के भी प्रमाण मिले हैं।[३] आवास-गृह एक से अधिक मञ्जिल वाले भी थे, जिनके निर्माण में प्राय: कच्ची ईटों का प्रयोग हुआ था। इस प्रकार तत्कालीन इन प्राचीन सन्निवेशों में अत्यन्त उत्कृष्ट वास्तु-सिद्धान्त के दर्शन होते हैं।

## लौकिक साहित्य

लौकिक साहित्यिक साधनों में भी वाल्मीकि-रामायण, भरतुमनि का नाट्यशास्त्र, महाभारत, शुक्रनीति, अष्टाध्यायी, अर्थशास्त्र तथा बौद्ध जातक आदि प्राचीन ग्रन्थ हैं, जिनका समय निश्चित रूप से ज्ञात नहीं हैं और इनकी निश्चित तिथियों के अभाव में परवर्ती ग्रन्थों में प्राप्त नामोल्लेखों अथवा सङ्केतों को आधार बनाकर ऊहापोह किया जाता है। अत: इस विषय को न लेते हुए यहाँ पर कहीं-कहीं मात्र सङ्केत ही किया गया है। इन ग्रन्थों में वास्तु-सम्बन्धी जो समाग्री उपलब्ध होती है, उसका ऐतिहासिक महत्त्व है। जैसा कि पहले ही यह उल्लेख किया जा चुका है कि इनमें वास्तुशास्त्रीय सामग्री प्रसङ्गवश उल्लिखित मिल जाती है परन्तु ये ग्रन्थ भारतीय वास्तुकला के इतिहास को बनाने में अत्यन्त मूल्यवान् हैं। यहाँ पर ऐसे ही कतिपय ग्रन्थों में प्राप्त वास्तुकला का संक्षिप्त विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

---

१. (क) प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७
   (ख) सिन्धु-सभ्यता का आदि केन्द्र 'हड़प्पा', पृष्ठ १६७-६८
२. भारत का प्राचीन इतिहास (सत्यकेतु), पृष्ठ ७३
३. युग-युगीन भारतीय कला, पृष्ठ ३६

**वाल्मीकि रामायण**—भारतीय परम्परा में रामायण का काल त्रेता और द्वापर-युग की संधि-काल माना जाता है परन्तु आधुनिक विद्वानों ने उसके मुख्य-भाग का रचना-काल ५०० ई०पू० के लगभग माना है। उनके अनुसार इस ग्रन्थ के कतिपय अंश बहुत बाद में जोड़े गये। अस्तु, वाल्मीकिरामायण में भारतीय स्थापत्यकला की बहुत उन्नत अवस्था का चित्रण हुआ है। इसमें नगरों, प्रासादों, दुर्गों आदि के विस्तृत विवरण उपलब्ध होते हैं। स्थापत्यकला के विशेषज्ञों को समाज में बहुत प्रतिष्ठा मिलती थी। देवों और असुरों के प्रधान स्थापत्यविज्ञों अर्थात् विश्वकर्मा और मय का उल्लेख बहुत बार हुआ है।[१]

इस ग्रन्थ में '**स्थपति**', '**सूत्रकर्म-विशारद**', '**तक्षक**', तथा '**वर्धकि**' जैसे तकनीकी शब्दों का उल्लेख हुआ है।[२] भारतीय स्थापत्यग्रन्थों के अनुसार ये पारिभाषिक शब्द हैं, जो कि इनके कार्यों के आधार पर रखे जाते थे। रामायण में प्रयुक्त '**अनेक भूमि**'[३] '**सप्तभूमि**', '**अष्टभूमि**'[४] प्रभृति शब्दों से अनेक तलों वाले भवनों का पता चलता है। भवनों को उनकी विशेषताओं के आधार पर भिन्न-भिन्न कोटियों के अन्तर्गत रखा जाता था। जेसे—चतुःशाल, पद्म, स्वस्तिक, वर्धमान आदि।[५] इसी प्रकार 'प्रासाद', 'विमान', 'हर्म्य', 'सौध' आदि शब्दों का प्रयोग विभिन्न प्रकार के राजप्रासादों के लिए हुआ है। ये सभी नाम बाद में शिल्पशास्त्रों में प्रयुक्त हुए हैं।

वाल्मीकीय रामायण में चार प्रकार के दुर्गों का उल्लेख हुआ है। जैसे—१. नादेय,

---

१. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ४३

२. अथ भूमिप्रदेशज्ञाः सूत्रकर्म विशारदाः।
स्वकर्माभिरताः शराः खनका यन्त्रकास्तथा।
कर्मान्तिकाः स्थपतयः पुरुषा यन्त्रकोविदाः।
तथा वर्धकयश्चैव मार्गिणो वृक्षतक्षकाः।।
—वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ८०.१-२

३. "......................प्रासादैर्नैकभूमिभिः।
—वही, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ३३.८

४. "सप्तभौमाष्टभौमैश्च..............।
—वही, सुन्दरकाण्ड, सर्ग २.५२

५. ................पद्मस्वस्तिकसंस्थितैः।।
वर्धमनगृहैश्चापि सर्वतः सुविभूषितः। —वही, सुन्दरकाण्ड, सर्ग ४.७-८

२. पार्वत्य, ३. वन्य, और ४. कृत्रिम।[1] इस ग्रन्थ में अयोध्या,[2] किष्किन्धा,[3] लङ्का[4], जैसे नगरों के वर्णनों से स्पष्ट है कि नगरों, दुर्गों और अंत:पुरों की रक्षा के लिए दृढ़ प्राकारों का निर्माण किया जाता था। उनके चारों ओर गहरी परिखाएँ खोदी जाती थीं। नगरों के चारों ओर प्राकारों में गोपुर (द्वार) बनाये जाते थे। पुर-प्राकारों के ऊपर

---

१. "नादेयं पार्वतं वान्यं कृत्रिमं च चतुर्विधम्।" -वाल्मीकि रामायण, युद्धकाण्ड, सर्ग ३.२०

२. अयोध्या-वर्णन-
(क) "कपाटतोरणवतीम् .....................। सर्वयन्त्रायुधवतीम्............................।।"
(ख) "दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्।" -वही, बालकाण्ड, सर्ग ५.१०; १३
विस्तृत-वर्णन-हेतु द्रष्टव्य : बालकाण्ड, सर्ग ५

३. किष्किन्धा-वर्णन-
"पाण्डुरेण तु शैलेन परिक्षिप्तं दुरासदम्।"
-वही, किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ३३.१४
अधिक विवरण-हेतु द्रष्टव्य : किष्किन्धाकाण्ड, सर्ग ३३

४. लङ्का-विवेचन-
(क) "परिखाभिः सपद्माभिः सोत्पलाभिरलङ्कृताम्।।"
(ख) सीतापहरणात् तेन रावणेन सुरक्षिताम्।
समन्ताद् विचरद्भिश्च राक्षसैरुग्रधन्वभिः।।
(ग) "काञ्चनेनानवृतां रम्यां प्राकारेण महापुरीम्।"
(घ) वप्रप्राकारजघनां विपुलाम्बुवनाम्बराम्।
शतघ्नीशूलकेशान्तामट्टालकावतं सकाम्।। -वही, सुन्दरकाण्ड, सर्ग २.१४-१६; २१
(ङ) "शातकुम्भेन महता प्राकारेणाभिसंवृताम्।"
(च) "द्रक्ष्यामि नगरीं लङ्कां साट्टप्राकारतोरणाम्।" -वही, सुन्दरकाण्ड, सर्ग ३.६;३३
(छ) दृढबद्धकपाटानि महापरिघवन्ति च।
चत्वारि विपुलान्यस्या द्वाराणि सुमहान्ति च।।
(ज) तत्रेषूपालयन्त्राणि बलवन्ति महान्ति च।
आगतं प्रतिसैन्यं तैस्तत्र प्रतिनिवार्यते।।
(झ) "सौवर्णस्तु महांस्तस्याः प्राकारो दुष्प्रधर्षणः।" -वही, युद्धकाण्ड, सर्ग ३.११-१२; १४
(ञ) सर्वतश्च महाभीमाः शीततोया महाशुभाः।
अगाधा ग्राहवत्यश्च परिखा मीनसेविताः।।
(ट) द्वारेषु तासां चत्वारः संक्रमाः परमायताः।
यन्त्रैरुपेता बहुभिर्महद्भिर्गृहपङ्क्तिभिः।।
(ठ) परिखाश्च शतघ्न्यश्च यन्त्राणि विविधानि च।
शोभयन्ति पुरीं लङ्कां रावणस्य दुरात्मनः।। -वही, युद्धकाण्ड, सर्ग ३.१५-१६; २३
विस्तृत-विवेचन के लिए द्रष्टव्य : वही, सुन्दरकाण्ड, सर्ग २-१०; युद्धकाण्ड, सर्ग ३;३९ आदि।

अट्टालकों का निर्माण किया जाता था। उनके ऊपर से शत्रुओं की गतिविधियों का निरीक्षण किया जाता था। राजप्रासाद के भवन, प्रासाद, विमान, हर्म्य और सुधास नाम से जाने जाते थे। प्रासादों की सबसे ऊपर की मञ्जिल में शिखरों, श्रृङ्गों एवं चन्द्रशालाओं का निर्माण किया जाता था। प्रासादों में झरोखे तथा खिड़कियाँ होती थीं। कुछ खिड़कियों में सोने की जालियाँ (हेमजाल) लगायी जाती थीं।[१] प्रासादों को अलङ्कृत करने के लिए उसमें बाहर की ओर विभिन्न प्रकार की मूर्तियाँ उकेरी जाती थीं। रावण के राजप्रासाद को चिड़ियों, सर्पों, अश्वों आदि की रत्नजटित प्रतिमाओं से अलङ्कृत बताया गया है।[२]

रामायण में साधारण भवनों तथा प्रासादों के अतिरिक्त धार्मिक कृत्यों के लिए वेदी, देवायतन, यूप प्रभृति शब्दों का भी उल्लेख प्राप्त होता है।[३] इस ग्रन्थ में सभा (यज्ञशाला) का भी विवरण मिलता है, जिसका सम्बन्ध सामान्य तथा विशिष्ट जन, दोनों वर्गों के धार्मिक जीवन से था। गृहों एवं प्रासादों के वर्णन में कहीं-कहीं अतिशयोक्ति मिलती है। रत्नजटित खिड़कियों, चमकीली फर्शों तथा सोने-चाँदी की दीवारों के विवरण अनेक स्थलों में प्राप्त होते हैं। इससे यह कहना कठिन है कि इनके निर्माण में किस प्रकार की सामग्री का प्रयोग किया जाता था। सभा-भवनों और वेदिकाओं के निर्माण में ईंटों का प्रयोग होता था। कुछ भवन पत्थर के बने होते थे।[४]

---

१. (क) "......................वेश्मादिषु चन्द्रशालाः।।"–वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग ७.२
(ख) "तोरणैः काञ्चनैर्दिव्यलतापङ्क्तिविराजितैः।"
(ग) "......................स्तम्भैः काञ्चनसंनिभैः।
शातकुम्भनिभैर्जालैः......................।।"
(घ) "तलैः स्फटिकसंकीर्णैः कार्तस्वरविभूषितैः।।"
(ङ) "वैदूर्यमणिचित्रैश्च मुक्ताजाल विभूषितैः।"
(च) "काञ्चनानि विचित्राणि तोरणानि च रक्षसाम्।"
(छ) "......................महार्हजाम्बूनदजालतोरणाम्।"
–वही, सन्दरकाण्ड, सर्ग २.१८; ५१; ५२-५३; ५४; ५६
(ज) "जाम्बूनदमयैर्द्वारैर्वैदूर्यकृतवेदिकैः।।"
(झ) "वज्रस्फटिकमुक्ताभिर्मणिकुट्टिमभूषितैः।"
(ञ) "जालवातायनैर्युक्तं काञ्चनैः स्फाटिकैरपि।" –वही, सुन्दरकाण्ड सर्ग ३.८-९
२. कृताश्च वैदूर्यमया विहङ्गा रूप्यप्रवालैश्च तथा विहङ्गाः। –वही, सुन्दरकाण्ड, सर्ग ९.१६
चित्राश्च नानावसुभिर्भुजङ्गा जात्यानुरूपास्तुरगाः शुभाङ्गाः।। –वही, सुन्दरकाण्ड, सर्ग ७.१२
३. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ४३
४. (क) "शिलागृहैः..................।"
(ख) "शिलागृहैरुन्मथितैस्तथा गृहैः..................।।"
–वाल्मीकि रामायण, सुन्दरकाण्ड, सर्ग १४.२८; ४१.१९

इसी प्रकार से स्थापत्यकला का अत्यन्त विस्तृत विवरण कवित्व भाषा में प्रत्येक पृष्ठ में प्राप्त होता है।

**नाट्यशास्त्र ( भरतमुनि )**–नाट्यशास्त्र में भरतमुनि ने नाट्यमण्डप की रचना-विधि के नियमों को निर्धारित करते हुए उसके महत्त्व को प्रदर्शित किया है। इस ग्रन्थ में नाट्यशाला अथवा रङ्गशाला के सन्निवेश-प्रसङ्ग में ही वास्तुकला-सम्बन्धी बातों का वर्णन हुआ है। जैसे–भूमि-चयन, उसका परिमार्जन, उसके विस्तार के परिमाण का निर्धारण, नाट्यशाला का मानचित्र, शिलान्यास करने की धार्मिक विधि, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य तथा शूद्र वर्णों के आधार पर चार प्रकार के स्तम्भों की रचना, भित्ति-रचना, दो द्वारों से युक्त प्रसाधन-प्रकोष्ठ, रङ्गपीठ और चार स्तम्भों पर आधारित रङ्गपीठ के दोनों पार्श्वभागों में पूरी लम्बाई में निर्मित प्राग्रीव आदि।[१]

इस ग्रन्थ में भूमि-चयन के सन्दर्भ में उपलब्ध नियमानुसार भूमि बराबर होनी चाहिए। वह ऊँची-नीची न हो*, स्थिरा एवं कठिना हो अर्थात् आन्तरिक जलस्रोत के कारण खिसकने वाली न हो और कूड़े आदि डालकर पाटी हुई होने से आन्तरिक पोली न हो, जिसमें मिट्टी काली एवं गोरी हो, उस भूमि पर नाट्यमण्डप का सन्निवेश करना चाहिए।[२]

इस ग्रन्थ में रङ्गमञ्च के फर्श को कूर्मपृष्ठ के समान ( बीच में अधिक उभरा हुआ) अथवा मत्स्यपृष्ठ की भाँति (लंबा एवं दूर तक उभरा) न बनाकर दर्पण की तरह समतल बनाने का उल्लेख हुआ है।[३] रङ्गमञ्च को किसी धातु या पाषाण आदि से निर्मित हाथियों, चीतों आदि की मूर्तियों से अलङ्कृत करना चाहिए।[४] रङ्गमञ्च दो तले का होना चाहिए और उसमें छोटे झरोखे भी होने चाहिए।[५] उसको मंद-मंद वायु का

---

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २

२. समा स्थिरा तु कठिना कृष्णा गौरी च या भवेत्।
भूमिस्तत्रैव कर्तव्यः कर्तृभिर्नाट्यमण्डपः।। –वही, अध्याय २.२५

३. एवंविधं प्रकर्तव्यं रङ्गशीर्षं प्रयत्नत्।
कूर्मपृष्ठं न कर्तव्यं मत्स्यपृष्ठं तथैव च।।
शुद्धादर्शतलाकारं रङ्गशीर्षं प्रशस्यते। –वही, अध्याय २.७३-७४

४. "नानासञ्जवनोपेतं वहुव्यालोपशोभितम्।" –वही, अध्याय २, पृष्ठ १८

५. "नानाविन्याससंयुक्तं यन्त्रजालगवाक्षकम्।" –वही अध्याय २, पृष्ठ १८

* पाठ में प्रयुक्त 'समा' का अभिप्राय जो भूमि स्वभाव से ही न तो नीची हो और न ही ऊँची हो किन्तु बराबर हो। –मधुसूदन शास्त्री (नाट्यशास्त्र, प्रथम भाग, अध्याय २, पृष्ठ १७४)

सञ्चार वाला या वायु की तरङ्गों से रहित तथा श्रुति विषयक गुणों से परिपूर्ण होना चाहिए।[१]

**महाभारत**–वर्तमान-रूप में उपलब्ध महाभारत को विद्वान् द्वितीय शताब्दी में पूर्ण हुआ मानते हैं। इसके कुछ अंशों को विवेच्य युग में रचित कहा जा सकता है। महाभारत जैसे बृहद्काय ग्रन्थ में अनेक सन्दर्भों में प्राचीन भारतीय स्थापत्यकला का विस्तृत वर्णन प्राप्त होता है। इस युग में वास्तुकला विकास के अंतिम किनारे को छूती पाई जाती है, दूसरे शब्दों में इस काल तक वास्तुविद्या का पर्याप्त विकास हो चुका था। पाण्डवों का राजप्रासाद जो स्थल में जल तथा जल में स्थल का आभास देता था, भवन- निर्माण के अद्भुत कौशल को दर्शाता है। इन्द्रप्रस्थ नगर के सम्बन्ध में जो विवरण महाभारत में मिलता है, वह नगर-निर्माण की योजना पर अच्छा प्रकाश डालता है।[२] इसका निर्माण देवों के स्थपति विश्वकर्मा ने श्रीकृष्ण के आह्वान पर खाण्डव वन के दाह के पश्चात् सुनियोजित रीति से हस्तिनापुर से श्रेष्ठ रूप में किया था। इस ग्रन्थ में द्वारका[३] मिथिला[४] तथा तैरने वाले नगर (Floating City)[५] का भी उल्लेख हुआ है।

महाभारत में छः प्रकार के दुर्गों का उल्लेख हुआ है, जो निम्नलिखित हैं– १. धन्वदुर्ग, २. महीदुर्ग, ३. गिरिदुर्ग, ४. मनुष्यदुर्ग, ५. जलदुर्ग तथा ६. वनदुर्ग।[६] महाभारत में इन दुर्गों की भाँति विभिन्न लक्षणों के आधार पर वर्गीकृत विभिन्न प्रकार के गृहों के नाम उपलब्ध होते हैं। इस ग्रन्थ से भी यह ज्ञात होता है कि सुरक्षा की दृष्टि से नगरों के चारों ओर प्राकार का निर्माण किया जाता था तथा परिखाएँ भी खोदी जाती थीं और उसे जल से भर दिया जाता था। अतिरिक्त सुरक्षा की दृष्टि से इन परिखाओं में घातक जल-जन्तुओं को छोड़ दिया जाता था। इस ग्रन्थ में इन्द्रप्रस्थ नगर के चतुर्दिक् विद्यमान चौड़ी परिखाओं की तुलना सागर से की गई है।[७] महाभारत में

१. नाट्यशास्त्र, अध्याय २.८२
२. महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९
३. वही, सभापर्व, अध्याय ५७
४. वही, वनपर्व, सभापर्व
५. वही, वनपर्व, अध्याय १७३.३–इण्डियन् आर्किटेक्चर ऑक्कार्डिंग टू मानसार शिल्पशास्त्र, पृष्ठ १७ से उद्धृत।
६. धन्वदुर्गं महीदुर्गं गिरिदुर्गं तथैव च।
मनुष्यदुर्गमब्दुर्गं वनदुर्गं च तानि षट्।। –महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ८७.५
७. "सागर प्रतिरूपाभिः परिखाभिरलङ्कृताम्।" –महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९.२९

सभापर्व के अन्तर्गत विभिन्न सभा-भवनों का भी वर्णन प्राप्त होता है, जिनमें इन्द्र-सभा, यम-सभा, वरुण-सभा, कुबेर-सभा तथा ब्रह्म-सभा उल्लेखनीय हैं।[१]

**पुराण**—पुराण का वास्तविक अर्थ 'प्राचीन' है। भारतीय परम्परा में पुराणों की गणना वेदों के बाद होती है। सम्भवतः पौराणिक कथाएँ प्राचीन काल में रही होंगी परन्तु इन्हें बहुत बाद में समय-समय पर लिपि-बद्ध किया गया होगा। पुराणों में वर्णित वास्तुकला. तत्कालीन समाज की समृद्धता एवं वैभवता की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करती है। सभी पुराणों में से अधिकांश पुराण स्थापत्य-विज्ञान का विवेचन करते हैं। ये सुरम्य-महल एवं उन्नत गृह-निर्माण की उच्चकला के साथ एतद्विषयक ज्ञान की उत्कृष्टता को प्रदर्शित करते हैं। इनमें नगरनिर्माण, ग्रामनिर्माण, भवननिर्माण, राजाप्रासादनिर्माण, देवप्रासादनिर्माण, शयनकक्ष, आयुधगृह का निर्माण तथा विभिन्न प्रतिमाओं का निर्माण बहुत श्रेष्ठता के साथ वर्णित हैं परन्तु यहाँ वास्तु, शिल्प तथा चित्रकला आदि का विस्तृत वर्णन नहीं किया जा रहा है, अपितु यहाँ एक प्रकार से सङ्केतमात्र ही समझना चाहिए। लगभग सभी १८ पुराणों में स्थापत्यकला का वर्णन यत्र-तत्र मिलता है परन्तु अधोलिखित कतिपय पुराणों में एतद्विषयक उल्लेख कुछ विस्तृत एवं ज्ञानवर्धक हैं।

**मत्स्यपुराण**—मत्स्यपुराण में स्थापत्य-विज्ञान का क्रमानुसार वर्णन प्राप्त होता है। जैसे-वास्तुभूतोद्भव नामक अध्याय में वास्तुपुरुष की उत्पत्ति,[२] एकाशीति-पदवास्तु-निर्णय में भूमि-परीक्षा और पददेवता-विन्यास का विवरण दिया गया है।[३] गृहमान-निर्णय नामक अध्याय में सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, वर्द्धमान आदि भवनों का उल्लेख हुआ है,[४] जिनका वर्णन स्थापत्यग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों में भी स्थापत्योल्लेख-प्रसङ्ग में प्राप्त होता है। इस पुराण के २५५ वें अध्याय में रुचक, वज्र, द्विवज्र, प्रलीनक तथा वृत्त—इन पांच प्रकार के महास्तम्भों का वर्णन हुआ है, जिनमें से प्रथम चार प्रकार के स्तम्भ अनेक कोण वाले और वृत्त अर्थात् मध्यस्थल में बनाये जाने वाला स्तम्भ गोल होता है।[५] प्रासाद-निर्देश[६] और मण्डपलक्षणादि[७] नामक अध्याय

१. महाभारत, सभापर्व, अध्याय ७-११
२. मत्स्यपुराण, अध्याय २५२
३. वही, अध्याय २५३
४. वही, अध्याय २५४
५. रुचकश्चतुरः स्यातु अष्टास्रो वज्र उच्यते।।
द्विवज्रः षोडशास्रस्तु द्वात्रिंशास्तः प्रलीनकः।
मध्यप्रदेशे च स्तम्भो वृत्तो वृत्त इति स्मृतः।। -वही, अध्याय २५५.२-३
६. वही, अध्याय २६९
७. वही, अध्याय २७०

मन्दिर-स्थापत्य का विस्तृत वर्णन करते हैं, जिनमें उनकी योजना, परिमाण, तलें, गुम्बद तथा छतों आदि की चर्चा है। इसमें भवननिर्माण-सम्बन्धी आवश्यकताओं के अन्तर्गत दार्वाहरण का भी वर्णन प्राप्त होता है।[१] इसके अतिरिक्त इसमें प्रतिमारचना-कला का भी वर्णन हुआ है।[२] भविष्य,[३] ब्रह्माण्ड[४], वायु[५] और नारदपुराण[६] भी अपने-अपने ढंग से इस विषय का वर्णन करते हैं।

**अग्निपुराण**—पुराणों में अग्निपुराण का विशेष स्थान है। आचार्य बलदेव उपाध्याय के अनुसार इस पुराण को यदि समस्त भारतीय विद्याओं का विश्वकोश कहें तो किसी प्रकार की अत्युक्ति नहीं होगी।[७] अग्निपुराण में वास्तुशास्त्र से सम्बन्धित १६ अध्याय हैं परन्तु वास्तुकला का वर्णन उतना विस्तारपूर्वक प्राप्त नहीं होता जितना विस्तृत वर्णन मूर्तिरचना-कला का हुआ है। इसमें वास्तु,[८] जिसमें नगरनिवेश से सम्बन्धित निर्देश है, जैसे-नगर का विस्तार, उसका प्रशस्त आकार, नगर के आवश्यक अङ्ग-प्राकार, द्वार आदि का उल्लेख तथा उसमें विभिन्न वर्णों और व्यवसाय जीवियों का यथा-स्थान निवास आदि। इस पुराण में नगर में निर्माण किये जाने वाले देवालयों का उल्लेख प्रासादलक्षण कथन[९] नामक अध्याय में तथा सामान्य-प्रासादलक्षण[१०] नामक अध्याय में हुआ है। अन्य १३ अध्यायों में मूर्ति-रचना-कला का विवेचन हुआ है। डॉ० शुक्ल के अनुसार अग्निपुराण और गरुड़पुराण के वास्तुविद्या से सम्बन्धित अध्याय एक जैसे हैं, अतः एक को दूसरे का अनुकरण माना जा सकता है।[११] डॉ० तारापद भट्टाचार्य के मतानुसार इन दोनों पुराणों का उद्गम हयशीर्ष-पञ्चरात्र हो सकता है, जिसकी गणना अग्निपुराण में उल्लिखित २५ तन्त्रों में हुई है।[१२]

**गरुडपुराण**—गरुड़पुराण की हिन्दू-स्थापत्य को महत्त्वपूर्ण देन है। इसके दो

१. मत्स्यपुराण, अध्याय २५७
२. वही, अध्याय २५८ (नवताल-लक्षण), २६३ (लिङ्ग-लक्षण), २९२ (पीठिका-लक्षण)
३. भविष्यपुराण, मध्य-पर्व, अध्याय १२; ब्रह्म-पर्व अध्यय १३०-१३२
४. ब्रह्माण्डपुराण, अध्याय ७
५. वायुपुराण, भाग १, अध्याय ३९
६. वायुपुराण, भाग १, अध्याय १३
७. पुराणविमर्श, पृष्ठ १५१
८. अग्निपुराण, अध्याय १०६
९. वही, अध्याय ४२
१०. वही, अध्याय १०४
११. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ७९
१२. वही, भाग १, पृष्ठ ७९ से उद्धृत।

अध्यायों में वास्तुकला से सम्बन्धित विषयों का प्रतिपादन हुआ है, जिसमें सभी प्रमुख विषय, जैसे–राजप्रासाद, दुर्ग, उद्यान, मन्दिर, मठ तथा तीन प्रकार के भवनों–आवासीय, सैनिक एवं धार्मिक का वर्णन हुआ है।[१] इसमें मूल और मान के आधार पर विभिन्न प्रासादों को वैराज, पुष्पक, कैलास, मालिका तथा त्रिविष्टप नाम से पांच वर्गों में विभाजित किया गया है[२] और इनसे ही चालीस प्रकार के प्रासादों का जन्म बताया गया है।[३]

**स्कन्दपुराण**–स्कन्दपुराण भी एक प्रारम्भिक पुराण माना जाता है। यह अत्यन्त विशाल-काय पुराण है। इसमें वास्तुकला से सम्बन्धित तीन अध्याय हैं। इसके एक अध्याय में नगरनिर्माण का विस्तृत वर्णन है।[४] वैष्णवखण्ड के पच्चीसवें तथा माहेश्वर-खण्ड के चौबीसवें अध्याय में स्वर्णिम प्रधान-कक्षों, रथों और कल्याण-मण्डपों के निर्माण का वर्णन प्राप्त होता है।

**विष्णुधर्मोत्तरपुराण**–विष्णुधर्मोत्तरपुराण को स्थापत्यकला, मूर्तिकला और चित्रकला का कोषग्रन्थ कहा जा सकता है। इस पुराण के ४३ अध्यायों में वास्तुकला, मूर्तिकला और चित्रकला का वर्णन हुआ है। इस पुराण में मानव-गृहों तथा देव-गृहों की रचना का निरूपण पृथक्-पृथक् है। इसमें छः प्रकार के दुर्गों, उनके चारों ओर बनाई जाने वाली परिखा, देवालय, राजप्रासाद, राजमार्ग, विभिन्न वणिकों और व्यवसाय जीवियों के बाजार तथा भवनों का वर्णन किया गया है। इसमें उन वस्तुओं का भी उल्लेख हुआ है, जिनका सञ्चय भाण्डागार में करना चाहिए। विभिन्न प्रकार के तोपों का उल्लेख करते हुए बताया गया है कि दुर्ग में कहां-कहां पर उन्हें स्थापित करना चाहिए। इसमें वाटिका आदि का भी वर्णन मिलता है।[५]

इस पुराण के २९ वें अध्याय में गृहनिर्माण-हेतु उपयुक्त भूमि का चयन, पुष्प, दीपक और जल के द्वारा उसकी परीक्षा[६], पुरभूमि की चतुष्षष्टि भागों में

१. गरुड़पुराण, अध्याय ४६-४७

२. प्रामादानाञ्च वक्ष्यामि मानं योनिञ्च मानतः।
वैराजः पुष्पकाख्यश्च कैलासो मालिकाह्वयः।
त्रिविष्टपञ्च पञ्चैते प्रासादाः सर्वयोनयः।।–वही, अध्याय ४७. १९

३. एतेभ्य एव सम्भूताः प्रासादाः सुमनोहराः।
सर्वप्रकृतिभूतभ्यश्चत्वारिंशच्च एव च।। –वही, अध्याय ४७. २१

४. स्वयं विश्वकर्मद्वारा निर्मापितमहीनगरस्थापनवर्णनम्।
–स्कन्दपुराण, महेश्वर-खण्ड, भाग-२, अध्याय २५

५. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड २, अध्याय २६

६. गर्भे च कुसुमं यस्यां नम्लानिमुपगच्छति। न निर्वाणमाप्नोति यस्यां दीपश्च भार्गव।।
उदकं च तथा यस्यां शीघ्रं राम न जीर्यते। सा प्रशस्ता क्षितिस्तस्यां निवेशं कारयेद्बुधः।।
–विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड २, अध्याय २९. ६-७

विभाजन[१] उसके विभिन्न भागों को विभिन्न देवों को समर्पित करना, गृहभूमि का विभाजन और भवनों के विभिन्न भागों का विभाजन आदि वास्तुकला-विषयक बातों का वर्णन है।[२] इसमें आठ हाथों से अधिक भूमिका के और सौ हाथों से अधिक ऊँचे भवनों के निर्माण का निषेध है।[३]

विष्णुधर्मोत्तरपुराण के ३०वें अध्याय में वृक्षों के आरोपण-सम्बन्धी नियमों का उल्लेख है, जिसमें गृहपति को गृह के वाम-भाग में उद्यान-रचना करने का निर्देश दिया गया है।[४] इसी प्रसङ्ग में उद्यान में लगाये जाने वाले प्रशस्त वृक्षों के अन्तर्गत अशोक, पुन्नाग, शिरीष, आम्र, प्रियङ्गु और पनस आदि का नामोल्लेख हुआ है।[५] इसके अतिरिक्त इस अध्याय में वृक्षों को ऋतु के अनुसार जल प्रदान करने तथा किस वृक्ष में किस प्रकार की खाद देनी चाहिए और उनके विभिन्न प्रकार के रोगों की चिकित्सा किन-किन औषधियों से करनी चाहिए, इत्यादि बातों का भी वर्णन है।[६]

चित्रकला वास्तुकला का ही एक अङ्ग है, अतः इस प्रसङ्ग मे विष्णुधर्मोत्तरपुराण में चित्रकला का भी वर्णन हुआ है।[७] इसमें भित्तिचित्र-रचना की विधियों एवं उसके उपायों और साधनों का वर्णन है। इस क्रम में प्रलेपरचना-विधि का भी उल्लेख है जो

---

१. चतुःषष्टि पदं कृत्वा वास्तुपूर्वं यथाविधि।
चतुःषष्टिविभागेन कल्पयित्वा समन्ततः।। -वही, खण्ड २, अध्याय २९. १२
२. वही, खण्ड २, अध्याय २९
३. अष्टहस्तोच्छ्रयादूर्ध्वं भूमिकासं तु न कारयेत्।।
वास्तूच्छ्रयं न कर्तव्यं तथा हस्तशताधिकम्। -वही, खण्ड २, अध्याय २९. ६०-६१
४. "वामभागे तथोद्यानं कुर्याद्वासगृहाच्छुभम्।" -वही, खण्ड २, अध्याय ३०.३
५. अथोद्याने प्रवक्ष्यामि प्रशस्तान्पादपान्द्विज।
अरिष्टाशोकपुन्नागशिरीषाम्रप्रियङ्गवः।।
पनसाशोककदलीजम्बूलकुचदाडिमाः।
माङ्गल्याः पूर्वमारामे रोपणीया गृहेषु वा।।
कृत्वा बहुत्वमेतेषां रोप्यासस्सर्वे ह्यनन्तरम्।
शाल्मलिं कोविदारं च वर्जयित्वा विभीतकम्।।
असनं देवदारुं च पलाशं पुष्करं तथा।
न विवर्ज्यस्तथा कश्चिद्देवोद्यानेषु जानता।।
तत्रापि बहुता कार्या माङ्गल्यानां द्विजोत्तम। -वही, खण्ड २, अध्याय ३०.१०-१४
६. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड २, अध्याय ३०
७. वही, खण्ड ३, अध्याय ३५-४३

एक शताब्दी पर्यन्त नष्ट न हो सके और ऐसे मूल रङ्गों तथा मिश्रित रङ्गों की निर्माण-विधि का उल्लेख हुआ है, जो पानी से नहीं धुलता।[१] इस पुराण में चित्रकला के सम्बन्ध में निम्नलिखित विषयों का उल्लेख प्राप्त होता है–चार प्रकार के चित्र–सत्य, वैणिक, नागर एवं मिश्र; पांच प्रकार की मानवाकृतियाँ, जिन्हें शास्त्रीय भाषा में हंस, भद्र, मालव्य, रुचक और राशक कहा जाता है। तीन प्रकार की शैलियाँ–पत्र, अहैरिका एवं बिन्दुजा; चित्रकला के गुण दोष; चित्र के दो भेद–परोक्षवस्तु–देव, अर्धदेव, असुर आदि; प्रत्यक्षवस्तु–मनुष्य, पशु आदि। परोक्षवस्तु-सम्बन्धी चित्रों के विषय में प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित स्वरूप का अनुकरण करने और प्रत्यक्ष वस्तु-सम्बन्धी चित्रों में यथार्थ आकृति के सादृश्य को चित्रित करने का आदेश दिया गया है।[२]

विष्णुधर्मोत्तरपुराण में देवालयों और राजसभा-भवनों में नवरसों को प्रदर्शित करने के शास्त्रीय आदेशादि-विषयक व्याख्या भी मिलती है।[३] इस पुराण में विभिन्न देव-मूर्तियों की आकृतियों में किन-किन विशेष लक्षणों को प्रकट करना अनिवार्य है, इसका वर्णन भी हुआ है।[४] इसमें सौ प्रकार के देव-मन्दिरों और उनकी वास्तुकला-सम्बन्धी रूप-विलक्षणताएँ[५], सर्वतोभद्र नामक देवमन्दिर की रचना[६], सभी प्रकार के मन्दिरों के सामान्य-लक्षण,[७] देवालय-निर्माणार्थ दारुपरीक्षा-विधि,[८] शिला-परीक्षा-विधि,[९] इष्टकाओं को पकाने के उपाय[१०], चिरस्थाई अवलेह अथवा वज्रचूर्ण (Cement) बनाने की विधि,[११] भूमिपरीक्षा एवं गृहभूमि का चुनाव[१२] और वास्तुपुरुष के स्वरूप का वर्णन है।[१३]

**शुक्रनीति**–यद्यपि 'शुक्रनीति' मुख्यतः राजनीति का प्रख्यापक एक महत्त्वपूर्ण

१. विष्णुधर्मोत्तरपुराण, खण्ड ३, अध्याय ४०
२. वही, खण्ड ३, अध्याय ४०
३. वही, खण्ड ३, अध्याय ४१-४३
४. वही, खण्ड ३, अध्याय ४४-४५
५. वही, खण्ड ३, अध्याय ८६
६. वही, खण्ड ३, अध्याय ८७
७. वही, खण्ड ३, अध्याय ८८
८. वही, खण्ड ३, अध्याय ८९
९. वही, खण्ड ३, अध्याय ९०
१०. वही, खण्ड ३, अध्याय ९१
११. वही, खण्ड ३, अध्याय ९२
१२. वही, खण्ड ३, अध्याय ९३
१३. वही, खण्ड ३, अध्याय ९५

ग्रन्थ है तथापि इसमे स्थापत्यकला-विषयक चर्चा मिलती है। इस ग्रन्थ में आचार्य शुक्र ने जो राजधानी-नगर का चित्र उपस्थित किया है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि तत्कालीन भारतवर्ष की भौतिक सभ्यता बहुत उन्नत अवस्था में थी। इस ग्रन्थ में राजधानी के सन्निवेश-हेतु उपयुक्त भूमि के सम्बन्ध में प्राकृतिक सौन्दर्य को महत्त्व प्रदान करते हुए बहुविध वृक्षों और नदीतीर-प्रदेश आदि के होने का उल्लेख हुआ है।[१] इसमें राजधानी-नगर का आकार, उसके आवश्यक विविध अङ्ग-प्राकार, परिखा, राजसभा-भवन, सड़कें, उद्यान, उपवन, धर्मशालाएँ, राजप्रासाद और उसकी रचनाविधि, गोशाला, अश्वशाला आदि का वर्णन प्राप्त होता है।[२] राजनिवास में स्नानागार, पाकशाला, उपासना-गृह आदि का निर्माण उचित दिशा में करने का भी निर्देश मिलता है।[३] यद्यपि इस ग्रन्थ में राजभवन-निर्माण[४] आदि वास्तुविज्ञान-विषयक उल्लेख हुआ है परन्तु इससे कहीं अधिक विस्तृत और सूक्ष्म विवेचन प्रतिमा-रचना विधि का हुआ है,[५] जिसका उद्देश्य ध्यान-योग की सिद्धि बताया गया है।[६] इसमें देव-प्रासाद के निर्माण का भी वर्णन मिलता है।[७] इस ग्रन्थ से यह विदित होता है कि उस युग में दुर्ग-निर्माण में विशेष ध्यान देते हुए उसका निर्माण पर्वत से दूर किया जाता था[८] और उसे परिखा तथा उत्तम प्रकार के आयुधादि से युक्त होना अनिवार्य था।[९]

**अष्टाध्यायी**–मुनि पाणिनि-प्रणीत व्याकरणग्रन्थ, अष्टाध्यायी, जिसका रचना-काल ई०पू० ५ वीं शताब्दी (७वीं से ४थी शताब्दी ई०पू०, युधिष्ठिर मीमांसक, व्याकरण शास्त्र का इतिहास) माना जाता है, स्थापत्यकला-सम्बन्धी उत्तम परिचय देता है। इस ग्रन्थ में कापिशी, तक्षशिला, हस्तिनापुर, सङ्काश्य, कम्पिल्य आदि अनेक प्रमुख नगरों का उल्लेख मिलता है।[१०] इससे यह विदित होता है कि पाणिनि के समय तक स्थापत्यकला तथा नगरयोजना में पर्याप्त प्रगति हो चुकी थी। पुरनिवेश के पूर्व

१. शुक्रनीति, अध्याय १. २१३-१४
२. वही, अध्याय १. २१५-२२
३. वही, अध्याय १. २२३-२८
४. वही, अध्याय १. २२८-३९
५. वही अध्याय ४. ७१-१२८; १३५-२०५
६. "ध्यानयोगस्य संसिद्धये प्रतिमालक्षणं स्मृतम्।" -वही, अध्याय ४.७१
७. वही, अध्याय ४.६२-६९ ; १३०-१३४ आदि।
८. "..........ह्यसमीपमहीधरः।" -वही, अध्याय १, पृष्ठ ९५
९. वही, अध्याय १. २४०-५१
१०. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ८५-८८

जिन-जिन स्थानों पर वप्र, प्राकार, पुरद्वार और राजप्रासाद आदि का सन्निवेश करना होता था, उन-उन स्थानों पर पहले से ही चिन्ह लगा दिये जाते थे। इसे नगरमापन की संज्ञा दी जाती थी।[१]

यद्यपि अष्टाध्यायी में 'प्राकार' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है परन्तु कात्यायन ने 'प्राकारीय देश' (वह भूमि जिस पर प्राकार का निर्माण किया जाये) तथा 'प्राकारीय इष्टका' जैसे शब्दों का प्रयोग किया है। पाणिनि ने देवपथ शब्द का प्रयोग किया है। अर्थशास्त्र के तुलनात्मक अध्ययन से ज्ञात होता है कि देवपथ उस प्रशस्त ऊँचे मार्ग को कहते थे, जो प्राकार के ऊपर इन्द्रकोश या कङ्गुरों के पीछे बनाया जाता था।[२]

प्राकारों में द्वारों का निर्माण किया जाता था। पाणिनि ने इसके नामकरण के विषय में लिखा है-'अभिनिष्क्रामति द्वारम्'[३] अर्थात् द्वार का नामकरण उस नगर के नाम पर होना चाहिए, जिसकी ओर उस द्वार से निकल कर मार्ग जाता हो। जैसे-'माथुरं कान्यकुब्जद्वारम्' यह नाम कान्यकुब्ज नगर के उस द्वार को दिया जाना चाहिए, जो मथुरा नगर की ओर अभिमुख हो।[४] यह परम्परा भारत में बाद में भी विद्यमान रही।

प्राकारों तथा पुरद्वारों के अतिरिक्त राजप्रासाद के अङ्ग के रूप में पुर में अन्य भवनों का भी निर्माण होता था, जिनमें से कतिपय भवनों का ज्ञान पाणिनि द्वारा प्रयुक्त 'कोष्ठागार' 'भण्डागार'[५] और राजसभा, आपण[६] जैसे शब्दों से होता है। सड़कों के लिए पाणिनि से 'सञ्चर' शब्द का प्रयोग किया है।[७] ग्रामों में गृहों का निर्माण लकड़ी के डण्डों तथा घास-फूस के द्वारा किया जाता था।[८]

**अर्थशास्त्र**–कौटिल्य अर्थशास्त्र में प्राचीन भारतीय स्थापत्यकला-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। इस ग्रन्थ में प्रदत्त वास्तु की वैज्ञानिक परिभाषा से स्पष्ट है कि कौटिल्य के युग में वास्तुविज्ञान अत्यन्त प्रसिद्ध था। जैसा कि इससे पूर्व के पृष्ठों में उल्लेख किया जा चुका है कि अर्थशास्त्र में भवनों और उसके निर्माण की कला, मनोरञ्जक स्थलों-**उपवनों, सेतुबन्धों** * तथा **सरोवर** आदि को वास्तु की संज्ञा

१. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४२
२. वही, पृष्ठ १४४
३. अष्टाध्यायी, ४.३.८६
४. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ १४५
५. अष्टाध्यायी, ४.४.७०
६. वही, ३. ३. ११९
७. वही, ३. ३. ११९
८. वही, ५. १. १३
* प्रत्येक घर के चारों ओर चारों कानों पर लोहे के छोटे खम्भे गाड़कर उनमें जो तार खींच दिया जाता है, उसी का नाम सेतु (सीमा) है-कर्णकीलायससम्बन्धोऽनुगृहं सेतुः। -अर्थशास्त्र, अधिकरण ३, अध्याय ८

दी गई है।[1] इस ग्रन्थ में एक राज्य में भूमि-विभाजन की रूपरेखा प्रस्तुत की गई हैं। एक ग्राम में कितने भवनों का निर्माण करना आवश्यक है, एक ग्राम दूसरे ग्राम से कितनी दूरी पर स्थिति हो और सीमा-निर्धारण के कौन से साधन हों इत्यादि बातों का उल्लेख हुआ है।[2] इसमें ग्राम-समुदायों की रचना के अनन्तर नगरनिर्माण की रूपरेखाओं का भी उल्लेख हुआ है।[3] नगरनिर्माण के प्रसङ्ग में कौटिल्य ने बाह्य आक्रमणों से नगर को सुरक्षित रखने के लिए सीमा-दुर्गों के निर्माण का निर्देश दिया है।[4] इन दुर्गों के ही बीच में जनपदों तथा देश की आन्तरिक व्यवस्था की सुरक्षा के लिए नगरों की स्थापना की जाती थी।

स्थानीय नगरों का निर्माण एक विशेष योजना के आधार पर किया जाता था जिनके भू-भागों की योजना पहले से ही तैयार की जाती थी। अर्थशास्त्र में प्रयुक्त **'वास्तुकप्रशस्तदेश'**, **'नदीसङ्गम'** तथा **'ह्रद'**[5] जैसे शब्दों से स्पष्ट है कि किसी भी नगर के निर्माण से पूर्व वास्तुविद्या के विशारद शिल्पी भूमि की परीक्षा करते थे, वहाँ के जल की परीक्षा करते थे और विशेष रूप से बड़ी नदियों के किनारे एवं जलाशयों के तट को देखकर नगरों का मानचित्र तैयार किया जाता था।

नगर की सुरक्षा-हेतु परिखाओं, वप्र तथा प्राकार आदि का निर्माण[6] नगर के विभिन्न भागों को परस्पर संयोजित करने वाले राजमार्गों की योजना, नगर में आगमन-निर्गमन के लिए जल, स्थल तथा गुप्त-मार्गों का निर्माण[7] और पानी निकालने के लिए नालियों और नहरों की व्यवस्था[8] इस निर्णय पर पहुँचाती है कि नगरनिवेश के लिए उत्तम पदविन्यास कौटिल्य के काल की एक निश्चित व्यवस्था थी। इस ग्रन्थ में जहाँ

---

१. गृहं क्षेत्रमारामः सेतुबन्धस्तटाकमाधारो वा वास्तु। -अर्थशास्त्र, अधिकरण ३, अध्याय ८
२. ......ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत्। नदीशैलवनगृष्टिदरीसेतुबन्धशाल्मलीशमक्षीरवृक्षानन्तेषु सीम्नां स्थापयेत्। -वही, अधिकरण २, अध्याय १
३. वही, अधिकरण २, अध्याय ३
४. चतुर्दिशं जनपदान्ते साम्परायिकं दैवकृतं दुर्गं कारयेत्.......।
-वही, अधिकरण २, अध्याय ३
५. "...........वास्तुकप्रशस्ते देशे नदीसङ्गमे ह्रदस्य वा विशोषस्याङ्के सरसस्तटाकस्य वा वृत्तं दीर्घं चतुरश्रं वा...........।" -वही, अधिकरण २, अध्याय ३
६. चतुर्दण्डावकृष्ट परिखायाः षड्दण्डोच्छ्रितमवरुद्धं तद्विगुणविष्कम्भं खाताद्वप्रं कारयेत्। वप्रस्योपरि प्राकारं विष्कम्भद्विगुणोत्सेधमैष्टकम्.......। -वही, अधिकरण २, अध्याय ३
७. " .......युक्तोदकभूमिच्छन्नपथः।" -वही, अधिकरण २, अध्याय ४
८. " ..........वास्तुकवशेन प्रदक्षिणोदकम्.......।" -वही, अधिकरण २, अध्याय ३

राजमार्ग तथा रथ्याओं का उल्लेख हुआ है वहीं एक निश्चित नाम के साथ सेतुपथ, वनपथ, हस्तिपथ, क्षेत्रपथ, रथपथ तथा मनुष्यपथ आदि का भी उल्लेख हुआ है,[१] जो कि तत्कालीन नगर में आवागमन-सम्बन्धी आन्तरिक व्यवस्था के साथ-साथ स्थापत्य-विज्ञान की समृद्धता का भी परिचायक है।

अर्थशास्त्र में राजनिवेश के सन्निवेश-प्रसङ्ग में प्रयुक्त 'वास्तुहृदय' और 'नवभाग'[२] जैसे तकनीकी शब्दों का प्रयोग जिसका अभिप्राय भू-भाग के मध्य से उत्तर की ओर नवम भाग है तथा राजभवन में विभिन्न कला-कृतियाँ जैसे-भूमि के भीतर राजा का निवासगृह, जिसमें आने-जाने के लिए गुप्त सुरङ्गें हों, दीवारों के भीतर गुप्त-मार्ग का निर्माण, पोले स्तम्भों के भीतर आने-जाने और चढ़ने-उतरने का मार्ग तथा आपत्ति के समय में निवास-गृह को यन्त्रों के आधार पर इच्छानुसार ऊपर-नीचे या इधर-उधर हटाना[३] आदि तद्युगीन वास्तुविज्ञान के उन्नत प्रणाली के प्रमाण हैं। कौटिल्य ने यहाँ पर राजा की सुरक्षा के लिए जिन विधियों का उल्लेख किया है, ठीक वैसे ही आधुनिक युग में हवाई आक्रमण से बचने के लिए भूमिगत बङ्करों का निर्माण किया जाता है। बगदाद (इराक) के एक सम्पूर्ण क्षेत्र में ही इस प्रकार का निर्माण किया गया था।

महामति चाणक्य ने अर्थशास्त्र के 'दुर्गविधान' नामक प्रकरण में पुरनिवेश का जो सैद्धान्तिक आधार प्रस्तुत किया है, जैसे-एक-एक दण्ड की दूरी पर तीन परिखाओं का निर्माण, उनकी विभिन्न परिमाण में चौड़ाई एवं और तल में पत्थरों का पटाव तथा परिखाओं से ४ दण्ड की दूरी पर ६ दण्ड ऊँचा अत्यन्त दृढ़ और नींव में ऊपर से दुगुनी चौड़ाई वाला प्राकार का निर्माण[४] आदि, इनके अनुसार ही पाटलिपुत्र का नगर-विन्यास

---

१. त्रयः प्राचीना राजमार्गास्त्रय उदीचीना इति वास्तुविभागः।
चतुर्दण्डान्तरा रथ्याः। राजमार्गद्रोणमुखस्थानीयराष्ट्रविवीतपथाः संयानीयव्यूहश्मशान-ग्रामपथाश्चाष्टदण्डाः। चतुर्दण्डः सेतुवनपथः। द्विदण्डो हस्तिक्षेत्रपथः। पञ्चारत्नयो रथपथश्चत्वारः पशुपथो द्वौ क्षुद्रपशुमनुष्यपथः। -अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ४

२. वास्तुहृदयादुत्तरे नवभागे यथोक्तविधानमन्तःपुरं प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा कारयेत्।
-वही, अधिकरण २, अध्याय ४

३. कोशगृहविधानेन वा मध्ये वासगृहं, मूढभित्तिसञ्चारं मोहनगृहं तन्मध्ये वा वासगृहं, भूमिगृहं वाऽऽसन्नकाष्ठचैत्यदेवतापिधानद्वारमनेकसुरुङ्गासञ्चारं प्रासादं वा गूढभित्तिसोपानं, सुषिरस्तम्भप्रवेशासारं वा, वासगृहं यन्त्रवद्धतलावपातं कारयेद् आपत्प्रतीकारार्थम्। आपदि वा कारयेत्। -वही, अधिकरण १, अध्याय १९

४. तस्य परिखास्तिस्रो दण्डान्तराः कारयेत्। चतुर्दश द्वादश दशेति दण्डान् विस्तीर्णाः विस्तारादवगाधाः पादोनमर्धं वा त्रिभागमूला मूले चतुरश्राः पाषाणोपहिताः पाषाणेष्टकाबद्धपार्श्वा वा.............।
चतुर्दण्डावकृष्ट.................वप्रं कारयेत्। वप्रस्योपरि.................कारयेत्।
-वही, अधिकरण २, अध्याय ३

था। मेगस्थनीज ने मौर्यों की राजधानी पाटलिपुत्र का वर्णन करते हुए लिखा है कि–इसका (पालिब्रोथा/पाटलिपुत्र का) प्राकार लकड़ी का बना हुआ था,[१] इस बात से कतिपय विद्वान् सहमत नहीं है क्योंकि अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने लिखा है "लकड़ी का प्राकार कभी भी नहीं बनवाना चाहिए, क्योंकि उसमें सदा आग लगने का भय बना रहता है"[२], परन्तु पाटलिपुत्र के उत्खनन से प्राप्त पुर–प्राकार और सभाभवन के अवशेष इस प्रकार के किसी भी सन्देह का पूर्णतया निवारण कर देते हैं। ऐरियन ने प्राचीन भारतीय नगरों के सम्बन्ध में निरीक्षण किया था कि जो नगर नदियों के किनारे या अन्यत्र निचली भूमि पर स्थित होते थे वे लकड़ी के बनाये जाते थे और ऐसे महत्त्वपूर्ण स्थानों पर स्थित नगर जहाँ बाढ़ के आने की संभावना कम होती थी पुलिन मिट्टी अथवा ईटों से निर्मित होते थे।[३] पाटलिपुत्र नगर के सम्बन्ध में भी यही सम्भावना व्यक्त की जा सकती है, क्योंकि यह नगर सोन तथा गङ्गा के सङ्गम पर बसा हुआ था, जहाँ बाढ़ के आने की आशङ्का बनी रहती थी। इसीलिए प्राकार का व्ययसाध्य बनाना उपयुक्त नहीं समझा गया। पाटलिपुत्र की इस भौगोलिक स्थिति के कारण ही कालान्तर में उसके स्थान पर अन्य नगरों को राजधानियों के रूप में विकसित किया गया।

डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल के अनुसार डी०बी० स्पूनर को कुम्हरार के समीप उत्तर की ओर बुलन्दीबाग की खुदाई में साल की लकड़ी से निर्मित दृढ़ चहारदीवारी के अवशेष लगभग ४५० फुट की लम्बाई तक प्राप्त हुए थे। उन्होंने (अग्रवाल) १९०३ ई० में प्रकाशित विवरण के आधार पर कहा है कि डब्लू० वाड्डेल को काष्ठ-प्राकार के अवशेषों का कुछ पता चल चुका था, क्योंकि उन्होंने कई खड़े लट्ठों की पूर्व से पश्चिम की ओर बढ़ती हुई श्रेणी का उल्लेख किया है। वे थूनियाँ साल की लकड़ी की बनी हुई १८ फुट लंबी थी। बाद में १९१२–१३ तथा १९२२–२३ से लेकर १९२८–२९ ई० के उत्खनन में इस स्थापत्य के सम्बन्ध में अधिक जानकारी प्राप्त हुई।[४]

स्पूनर द्वारा किये गये उत्खनन में लकड़ी के खम्भों की दो सामानान्तर दीवारों का ढाँचा मिला था जो १२.५ फुट चौड़ा था। उसके नीचे २२ फुट गहराई में लबी चौकोर लकड़ियों का बना फर्श मिला था, जिसके कोने दीवार की खम्भों की चुल्लियों में जुड़े हुए थे। यही नहीं अपितु खम्भे और भी ५ फुट नीचे उतरते चले गये थे, जहाँ फर्श के नीचे वे कङ्कड़ की नींव में धंसे थे। लकड़ियों के इस प्राकार की सफाई २४ फुट तक

१. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ५०
२. "न त्वेव काष्ठमयम्। अग्निरवहितो हि तस्मिन्वसति।" –अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ३
३. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ५१
४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ९७

की गई थी परन्तु स्थान-स्थान पर निरीक्षण के लिए खोदे गये गड्ढों के अनुसार लकड़ी का फर्श कम से कम ३५० फुट तक लम्बाई में स्थित था। अतः निश्चित रूप से दीवार इतनी दूरी तक अवश्य थी, जो बाद में नष्ट हो जाने के कारण लुप्त हो गई।[१] जिस गहराई में लकड़ियों के ये लट्ठे मिले तथा जिस रूप में दीवारों को पाया गया, उससे यह बात पुष्ट हो गई कि लकड़ियों के ये अवशेष पाटलिपुत्र के चारों ओर निर्मित प्राकार या रक्षा-प्राचीर तथा चन्द्रगुप्त मौर्य के राजप्रासाद के ही हैं।[२]

**पालिसाहित्य**–विद्वानों ने जातक-युग ई०पू० दूसरी या तीसरी शताब्दी माना है। बौद्ध जातक तथा अन्य कतिपय पालि-ग्रन्थ स्थापत्य-विषयक कृतियों से परिपूर्ण हैं। उस युग में स्थापत्य-विषयक जिन विविध रूपों का उल्लेख इन ग्रन्थों में हुआ है, उनके भग्नावशेष आज भी उपलब्ध होते हैं। जातक-ग्रन्थों में वर्णित तथा वर्तमान में भी उपलब्ध तत्कालीन भग्नावशेषों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि उस युग में स्थापत्यकला उन्नत अवस्था में थी।

आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल ने पालि दीघनिकाय में प्राप्त २५ शिल्पियों की सूची का उल्लेख किया है जिसमें वत्थु-विज्जा (वास्तुविद्या,) वत्थु-कम्म (वास्तुकर्म), वत्थु-परिकम्म (वास्तुपरिकर्म) की भी चर्चा है।[३]

नगरनिवेश के सम्बन्ध में वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में जो परम्परा मिलती है वही परम्परा पालि-साहित्य में भी अर्थात् पुर के प्रमुख अङ्ग के रूप में परिखा, प्राकार, द्वार, अट्टालक, प्रासाद तथा गृह, देवस्थान, कोष्ठागार, पुण्यशाला, क्रीड़ामण्डप, दानशाला, हस्तिशाला, आपण, पानागारा, शौण्डागार, उद्यान, पुष्करिणी और आराम आदि का वर्णन प्राप्त होता है। दीघनिकाय के महासुदस्सन सुत में पौराणिक राजा चक्रवर्ती महासुदस्सन के प्रासाद का वर्णन हुआ है, जिसमें चार प्रकार की ईंटें, ८४००० स्तम्भ २४ सीढ़ियाँ तथा ८५००० प्रकोष्ठ थे।[४]

महाउम्मग्ग जातक के गङ्गा के तट पर एक नगर-निर्माण का उल्लेख हुआ है।[५]

---

१. आर्किआलॉजिकल सर्वे ऑफ् इण्डिया, १९१२-१३ पृष्ठ ७६-प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ९७ से उद्धृत।
२. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ५१
३. भारतीय कला, पृष्ठ ७७
४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७१
५. "यथा परिच्छिन्नके स्थानं नगरं मापेतुं अरभि............गंगातित्थे अहोसि।"

–जातक, भाग ६, पृष्ठ ४३१

डॉ० डी०एन०शुक्ल ने इसे सुरङ्ग बताया है[1] परन्तु आचार्य वासुदेवशरण अग्रवाल इसे नगर और राजप्रासाद बताते हैं[2], क्योंकि इसे स्वयं जातक में ही नगर बताया गया है। यह नगर चारों ओर से प्राकार से परिवेष्टित था। प्राकार के निर्माण से पूर्व मिट्टी में पानी मिलाकर उसे अच्छी तरह साना गया था जिससे प्राकार सुदृढ़ रहे।[3] प्राकार की ऊँचाई १८ हाथ (२७ फुट) थी और उसके द्वार यंत्र-युक्त थे।[4] राजप्रासाद में ८० महाद्वार और ६४ छोटे द्वार थे। इसके द्वार भी प्रायः यंत्रों से ही खुलते और बंद होते थे। इसमें कुशल चित्रकारों द्वारा विविध प्रकार की चित्रकारी की गई थी, जिनमें शक्र-विलास, सागर, हिमवन्त (हिमलाय का भौगोलिक विस्तार एवं उसका सौंदर्य), चन्द्र, सूर्य आदि थे।[5] वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार इस वर्णन में प्राचीन प्रासादीय वास्तु-शिल्प के सभी अङ्गों का समावेश हुआ है।[6]

जातकों में अन्य अनेक प्रासदों का भी उल्लेख हुआ है, जिन्हें 'विमान', 'राजभवन', 'वासघर' आदि की संज्ञा दी गई है। इनमें स्तम्भ, कूटागार, किङ्किणीजाल, ध्वज, उद्यान, पुष्करिणी आदि थी। एक या अनेक मञ्जिल होने के कारण प्रासादों को एकभूमिक, द्विभूमिक तथा नवभूमिक आदि कहा जाता था।[7]

जातकों में बाँस और घास-फूस से निर्मित पर्णशालाओं का भी वर्णन प्राप्त होता है। इन पर्णशालाओं का प्राचीन रूप आज भी साँची, भरहुत, मथुरा आदि की मूर्तिकला में दिखाई देता है। जातक-ग्रन्थों में ईंटों और पत्थरों के बने हुए सुदृढ़ भवनों की भी चर्चा की गई है।[8]

विनयपिटक में विहारों का निर्माण एवं उनमें सुलभ साधनों के लिए व्यवस्था-सम्बन्धी आदेशों का विस्तृत सङ्ग्रह है, जो तत्कालीन वास्तुशिल्प की बहुमूल्य जानकारी का स्रोत है। ईंट और पत्थरों से चिनाई तथा लकड़ियों से निर्माण-कार्य द्वारा

---

१. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ७४
२. भारतीय कला, पृष्ठ ७८
३. "पतितपतितच्च उदकेन सन्नीत्वा पाकारं चिनन्ति।"-भारतीय कला, पृष्ठ ७९ से उद्धृत।
४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ६९
५. "सक्कविलास-सिनेरुपरिषण्ड........छकामसगादि-विभत्तयो।" -जातक, ६, पृष्ठ ४३२
६. भारतीय कला, पृष्ठ ८१
७. इण्डियन् आर्ट, पृष्ठ ५८-६६; भारतीय कला, पृष्ठ ८३; प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ६९
८. भारतीय वास्तुकला का इतिहास, पृष्ठ ४५

विहार, गर्भ, कोष्ठक, आँगनयुक्त आवास, उपस्थानशाला (सभागृह), पुष्करिणी, आराम (उद्यान) आदि की स्थापना होती थी। विनय-पिटक में एक स्थान पर बुद्ध ने अपने शिष्य को प्रस्तर का प्रयोग न केवल उनकी शाला के भूमितलीय स्थलों में, सोपानों में, फर्शों के निर्माण में तथा दीवारों की चिनाई में करने की आज्ञा दी है अपितु उनके घरों की छतों में भी प्रयोग की आज्ञा दी है।[१] यह एक बहुत की उत्तम साहित्यिक प्रमाण है कि अशोक के काल से पूर्व भी प्रस्तर-भवन विद्यमान थे।

**आगम**–आगमग्रन्थ वास्तुकला और मूर्तिकला के सम्बन्ध में पारिभाषिक ज्ञान से परिपूर्ण हैं। यद्यपि आगम और तंत्र एक परम्परा में एक समान है और शिव एवं शक्ति की आराधना से सम्बन्ध रखते हैं परन्तु दूसरी परम्परा में वे दो भिन्न-भिन्न शैवमत और शाक्तमत की आराधना से सम्बन्धित साहित्यिक श्रेणियाँ हैं। शिल्पशास्त्र के प्रति आगमों की देन पुराणों से अधिक विस्तृत और व्यावहारिक है। डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने हड़प्पा और मोहनजोदड़ो में प्राप्त भग्नावशेषों को शैवधर्म से प्रेरित बताते हुए कहा है कि यद्यपि शैवागमों में वास्तु और मूर्तिकला से सम्बन्धित उल्लेख उतने प्राचीन नहीं हैं परन्तु उनकी रचना-विधियाँ बहुत प्राचीन हैं।[२] गोपीनाथ राव के अनुसार आठवीं और नवीं शताब्दी में आगम-साहित्य का विशेष प्रचार था।[३]

शैवागमों की संख्या ९२ हैं, जिनमें से कुछ आगम, जैसा कि पहले भी कहा जा चुका है, वास्तुकला से सम्बन्धित ग्रन्थ हैं। सामान्यतः एक शैवागम में चार पाद अथवा भाग होते हैं–ज्ञानपाद, योगपाद, चर्यापाद और क्रियापाद। क्रियापाद में अन्य विषयों के अतिरिक्त वास्तु और मूर्तिरचना-कला का भी प्रतिपादन हुआ है। उदाहरणस्वरूप–कामिकागम में कुल ७५ अध्याय हैं, जिनमें से ६२ अध्यायों में वास्तु और मूर्तिरचना-कला का वर्णन हुआ है। डॉ० पी० के० आचार्य के अनुसार इस ग्रन्थ में वास्तु और मूर्तिरचना-कला से सम्बन्धित विषयों का वर्णन अन्य ग्रन्थों से अधिक है।[४] आगमों और पुराणों की स्थापत्य-सम्बन्धी प्रारम्भिक प्रस्तुति एक जैसी है परन्तु कामिकागम में पुराणों से भिन्न एतद्विषयक बहुत उच्च स्तरीय तकनीकी वर्गीकरण है। जैसे–आकार-शैलियाँ- नागर, द्राविड़ और वेसर*, मूर्तियाँ–पुरुष, स्त्री और नपुंसक।

१. चुल्लवग्ग, ६.३.११
२. स्वतंत्रकलाशास्त्र, भाग१, पृष्ठ १३-१५ एवं ५९९
३. रूपमण्डन, भूमिका, पृष्ठ ४ से उद्धृत।
४. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ८० से उद्धृत।
* नागर शैली की विलक्षणता वर्गाकार अथवा चतुष्कोण शिखर है, द्राविड़ शैली का शिखर कई पहलू वाला तथा वेसर शैली के भवन का शिखर वृत्ताकार अथवा गोलाकार होता है-

इसी प्रकार शुद्ध, मिश्र और सङ्कीर्ण शब्दों का प्रयोग क्रमशः एक धातु के लिए, दो धातुओं के मिश्रण के लिए और कई धातुओं के मिश्रण के लिए हुआ है।[1] सञ्चित, असञ्चित अपसञ्चित, दूसरे शब्दों में स्थानक, आसन या शयान, जो कि मन्दिरों में स्थित क्रमशः खड़ी हुई, बैठी हुई तथा लेटी हई मूर्तियों के लिए है।[2] अर्थात् देवमन्दिर में स्थापित मूर्ति उपर्युक्त तीन अवस्थाओं में ही हो सकती है।

कामिकागम की भाँति कारणागम में तृतीय अध्याय से लेकर आठवें अध्याय तक अर्थात् छः अध्यायों में वास्तुकला-विषयक विधियों का वर्णन है। जैसे-१. वास्तु-विन्यासविधि, २. आद्येष्टकाविधि, ३. अधिष्ठानविधि, ४. गर्भन्यासविधि, ५. प्रासाद-लक्षणविधि और ६. प्राकारलक्षणविधि। इसके उपरान्त छः अध्यायों में लिङ्गलक्षणविधि और प्रतिमालक्षणविधि आदि मूर्तिरचना-सम्बन्धी बातों का भी उल्लेख हुआ है। इसमें नृत्त-मूर्ति, दक्षिणा-मूर्ति, चन्द्रशेखर, अर्धनारी, काल-निग्रह, पुरारि, चण्डेश, गौरी, दुर्गा, लक्ष्मी तथा मोहिनी आदि का भी उल्लेख हुआ है।[3] इसी प्रकार से सुप्रभेदागम के पन्द्रह (१५) अध्यायों में वास्तु और मूर्तिनिर्माण-कलाओं का निरूपण है।[4] इसके अतिरिक्त अंशुमद्भेदागम, वैखानसागम, कारणागम आदि अन्य आगम ग्रन्थों में धार्मिक कृत्यों के साथ-साथ नगरों और मन्दिरों से सम्बन्धित स्थापत्यकला का वर्णन हुआ है।

**तंत्र**–तंत्र-साहित्य भी प्राचीन साहित्य माने जाते हैं, जिनमें शिल्प-सम्बन्धी चर्चा है। अग्निपुराण में परिगणित पच्चीस तंत्रों की सूची का उल्लेख पूर्व के पृष्ठों पर किया जा चुका है। हयशीर्श-पञ्चरात्र और अत्रिसंहिता में प्रतिपादित विषय कुछ ध्यातव्य हैं, जो कि तंत्र-संस्कृति पर आधारित हैं और धार्मिक स्थापत्य अर्थात् मन्दिरों और मूर्तियों के निर्माण-कला से सम्बन्धित हैं। नारायण-रचित तंत्र-समुच्चय में शैवमत से सम्बन्धित वास्तु के प्राचीन विज्ञान को ही प्रकट किया गया है। क्योंकि

---

मूलाद्याशिखरं युगाश्ररचितं गेहं स्मृतं नागरम्।
ग्रीवाद्याशिखरक्रियं षड्डुरगाश्रोद्भेदितम् द्राविड़म्
मूलाद्वा गलतोथवा परिलसद् वृत्तात्मकम् वेसरम्।
स्टडीज़ इन् संस्कृत टेक्सट्स् ऑन् टेम्पल् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ६८
–स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृष्ठ ६१३ से उद्धृत।

१. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ८०
२. स्वतंत्रकलाशास्त्र, भाग १, पृष्ठ १६४
३. वही, पृष्ठ ६००
४. वही, पृष्ठ ६००

लेखक स्वयं यह कहता है कि ग्रन्थ में जो वास्तुकला-सम्बन्धी तथ्य लिखे गये हैं, उनका सङ्कलन शैव-तंत्रों अर्थात् आगमों से किया गया है।[१] दीप-तंत्र, महानिर्वाण-तंत्र, शारदा-तंत्र और इसी प्रकार के अन्य तंत्र शिल्प-सम्बन्धी विषयों की तांत्रिक व्याख्या करते हैं।

**बृहत्संहिता**—बृहत्संहिता यद्यपि गुप्तकाल के प्रसिद्ध खगोल शास्त्री 'वराहमिहिर' द्वारा विरचित खगोलविद्या-सम्बन्धी ग्रन्थ है परन्तु इसमें स्थापत्यविज्ञान का भी प्रतिपादन हुआ है। यह संहिता कश्यप, पराशर तथा देवल आदि द्वारा विरचित पुरातन संहिताओं का सङ्ग्रह है। इसे भारतीय स्थापत्यविज्ञान का एक विलक्षण ग्रन्थ कहा जा सकता है। इसमें विविध विषयों पर प्रकाश डाला गया है। इस ग्रन्थ में जलविद्या, अश्वविद्या, वर्षाविद्या, छन्दशास्त्र आदि विषय पर भी संक्षिप्त और वैज्ञानिक विधि से जानकारी दी गई है। भारतीय स्थापत्य के उद्भव और विकास के प्रति इस ग्रन्थ की देन असाधारण है।

बृहत्संहिता के अनेक अध्याय स्थापत्यकला और मूर्तिकला को समर्पित हैं। जैसे-वास्तुविद्याध्याय, प्रासादलक्षणाध्याय, प्रतिमालक्षणाध्याय, वनसम्प्रवेशाध्याय और प्रतिमाप्रतिष्ठापनाध्याय आदि। इस ग्रन्थ में विषय का वर्णन बहुत की सुयोग्य हाथों से हुआ है। इसमें स्थापत्यकला से सम्बन्धित सभी अध्याय स्थापत्यविज्ञान की परिभाषा के साथ प्रारम्भ होते हैं। लेखक ने भवननिवेश के लिए प्रशस्त भूमि का चयन, भूमि की परीक्षा, उसकी योजना, विभिन्न खण्डों वाले भवनों और द्वारों का परिमाण, भवनों में की जाने वाली चित्रकारी और भवन-सम्बन्धी अन्य आवश्यक अङ्गों का संक्षिप्त परन्तु समुचित वर्णन किया है।[२] इस ग्रन्थ में २० प्रकार के भवनों का उल्लेख हुआ है।[३] ग्रन्थकार ने वज्रलेप (Cement) की निर्माण-विधि का वर्णन एक पृथक् अध्याय में किया है। इसके अतिरिक्त इस ग्रन्थ में गृह-सम्बन्धी आवश्यक वस्तुओं, जैसे-शय्या, आसन आदि के निर्माण से सम्बन्धित बातों का उल्लेख भी एक सम्पूर्ण अध्याय में हुआ है, जिसमें विजयसार, स्पन्दन, हरिद्रा, देवदारु, तिन्दुकी, शाल, काश्मरी, अञ्जन, पद्मक, शाक तथा शिंशपा प्रभृति वृक्षों को उत्तम बताया गया है।[४] प्रतिमा-निर्माण से सम्बन्धित बातों का उल्लेख ५८ वें अध्याय में हुआ है जिसमें ग्रन्थकार ने प्रतिमाओं

१. "सोऽयं तन्त्रमिदं व्यधाद् बहुविधादुद्धृत्य तन्त्रार्णवात्।"

—स्वतन्त्रकलाशास्त्र, पृष्ठ ६०१ से उद्धृत।

२. बृहत्संहिता, अध्याय ५३

३. वही, अध्याय ५०.२०-२१; ३१-३५; ३७-४१

४. असनस्पन्दनचन्दनहरिद्रसुरदारुतिन्दुकीशालाः।
कश्मर्यञ्जनपद्मकशाका वा शिंशपा च शुभाः।। —वही, अध्याय ७९. १

की विस्तृत जानकारी एक वैज्ञानिक ढंग से दी है, जो कि अन्य प्राचीन साहित्य में उपलब्ध नहीं होती।

**अन्य संस्कृतसाहित्य**–संस्कृत के अन्य ग्रन्थों में भी भारतीय वास्तुकला का विशद और स्पष्ट वर्णन प्राप्त होता है। शूद्रक-विरचित मृच्छकटिक में वसन्तसेना के भवन का वर्णन,[१] कालिदास-कृत मेघदूत में विशाला (उज्जयिनी)[२] और अलकापुरी[३] का वर्णन, माघकृत शिशुपालवध में द्वारकापुरी,[४] युधिष्ठिर और कृष्ण के भव्य तथा विशाल राजप्रासाद और सभा-भवन का वर्णन,[५] बाणभट्ट-रचित हर्षचरित में अनेक प्रकोष्ठों,[६] कादम्बरी में दर्शक-भवन, तपस्वी-कुटीर, सूतिकागृहों एवं प्रासाद का रोचक वर्णन,[७] भारतीय वास्तुकला की उन्नत-अवस्था का चित्रण करते हैं और इसके इतिहास-निर्माण में इनका महत्त्वपूर्ण योगदान है। उपर्युक्त ग्रन्थों पर दृष्टिपात करने से यह विदित होता है कि प्राचीन समय में स्थापत्यकला के अन्तर्गत नगर-योजना और प्रासाद आदि के निर्माण को अत्यन्त महत्त्व-प्रदान किया जाता था।

**शिल्पशास्त्र**–भारतीय वासतुकला के इतिहास-लेखन के अन्तर्गत साहित्यिक चर्चा में अब अन्त में वास्तुशास्त्र या शिल्पशास्त्र की चर्चा की जा रही है, जो कि अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। जैसा कि पहले ही इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि वैदिक साहित्य तथा लौकिक साहित्य में वर्णित स्थापत्यकला को सुविधा की दृष्टि से प्रमुखतया दो वर्गों में रखा जा सकता है–(क) स्थापत्य-विशेष और (ख) अस्थापत्य-विशेष। पूर्वोक्त वैदिक साहित्य, रामायण, महाभारत, पुराण, अष्टाध्यायी,

१. मृच्छकटिक, चतुर्थ अङ्क
२. मेघदूत, पूर्वमेघ, ३१, ३३, ३५ आदि।
३. वही, उत्तरमेघ, १,५, ८ आदि।
४. शिशुपालवध, सर्ग ३
५. (क) "रत्नस्तम्भेषु।" –शिशुपालवध, सर्ग २.४
(ख) सभाभवन-वर्णन, सर्ग १३.५१–६०
६. हर्षचरित, द्वितीय तथा पञ्चम उच्छ्वास
७. (क) सूतिकागृहवर्णन–"मणिमय-मङ्गलकलशयुगलाशून्येनासक्तबहुपुत्रिकालङ्कृतेन विविध-नवपल्लवनिवहनिरन्तरनिचितेन..............सर्वतो रक्षापुरुषैः परिवृतं सूतिकागृहमदर्शत्।" –कादम्बरी, पूर्वभाग (सम्पादक : डॉ० श्री निवास शास्त्री; डॉ० महेशचन्द्र 'भारतीय'), पृष्ठ २७५–८०
(ख) राजभवनवर्णन–"क्रमेण च यामावस्थितर्ताभः........स्फीतमपि भ्रमन्नग्नलोकं राजकुलं विवेश।" –वही, प्रथम-भाग, पृष्ठ ३३२–५७
(ग) "भुवनान्तराणीव विविधप्राणिसहस्रसङ्कुलानि सप्तकक्षानतरव्यतिक्रम्याभ्यन्तरावस्थितम्।" –वही, प्रथम-भाग, पृष्ठ ३५८

अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों पर दृष्टिपात करने से स्पष्ट है कि इनमें सान्दर्भिक रूप से यत्र-तत्र वास्तुकला-विषयक प्रभूत सामग्री उपलब्ध है। अब तक इसी स्थापत्य वर्गीय शास्त्रों की ही चर्चा की जा रही थी, जिनका सम्बन्ध स्थापत्यकला से अप्रत्यक्ष रूप में है। स्थापत्यकला से प्रत्यक्ष रूप से सम्बन्ध रखने वाले ग्रन्थों में अधिकांश वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों का रचनाकाल अनिश्चित है।

विगत पृष्ठों में कतिपय वास्तुशास्त्रीय आचार्यों का नामोल्लेख किया गया है जिनकी अधिकांश रचनाएं वर्तमान में उपलब्ध नहीं है। डॉ० पी०के० आचार्य ने लगभग १५० वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों की सूची दी है, जिनमें से कतिपय स्थापत्य और मूर्तिकला, दोनों विषयों अथवा एक विषय से सम्बन्धित हैं। उनके द्वारा प्रदत्त सूची में उन ग्रन्थों का भी नामोल्लेख है, जिनके विभिन्न अध्यायों में अन्य विभिन्न विषयों के साथ प्रसङ्गस्वरूप स्थापत्य एवं मूर्तिकला से सम्बन्धित बातों का प्रतिपादन हुआ है। जैसे–पुराण, आगम तथा नीतिग्रन्थों के अन्तर्गत आने वाले अर्थशास्त्रादि। इनमें से कतिपय प्रमुख वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के नाम निम्नलिखित हैं–

१. मानसारः
२. मयमतम्
३. नग्नजित-चित्रलक्षणम्
४. काश्यप-शिल्पम्
५. अगस्त्य-सकलाधिकारः
६. वास्तुपुरुषविधानम्
७. प्रयोगमञ्जरी
८. प्रयोगपरिजातः
९. शिल्परत्नम्
१०. शुक्रनीतिशास्त्रम्
११. शिल्पसङ्ग्रहः
१२. तन्त्रसमुच्चयः।[1]

डॉ० शुक्ल ने भी कतिपय वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों की सूची दी है, जो निम्नलिखित है–

१. विश्वकर्मशिल्पम्
२. विश्वकर्मप्रकाशः
३. विश्वकर्मवास्तुशास्त्रम्
४. सनत्कुमारवास्तुशास्त्रम्
५. समराङ्गणसूत्रधारः
६. युक्तिकल्पतरुः
७. अपराजितपृच्छा
८. वास्तुराजवल्लभः
९. प्रासादमण्डनम्
१०. राजसिंह-वास्तुशास्त्रम्
११. भुवनप्रदीपः
१२. बृहच्छिल्पशास्त्रम्
१३. मानसोल्लासः
१४. मनुष्यालयचन्द्रिका
१५. रूपमण्डनम्
१६. वास्तुविद्या
१७. वास्तुरत्नावली
१८. पौराणिकवास्तु-शान्तिप्रयोगः
१९. वास्तुमुक्तावली
२०. वास्तुसङ्ग्रहः
२१. वास्तुसारः (प्राकृत में)।[2]

---

१. एन एन्साइक्लोपीडिआ ऑफ् हिन्दू आर्किटेक्चर, मानसार सीरिज भाग ७, पृष्ठ ६१५-५६९

२. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ८३

अधोलिखित १४ कृतियों को डॉ०टी० अफ्रेक्ट ने सूचीपत्र में आचार्य विश्वकर्मा से सम्बन्धित माना है।

| | | |
|---|---|---|
| १. अपराजितपृच्छा | ६. अपराजितप्रभा अथवा विश्वकर्मसंहिता | ११. वास्तुशास्त्रम् |
| २. क्षीरार्णवशिल्पम् | ७. आयतत्त्वम् | १२. वास्तुसङ्ग्रहः |
| ३. जयपृच्छा | ८. ज्ञानरत्नकोष | १३. वास्तुसमुच्चयः |
| ४. वास्तुशास्त्रम् | ९. वास्तुप्रकाशः | १४. विश्वकर्मीय |
| ५. विश्वकर्ममतम् | १०. वास्तुविधिः | (शिल्पम्)।[१] |

डॉ० हरिकृष्णशास्त्री ने उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त इस क्षेत्र में अन्य रचनाओं के भी होने की सूचना दी है, जिनमें से प्रमुख रचना के रूप में निम्नलिखित उल्लेखनीय हैं–

१. दीपार्णवः–विश्वकर्माचार्यः
२. अपराजितवास्तुशास्त्रम्–भुवनदेवाचार्यः
३. वास्तुमण्डनम्–सूत्रधारमण्डनः
४. वास्तुमञ्जरी–सूत्रधारनाथः
५. बृहद्विमानशास्त्रम्–स्वामिब्रह्ममुनिः
६. वास्तुचन्द्रिका–कृपारामः
७. पिण्डप्रभारकरः–सुधाकरद्विवेदः।[२]

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के अन्तर्गत उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त अन्य ग्रन्थों की भी एक विस्तृत सूची द्रष्टव्य है जो इस बात के प्रमाण–स्वरूप है कि प्राचीन भारतीय जन विभिन्न अङ्ग–प्रत्यङ्ग सहित भवनादि की रचना–कौशल से सुपरिचित थे तथा इनके रचना–सम्बन्धी सिद्धान्त भी व्यवहारिक रहे हैं परन्तु इन ग्रन्थों की नाम–सूची से प्रतीत होता है कि इनमें से अनेक ग्रन्थ भवनादि के निर्माण में उसका साङ्गोपाङ्ग व्याख्यान न करके मात्र उसके किसी अङ्ग–विशेष पर ही प्रकाश डालते हैं।

| | | |
|---|---|---|
| १. अंशुमत्कल्पः | ३. आयादिलक्षणम् | ५. कौतुकलक्षणम् |
| २. अगारविनोदः | ४. आरामादिप्रतिष्ठापद्धतिः | ६. गृहनिरूपणम् |

१. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ ८३
२. संस्कृतवाङ्मय, द्वितीय भाग, पृष्ठ २८

७. गृहनिर्माणविधिः
८. गृहपीठिका
९. गृहरत्नभूषणम्
१०. गृहवास्तुप्रदीपः
११. गोपुरविधानादिलक्षणम्
१२. ग्रामनिर्णयः
१३. चित्रकर्मशिल्पशास्त्रम्
१४. चित्रसूत्रम्
१५. दिग्साधनम्
१६. दीर्घविस्तारप्रकारः
१७. देवताशिल्पम्
१८. देवालयलक्षणम्
१९. द्वारलक्षणपटलम्
२०. पिण्डप्रभाकरः
२१. पीठलक्षणम्
२२. प्रतिमाद्यप्यादिवचनम्
२३. प्रतिमामानलक्षणम्
२४. प्रतिष्ठातन्त्रम्
२५. प्रतिष्ठातत्त्वम्
२६. प्रासादकल्पः
२७. प्रासादकीर्तनम्
२८. प्रासाददीपिका
२९. प्रासादलक्षणम्
३०. प्रासादालङ्कारलक्षणम्
३१. बिम्बमानम्
३२. बुद्धप्रतिमालक्षणम्
३३. बृहद्वास्तुपद्धतिः
३४. मठप्रतिष्ठातत्त्वम्
३५. मञ्जुश्रीमूलकल्पः
३६. मानकथनम्
३७. मानववास्तुलक्षणम्
३८. मूर्तिलक्षणम्
३९. मूलस्तम्भनिर्णयः
४०. राजगृहनिर्माणम्
४१. वास्तुचक्रम्
४२. वास्तुतत्त्वम्
४३. वास्तुनिर्णयः
४४. वास्तुपुरुषलक्षणम्
४५. वास्तुप्रदीपः
४६. वास्तुप्रबन्धः
४७. वास्तुप्रतिष्ठासङ्ग्रहः
४८. वास्तुयोगतत्त्वम्
४९. वास्तुरत्नप्रदीपः
५०. वास्तुरत्नाकरः
५१. वास्तुलक्षणम्
५२. वास्तुविचारः
५३. वास्तुशिरोमणिः
५४. वास्तुसंख्या
५५. वास्तुसर्वस्वम्
५६. वास्तुसारणी
५७. वास्तुसारसर्वस्वसङ्ग्रहः
५८. विमानलक्षणम्
५९. विश्वविद्याऽभरणम्
६०. व्यवहारसारः
६१. व्यवहारसारस्वतम्
६२. शिल्पकलादीपिका
६३. शिल्पदीपिका
६४. शिल्पनिघण्टुः
६५. शिल्पशास्त्रम्
६६. शिल्पशास्त्रसारसङ्ग्रहः
६७. शिल्पसर्वस्वसङ्ग्रहः
६८. शिल्पसारः
६९. षड्विदिकसन्धानम्
७०. सर्वविहारीयतन्त्रम्
७१. सङ्ग्रहशिरामेणिः
७२. संहितासारावली
७३. सम्यक्सम्बुद्धभाषितम्
७४. सारस्वतशिल्पशास्त्रम्।[१]

---

१. संस्कृतवाङ्मय, द्वितीय भाग, पृष्ठ २८-२९

## द्वितीय अध्याय

# प्रमुख वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ : परिचय एवं महत्त्व

भारतीय वास्तु या स्थापत्यकला की प्राचीनता के सम्बन्ध में प्रथम अध्याय में सङ्केत किया जा चुका है। निःसन्देह अन्य ललित-कलाओं की भाँति भारतीय स्थापत्यकला का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। इस देश में युग-युगों से बड़े-बड़े दुर्ग, नगर, राजप्रासाद और सेतु आदि के निर्माण होते रहे हैं, जिनमें से कतिपय वर्तमान में भी सुरक्षित हैं। सैन्धव सभ्यता से सम्बद्ध अवशेष, जिनका काल पुरातत्त्व-विदों ने आज से लगभग साढ़े पाँच हजार वर्ष पहले का माना है, भारतीयों के विकसित स्थापत्यकला का प्रमाण है। इस राष्ट्र में स्थापत्य के जो अगणित उदाहरण सुरक्षित हैं, वे इस बात के उद्घोषक हैं कि यहाँ वास्तुकला के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई। अतः यह कहा जा सकता है कि समस्त भारत स्मारकों का एक विशाल सङ्ग्रहालय है। यहाँ पर सदैव स्थापत्यकला को साधारण शिल्प से ऊँचा माना गया और भवनों की उपयोगिता के साथ उनमें कलात्मकता भी अपेक्षित समझी गई। स्थापत्य या वास्तु के विविध अङ्गों का भारत में इतना अधिक विकास हुआ कि उनके सम्बन्ध में विस्तृत लेखन की आवश्यकता पड़ी और एतद्विषयक अनेक ग्रन्थों का प्रणयन हुआ, जिनमें से कुछ ग्रन्थों का रचना-काल तो निश्चित-रूप से ज्ञात है परन्तु अधिकतर ग्रन्थ अनुपलब्ध हैं और उनके रचना-काल के विषय में निश्चितरूप से कुछ भी कहना कठिन है।

स्थापत्य-विज्ञ के रूप में '**विश्वकर्मा**' का नाम अत्यन्त प्रसिद्ध है। विश्वकर्मा के नाम का अस्तित्व अनेक मुद्रित-अमुद्रित ग्रन्थों में प्राप्त होता है। जैसे- **विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, विश्वकर्मशिल्प, विश्वकर्मप्रकाश, विश्वकर्मज्ञान** आदि। 'विश्वकर्मप्रकाश' या 'विश्वकर्मवास्तुशास्त्र' और 'विश्वकर्मीय-शिल्प दोनों एक पूर्ण ग्रन्थ के दो भाग हैं।[१] डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय ने भी ऐसा ही मत अभिव्यक्त किया है। उनके अनुसार यह ग्रन्थ केवल सङ्कलन मात्र ही है। उसकी रचना पूर्ववर्ती ग्रन्थों के

---

१. इण्डियन् आर्किटेक्चर-ऑक्कार्डिंग टू मानसार-शिल्पशास्त्र, पृष्ठ ९६

आधार पर की गई है।[1] प्रस्तुत अध्याय में विश्वकर्मवास्तुशास्त्र के अतिरिक्त अन्य कतिपय महत्त्वपूर्ण एवं उपलब्ध ग्रन्थों के प्रत्येक अध्याय में प्रतिपादित विषय विवेचित हैं।

## विश्वकर्मवास्तुशास्त्र

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र वास्तुविद्या का प्रतिनिधित्व करने वाला महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है, जिसमें कुल सत्तासी अध्याय हैं। डॉ० डी०एन० शुक्ल के अनुसार इस ग्रन्थ का आधार सरस्वती महल पुस्तकालय, तञ्जौर से प्राप्त पाण्डुलिपि है जिसे उपलब्ध कराने का श्रेय विद्वानों को जाता है। उनके अनुसार इसे सङ्ग्रह करने तथा इसके प्रकाशन–सम्बन्धी रूपरेखा आदि को तैयार करने एवं अपने शिल्पसङ्ग्रह के अन्तर्गत प्रकाशित करने का श्रेय उनके मित्र मेजर एन०बी० गदरे को जाता है, जो कि अभियन्ता–विशेषज्ञ–समिति, शिक्षा–मंत्रालय, भारत सरकार, नई दिल्ली के सदस्य थे।[2] वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में लब्धप्रतिष्ठ एवं बृहदाकार इस ग्रन्थ को के० वासुदेव शास्त्री एवं एन०बी० गदरे ने अनन्त भट्टारक कृत 'प्रमाणबोधिनी' व्याख्या सहित सन् १९५८ में तञ्जौर से प्रकाशित किया।

### प्रथम अध्याय : शिवस्तुति :

प्रथम अध्याय में इन्द्र तथा अन्य देवताओं के द्वारा कैलाश पर्वत पर भगवान् शिव की स्तुति तथा नन्दी के द्वारा विश्वकर्मा को आमंत्रित करने का वर्णन है।

### द्वितीय अध्याय : परमेश्वरकृतवरप्रसाद :

द्वितीय अध्याय में विश्वकर्मा का आगमन तथा उनके द्वारा भगवान् शिव की स्थापत्य-विद्या की प्राप्ति के लिए स्तुति एवं शिव के द्वारा विश्वकर्मा को वरदान देने का वर्णन हुआ है। इस प्रकार विश्वकर्मा को शिव से स्थापत्य–विज्ञान एवं शिल्प–विद्या की प्राप्ति होती है।

### तृतीय अध्याय : कालपरीक्षा, दिङ्निर्णय :

इस अध्याय में शुभकाल की महत्ता बताते हुए विप्रादि वर्णों के भवनों एवं देवादि के प्रासाद का निर्माणारम्भ में, स्तम्भ–स्थापन में तथा वापी, तटाक आदि के निर्माण से पूर्व काल–परीक्षा करने का निर्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें भवन, प्रासाद तथा विमान आदि के विधान में शङ्कु–स्थापन के द्वारा दिङ्–निर्णय का भी विधान है।

१. स्वतन्त्रकलाशास्त्र, भाग १, पृष्ठ ६०४
२. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ १०

**चतुर्थ अध्याय : द्रव्यसङ्ग्रह :**

चतुर्थ अध्याय में वास्तुकार्य-हेतु-द्रव्यसङ्ग्रह की चर्चा करते हुए धन और वस्तु-भेद से दो प्रकार के द्रव्य बताये गए हैं[1] और इस द्विविध द्रव्य में इष्टिका, सुधा देवदारु के वृक्ष एवं लोहे के कील आदि को '**वस्तु**' की संज्ञा दी गई है।[2] वास्तुकार्य में प्रमुख द्रव्य–'**लकड़ी**' है, अतः दार्वाहरण अथवा काष्ठद्रव्य-सङ्ग्रह-हेतु शुभ-काल में वन में प्रवेश करने का निर्देश दिया गया है और देवालय एवं भवन-निर्माण में, प्रशस्त एवं अप्रशस्त माने जाने वाले वृक्षों का भी नामोल्लेख हुआ है।

**पञ्चम अध्याय : भू-परीक्षा :**

'भू-परीक्षा' नामक पञ्चम अध्याय में भूमिसङ्ग्रह-विषयक चर्चा है, जिसमें भूगर्भसार और कालभेद से भूमि के विभिन्न वैशिष्ट्य का उल्लेख करते हुए भवनादि के निवेश से पूर्व उसकी परीक्षा करने का निर्देश दिया गया है और भूमि के न्यूनाधिक गुण-भेद के आधार पर उसके त्रिविध विभाजन–उत्तम, मध्यम, एवं अधम का उल्लेख हुआ है। रस, वर्ण, स्पर्श, गंध एवं अन्य लक्षणों के अनुसार भूमि के ब्राह्मणी, क्षत्रिया, वैश्या एवं शुद्रा के भेदोल्लेख के अतिरिक्त उनके उत्तम गुणों एवं दोषों का भी वर्णन हुआ है।

**षष्ठ अध्याय : भूमिग्रहण :**

छठे अध्याय की संज्ञा 'भूमिग्रहण' है जिसमें चयनित भूमि के समीकरण के पश्चात् पूर्व, ईशान अथवा वारुणी (पश्चिम) दिशा में भूखनन और उसमें इष्टिका रखने का वर्णन है परन्तु इससे पूर्व ब्राह्मणी, क्षत्रिया आदि भूमि के आधार पर मञ्जूषा में विभिन्न पदार्थों, जैसे–पुस्तक, छत्र, तुला आदि को रखने और उसे गर्भ अर्थात् वास्तुभूमि के मध्यभाग में स्थापित करने का निर्देश दिया गयाहै। इसमें ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि जनों के द्वारा अपने-अपने वर्ण के आधार पर स्वर्ण, रजत आदि को भी मञ्जूषा में रखने का उल्लेख हुआ है।

**अध्याय सप्तम-अष्टम-नवम-दशम : ग्रामलक्षण, मानकथन; खेटादि-लक्षण, निगमादि-लक्षण, नगरलक्षण में पदविन्यास, पददेवता, परिभाषा, नगर-भेद, गृहलक्षण; दुर्गलक्षण :**

---

१. धनवस्तुप्रभेदेन तद्द्रव्यं द्विविधं स्मृतम्। –अध्याय ४. २

२. इष्टिका च सुधा श्लक्ष्णा पारिभद्रादिदारवः।
अयःकीलादयश्चान्ये वस्तुसंज्ञा उदीरिताः।। –अध्याय ४. ३

विश्वकर्मवास्तुशास्त्र के सप्तम अध्याय से लेकर दशम अध्याय तक अत्यन्त रोचक वर्णन उपलब्ध होता है जिनमें सामुदायिक योजना के आधारभूत सिद्धान्तों का उल्लेख हुआ है। जैसे-ग्रामों, नगरों, दुर्गों, सड़कों, वीथियों और उनकी संख्या एवं मान आदि का कथन। सप्तम अध्याय में मण्डक, प्रस्तर, बाहुलीक, पराक, चतुर्मुख, पूर्वमुख, मङ्गल, विश्वकर्मक आदि बारह प्रकार के ग्रामों के लक्षण तथा जातिवर्णाधिवास अर्थात् उनमें निवास करने वाले विप्रादि भिन्न-भिन्न जनों एवं ग्राम-सम्बन्धी अन्य लक्षणों का वर्णन है। इसके आगे मन्दिरों, मनुष्यों के गृहों, राजप्रासादों, मण्डपों, विमानों, गोपुरों, सोपानों तथा प्रतोलियों आदि में मानकर्म की अनिवार्यता प्रदर्शित करते हुए मान सम्बन्धी चर्चा की गई है, जिसमें परमाणु मान के अतिरिक्त शालि, व्रीहि, अङ्गुल, वितस्ति, हस्त, धनुर्मुष्टि, दण्ड, नृपदण्ड एवं ब्रह्मदण्ड का वर्णन है।

आठवें अध्याय में खेट, खर्वट, पल्ली, घोष और आभीर के लिए लक्षण सहित उपयुक्त वास्तु-भूमि का उल्लेख हुआ है जो कि विशेषतः ग्रामीणों के निवास-स्थान हैं। इस अध्याय में आगे निगम, स्कन्धावार, द्रोणक, कुब्जक, पत्तन, शिविर तथा वाहिनीमुख नामक नृपयोग्य सप्त-नगर वर्णित हैं। नवम अध्याय में पद्मक, सर्वतोभद्र, भद्र, विश्वेशपूर्वक, कार्मुक, प्रस्तर, स्वस्तिक, चतुर्मुख आदि सामान्यतया बीस प्रकार के नगर, उनमें राजवीथि, वीथि, प्रतोली आदि का निवेश तथा वास्तुपद का विन्यास अर्थात् भूमि को विभिन्न वर्गों में वर्गीकृत करने की विधि, वर्गीकृत पदों में विभिन्न देवों की प्रकल्पना एवं गृहलक्षणादि का विवेचन है।

'दुर्गलक्षण' नामक दशम अध्याय में गिरिदुर्ग, वनदुर्ग, जलदुर्ग, इरिणदुर्ग, दैवतदुर्ग, एकमुख-द्विमुख-चतुर्मुख-दुर्ग, कूर्मदुर्ग, पारावत-दुर्ग, प्रभुदुर्ग तथा युद्धदुर्ग नामक बारह प्रकार के दुर्गों के लक्षण और उनके निवेश-स्थलों का कथन हुआ है।

यहाँ पर ग्राम-निवेश तथा नगर-निवेश के लिए विशिष्ट दिशा-निर्देश दिया गया है। जैसे-ग्रामनिवेश-हेतु ऐसी भूमि के चयन की बात कही गई है जहाँ जनसंख्या की वृद्धि हो जाने पर किसी प्रकार की व्याधि आदि न फैल सके। इसके अतिरिक्त यह भी बताया गया है कि किसी नूतन-नगर के निवेश में राजा पर ही समग्र रूप से निर्भर नहीं रहना चाहिए। राजा केवल भूमि-चयन और भिन्न-भिन्न वर्णों एवं व्यवसायिक जनों के निवास-हेतु स्थान-वितरण की आज्ञा ही दे सकता है। इस प्रकार विभिन्न प्रकार के नगरों की रूपरेखा और उनमें निर्माण किये जाने वाले राजकीय भवनों,आवागमन के मार्ग, उनका विस्तार तथा चतुष्पथों, पेयजल आदि की सुविधा और नगरों एवं ग्रामों में किस प्रकार से योजना-बद्ध रूप से जनसमूह को बसाया जाये, आदि सभी विषयों का प्रतिपादन हुआ है।

**एकादश अध्याय : देवप्रासादभूमान :**

ग्यारहवें अध्याय की संज्ञा 'देव-प्रासादभूमान' है, जिसमें हिन्दुओं के प्रासाद-निर्माण अर्थात् मन्दिरों के गर्भ-गृहों एवं उनके सहायक अङ्गों के रूप में अन्य प्रकोष्ठों और उनसे सम्बन्धित अन्य प्राकार-युक्त भवनों के निर्माण-विषयक वर्णन है।

**द्वादश-त्रयोदश अध्याय : नृपप्रासाद, नृपप्रासाद-दुर्गपरिखालक्षण :**

बारहवें और तेरहवें में राज-निवेशोचित विशाल भवनों के निर्माण-सम्बन्धी बातों की चर्चा की गई है। राजवेश्म का निर्माण नगर के किस भाग में तथा उसके अन्य विभिन्न अङ्गों में मन्त्रिहर्म्य, सेनाध्यक्ष-भवन, न्यायशाला, कोशागार, आदि का निर्माण विभाजित वास्तुपदों में से किस वास्तुपद में अथवा कहां-कहां करने चाहिए, उनकी सुरक्षा के सुदृढ़ साधन और विलासभवन-हेतु उपयुक्त भाग कौन सा है, आदि सभी विषयों का विस्तृत वर्णन है।

**चतुर्दश अध्याय : भवन-लक्षण :**

चौदहवें अध्याय की संज्ञा 'भवन-लक्षण-निरूपण' है, जिसके अन्तर्गत भव्य भवनों के निर्माण का वर्णन किया गया है; जो कि विभिन्न आकृति वाले होते हैं। जैसे-विमान, मालिका और हर्म्य।

**पञ्चदश अध्याय : पूर्वभवन-लक्षणनिरूपण :**

पन्द्रहवें अध्याय को 'पूर्वभवन-लक्षण' की संज्ञा दी गई है, जिसमें एतद्विषयक रोचक और विस्तृत वर्णन है। इसे आधुनिक समय के बड़े बरामदे के समान समझा जा सकता है और यह मण्डप अथवा शाला की आकृति वाला होता है, जिसमें स्तम्भों की संख्या बहुत होती है। इसका प्रमुख प्रयोजन प्रासाद अथवा हर्म्य के सौंदर्य को बढ़ाना है। इसके अतिरिक्त वाहनों को रखने में भी इसका प्रयोग होता है। जैसे-शिबिका आदि। इस पूर्वभवन को उसमें स्थापित स्तम्भों की संख्या के आधार पर पृथक्-पृथक् वर्गों में विभाजित किया गया है, जिनकी संख्या ४ से १६ तक है।

**षोडश अध्याय : न्यायशाला, सिंहासनलक्षण :**

सोलहवें अध्याय का शीर्षक 'न्यायसभा, सिंहासनलक्षण' है, जिसमें राजप्रासाद में न्यायशाला के निवेश का वर्णन किया गया है। यहाँ पर आस्थानिक के दो भेद बताये गये हैं-**न्यायशाला** और **सभा**। पुनश्च न्यायसभा के '**देश्या**' और '**पौरा**' नाम से दो भेदों का उल्लेख हुआ है, जिसका उद्देश्य लोकरक्षा बताया गया है। 'देश्या'

और 'पौरा' क्रमश: ग्रामीण और नगरवासी जनों के लिए पृथक्-पृथक् रूप में न्याय-व्यवस्था है। इसमें इन्हें अलङ्कृत करने तथा बैठने के स्थान के अतिरिक्त प्रमुख रूप से स्तम्भों के निर्माण का निर्देश दिया गया है। बैठने के स्थानों में राजकीय सिंहासन के साथ-साथ सचिवों,पुरोहितों तथा वादि आदि की भी आसन-व्यवस्था करने का निर्देश है।

**सप्तदश अध्याय : पौरदेश्यसभा-लक्षण :**

सत्रहवें अध्याय का सम्बन्ध पूर्ववर्णित सोलहवें अध्याय से है, जिसमें विशेषतया न्यायालय के समान न्यायवित्परिषत्स्थान अर्थात् पौरा-नगर से सम्बन्धित और देश्या-ग्रामों से सम्बन्धित सभा-भवन के निर्माण का निर्देश उनके प्रमाण आदि के साथ हुआ है। इन दोनों सभाओं में भी सिंहासन तथा सचिवासन आदि के निर्माण का कथन हुआ है।

**अष्टादश अध्याय : कोशागारलक्षण :**

धनसंरक्षण-हेतु निर्मित शाला को भाण्डागार कहा जाता है-(**धनसंरक्षिणी शाला भाण्डागारमितीरिता।** अध्याय १८.१२)। प्रस्तुत अध्याय में '**भाण्डागार**'-'**कोशागार**' के निर्माण-सम्बन्धी वर्णन है, जो कि राजप्रासाद का उपाङ्ग है। न्यायालय के समान इसके भी दो भेद हैं-देश्य और पौर। इससे पूर्व इस अध्याय की प्रारम्भिक पंक्तियों में कतिपय वास्तुशास्त्रीय आचार्यों का नामोल्लेख हुआ है।

**एकोनविंश अध्याय : अन्त:पुरलक्षणगवाक्षलक्षण :**

उन्नीसवें अध्याय का शीर्षक, 'अन्त:पुरलक्षणगवाक्षलक्षण' है, जिसमें राजप्रासाद में अन्त:पुर को महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान करते हुए उसके निर्माण का निर्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त इसमें पद्मपत्र, धेनुपाद, आदि विभिन्न प्रकार के गवाक्षों के निर्माण से सम्बन्धित वर्णन है।

**विंश अध्याय : आयुधशालापुस्तकशालालक्षण :**

बीसवें अध्याय में 'आयुधशाला' (आयुधागार) का वर्णन है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियों में शिव, हरि, ब्रह्म आदि आयुध-देवों का नामोल्लेख हुआ है, जिन्होंने युद्ध-विषयक विज्ञान और प्रशिक्षण को देवों से प्राप्त किया और उसे पृथ्वी पर राजाओं को उनके तथा मानव के हित के लिए प्रदान किया। इस अध्याय में आयुधशाला में रखे जाने वाले भाला, तलवार, कुठार आदि विभिन्न प्रकार के अस्त्र-शस्त्रों का भी

नामोल्लेख हुआ है। अध्याय के अंत में पुस्तकशाला* (राजकीय पुस्तकालय) के निर्माण का निर्देश दिया गया है।

प्राचीन भारत में पुस्तकालय के निर्माण में एक मण्डप बनाना अनिवार्य समझा जाता था, जहाँ पर ग्रन्थों का पाठ किया जाता था।

**एकविंश-द्वाविंश अध्याय : अन्तर्भवन-लक्षण, भोजनशालालक्षण :**

इक्कीसवें अध्याय का शीर्षक 'अन्तर्भवन-लक्षण' है जिसमें सभी प्रकार के विशिष्ट आवासीय गृहों में अन्तर्कक्ष-निर्माण की बात कही गई है। बाईसवें अध्याय में भवन के पश्चिम अथवा उत्तर दिशा में भोजनशाला के निर्माण-सम्बन्धी वर्णन, मान एवं उसके रचनाङ्गों के रूप में स्तम्भ और पीठादि के सहित हुआ है। इसे गृह में एक विशेष स्थान प्राप्त था। इसमें यतियों, पितरों, बच्चों एवं महिलाओं आदि के बैठने के लिए पृथक्-पृथक् एक निश्चित स्थान होने का उल्लेख हुआ है, जो कि तत्कालीन भारत में गृहस्थ की सफलता और धार्मिकता को प्रदर्शित करता है।

**त्रयोविंश अध्याय : शय्यागृह-लक्षण :**

प्रस्तुत अध्याय में मनोहर शय्या-गृह के निर्माण का वर्णन है, जिसमें तदर्थ उपयुक्त स्थान, शय्यागृह की आकृति, उसमें बनाये जाने वाले द्वारों की संख्या तथा सोपान आदि के निर्माण की चर्चा की गई है।

**चतुर्विंश अध्याय : वसन्तगृह-लक्षण :**

चौबीसवें अध्याय की संज्ञा 'वसन्तगृह-लक्षण' है, जिसमें नगर के उद्यानों में और राजभवनों के मध्य में वसन्तगृह-निर्माण का निर्देश है, जिसका प्रयोग विशेषतः वसन्तर्तु में होता है। इस प्रसङ्ग में उसकी आकृति, चत्वर, तोरण, द्वार, आङ्गन, मण्डप आदि भी वर्णित हैं।

**पञ्चविंश अध्याय : सकलविधद्वारलक्षण :**

पच्चीसवें अध्याय में भवनरचनाङ्ग के रूप में लक्ष्मी, गान्धर्व, विश्वकर्म, वैश्रणक आदि बारह प्रकार के द्वारों का नामोल्लेख करते हुए उनकी उपयुक्तता किन-किन भवनों पर है, एतद्विषयक चर्चा है। इनके अतिरिक्त पद्मादि मुख्य द्वारों की विभिन्न स्थलों पर स्थापना तथा उनकी रचनाविधि का वर्णन है।

---

* खड्गसन्धारणं राज्ञशशास्त्रसेवनमित्यपि। द्वयं (चैव विशेषेण) शुभप्रदमितीरितम्।।

–अध्याय २०. २३

**षड्विंश अध्याय : तोरण-लक्षण :**

इस अध्याय में तोरण-निर्माण-सम्बन्धी वर्णन है, जिसकी रचना शिला, काष्ठ एवं सुधादि वास्तुद्रव्यों से बताते हुए ग्रन्थकार ने उसके प्रकल्पन के स्थानों में शालान्त, चत्वरान्त, द्वारान्तर, कूट, अधिष्ठान, भित्ति का अन्त, कपाट, अलिन्द वेदिका, डोला, वातायन, स्तम्भ, पटल, पर्यङ्क एवं सोपान का उल्लेख किया है।

इसके साथ तोरण-प्रकल्पन के विभिन्न आकृति-विशेष का भी विवेचन है। यह भारतीय द्वारों का एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण शिल्प-सम्बन्धी रचना है। आगे इसी अध्याय में तोरणों के सौंदर्य की अभिवृद्धि के लिए इन्हें आम्रपत्रादि के रूप से अलङ्कृत करने, पक्षियों के चित्रों तथा बेलबूटों को उत्कीर्ण करने एवं लक्ष्मी आदि देवियों के स्वरूप का अङ्कन करने का निर्देश है।

**सप्तविंश अध्याय : अधिष्ठान-लक्षण :**

सत्ताईसवें अध्याय में स्तम्भों के अधोभाग में बनाई जाने वाली विभिन्न प्रकार की पीठिकाओं का उद्देश्य भवन की ऊँचाई, रक्षा, शोभा एवं दृढ़ता बताते हुए मञ्चभद्र, बोधिभद्र, वाजिभद्र, कुमुदभद्र, मञ्चबन्ध, बोधिबन्ध, वाजिबन्ध एवं कुमुदबन्ध नामक आठ प्रकार के अधिष्ठानों की रचना से सम्बन्धित वर्णन है।

**अष्टाविंश-नवविंश-त्रिंश-एकत्रिंश-द्वात्रिंश अध्याय : एकादि नवभौम-गोपुरविधि :**

अठाईसवें अध्याय से लेकर बत्तीसवें अध्याय तक एक से नव तलों तक वाले गोपुरों (प्राकाराश्रित द्वारों) के निर्माण का वर्णन है। इसके प्रकल्पन-स्थलों में देवालय, राजभवन, पुर, ग्राम, दुर्ग, न्यायशाला, रङ्गशाला, पाठशाला एवं धनिकों के गृहद्वार विहित हैं। ग्रन्थकार ने प्रमाणसहित रचना-विधि के साथ-साथ उनके अलङ्करण आदि की भी विस्तृत चर्चा की है।

**त्रयस्त्रिंश-चतुस्त्रिंश अध्याय : वापी-तटाक-लक्षण :**

इन दोनों अध्यायों में जलसङ्ग्रह के साधनों का वर्णन है। तैंतीसवें अध्याय में वापी तथा कूप-निर्माण की परिचर्चा करते हुए वापी-निर्माण चतुष्कोण, गोल अथवा दीर्घाकृति के रूप में करने का निर्देश दिया गया है। इस सम्बन्ध में उसके प्रमाण तथा उसे आङ्गन, सोपान मुखमण्डप और द्वारयुक्त करने आदि का भी उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार चौंतीसवें अध्याय में जलसङ्ग्रहार्थ '**तटाक-निर्माण**' का वर्णन किया

गया है। ग्रन्थकार के अनुसार इसका निर्माण ग्राम के मध्य में शुभस्थल पर तथा मार्ग के मध्य भाग में करना चाहिए।

**पञ्चत्रिंश-षट्त्रिंश अध्याय : नृपदेवालयविधानपूर्व मण्टप-विधान :**

पैंतीसवें तथा छत्तीसवें अध्याय में राजप्रासाद में 'मण्डपविधान' का वर्णन है, जो कि राजभवन में पारिवारिक पूजा-स्थल है।

**सप्तत्रिंश अध्याय : मृगशालालक्षण :**

सैंतीसवें अध्याय में **'मृगशाला'** का वर्णन किया गया है। यह भी राजभवन की सहायक रचना है, जिसमें शुक, मयूर तथा हरिण आदि प्राणियों को रखने के लिए विशिष्ट प्रकार की मृगशाला या जालीदार पिञ्जरों के निर्माण पर विधिवत् प्रकाश डाला गया है। इस प्रकार की व्यवस्था इस ग्रन्थ की अद्वितीय देन है।

**अष्टत्रिंश-नवत्रिंश अध्याय : वाजिशाला-हस्तिशालालक्षण :**

अड़तीसवें तथा उनचालीसवें अध्याय में क्रमशः **'वाजिशाला'** एवं **'गजशाला'** के निर्माण-विषयक वर्णन विस्तारपूर्वक हुआ है, जो कि राजप्रासाद की ही सहायक रचनाएँ हैं। ये शालाएँ नित्य और नैमित्तिक भेद से दो-दो प्रकार की होती हैं-(तेषां बहूनां सततावासस्थानं नित्याशाला। नृपालयभवनादि समीपे कदाचित्समुचितेषु समयेषु आनीय स्थापनस्थानं नैमित्तिशालेति तदर्थकमः)।

**चत्वारिंश अध्याय : विद्याभवन :**

चालीसवें अध्याय की संज्ञा 'विद्याशाला' है जिसमें विद्यालय के निर्माण से सम्बन्धित स्थापत्य का वर्णन किया गया है, जो कि अन्य स्थापत्य ग्रन्थों में कदाचित् ही देखने को मिलता है। इसमें प्रासाद, ग्राम तथा नगर में एक शैली तथा एक प्रमाण में विद्यालयों की स्थापना करने का उल्लेख हुआ है। इसमें चतुर्दिक् द्वार, स्तम्भ, अधिष्ठान तथा अलङ्करण आदि की रचना अपेक्षित है।

**एकचत्वारिंश अध्याय : सङ्कीर्णभवन-लक्षण :**

इक्तालीसवें अध्याय को 'सङ्कीर्णभवनलक्षण' की संज्ञा प्रदान की गई है, जिसमें एक विशेष प्रकार की भवन-रचना का वर्णन है। यह दो प्रकार का होता है- प्रथम-राजाप्रासाद की भाँति भव्य तथा द्वितीय-साधारण। प्रस्तुत अध्याय में इन दोनों प्रकार के भवननिवेश की चर्चा की गई है।

**द्विचत्वारिंश-त्रिचत्वारिंश अध्याय : पताकापारिभद्र-लक्षण :**

इन अध्यायों में से प्रथम अध्याय में भवनों के अलङ्करण के लिए द्वारों के ऊपर के पाट, पाषाण स्तम्भों के शिखर, सोपानों, दीपस्थान, पर्यङ्क, शालाओं तथा गवाक्षों आदि के लिए मुख, प्रतिमुख, तोला, किंकिणी, रेखिका आदि विभिन्न प्रकार की पताकाओं (Bunlings) का विस्तृत वर्णन हुआ है। तैंतालीसवें अध्याय में कील के विषय में चर्चा की गई है, जिसका तकनीकी नाम '**पारिभद्र**' है।

**चतुश्चत्वारिंश-पञ्चचत्वारिंश अध्याय : महाशाला-विशेषशाला-लक्षण :**

चौवालीसवें तथा पैंतालीसवें अध्याय में सभा-कक्षों अथवा ऐसे कक्षों के निर्माण का वर्णन है, जिनमें अधिक संख्या में लोग बैठ सकें और जिन्हें आधुनिक समय में Drawing Rooms या वराण्डा कहा जाता है। इन्हें राजप्रासाद की भाँति विशिष्ट सुविधा-सम्पन्न शाला कहा जा सकता है। यह दो वर्गों में विभाजित है-**महाशाला** और **विशेषशाला।** इनमें से विशेषशाला कई मञ्जिलों वाली होती है।

**षट्चत्वारिंश-सप्तचत्वारिंश-अष्टचत्वारिंश अध्याय : कल्याणशाला-पञ्चभौम-विधान गोपुर-विधान :**

इन अध्यायों में मागध, पाञ्चाल तथा कलिङ्ग आदि विभिन्न प्रकार के विमानों एवं गोपुरों सहित मानुषी, गान्धर्वी और दैवी भेद से तीन प्रकार की कल्याणशाला अर्थात् मण्डपों के निर्माण से सम्बन्धित वर्णन है। मण्डप-प्रभेदों में विश्वकर्मा ने चौबीस प्रकार के मण्डपों का उल्लेख किया है, जिनका प्रयोग विशिष्ट अवरों पर अभिषेक, यज्ञ, विवाह, विभिन्न प्रकार के उत्सव, ग्रीष्मादि विभिन्न ऋतुओं के अनुकूल विहार तथा अध्ययन के लिए होता है। इनकी रचना में अनेक स्तम्भों का विधान है जिनकी रचना शिला, धातु और काष्ठ से होती है।

**एकोनपञ्चाश अध्याय : रङ्गशाला-लक्षण :**

इस अध्याय का नाम 'रङ्गशालालक्षण' है, जिसमें नगर में, राजप्रासाद के अग्रिम भाग में या कल्पित सम्मेलन स्थल में विविध रचनाङ्गों सहित 'रङ्गशाला' की स्थापना का वर्णन है। यहाँ पर 'गीतिशाला' और 'नाट्यशाला' का निर्माण संयुक्त रूप से करने का निर्देश है परन्तु कहीं-कहीं गीतिशाला और नाट्यशाला पृथक्-पृथक् भी हो सकती है। दैवी, गान्धर्वी और मानुषी नाम से इसका त्रिविध विभाजन किया गया है। इस अध्याय में आगे रङ्गशाला की सौंदर्य-अभिवृद्धि के लिए मणिदर्पण, तोरण तथा लक्ष्मी, सरस्वती आदि देवियों और शिव आदि देवों एवं सूर्य-चन्द्र आदि के भी चित्रों को स्थापित करने का निर्देश है।

**पञ्चाश-एकपञ्चाश-द्विपञ्चाश अध्याय : मन्त्र्यादिभवन-लक्षण, ग्रामगृह-निर्माणक्रम, विप्रादिचातुर्वर्ण्यगृह-विशेषलक्षण:**

पचासवें अध्याय में मन्त्रियों, सेनापति एवं युवराज के भवनों के निर्माण-सम्बन्धी चर्चा है और अग्रिम दो अध्यायों में ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य एवं शूद्र, इन चारों वर्णों के आवासीय भवनों के निर्माण का वर्णन किया गया है।

**त्रिपञ्चाश अध्याय : कवाटार्गलादि-लक्षण :**

प्रस्तुत अध्याय का नाम 'कवाटार्गलादिलक्षण' है, जिसमें द्वारों के निर्माण से सम्बन्धित वर्णन है। यहाँ पर द्वारों को जोड़ने तथा शुक्र, हंस आदि का मण्डन कर एवं नानाविध पुष्परूपों और अनेक पत्रों का अङ्कन कर उन्हें एक विशेष आकृति प्रदान करने का उल्लेख हुआ है।

**चतुःपञ्चाश अध्याय : सर्वविधसोपान-लक्षण :**

चौवनवें अध्याय में 'सोपान-निर्माण' से सम्बन्धित बातों का विशद विवेचन हुआ है, जिसमें चढ़ने-उतरने के लिए सीधे तथा गोलाकार, दोनों प्रकार के सोपानों के निर्माण का निर्देश है। देवागार तथा अन्य मनुष्यों के भवनों में शिलामय सोपान को प्रशस्त बताया गया है। ग्रन्थकार की दृष्टि में सोपान के प्रारम्भ एवं अन्त में प्रवेश एवं निकास के लिए द्वार, आवश्यकतानुसार उपद्वार, मध्यभाग में विश्रामस्थल, दीप रखने का स्थान तथा ऊपर की ओर अट्टालक और वितान आदि प्रकल्प्य हैं।

**पञ्चपञ्चाश-षट्पञ्चाश-सप्तपञ्चाश अध्याय : एकशाला-द्विशाला-बहुशाला-लक्षण :**

इन अध्यायों में जनसाधारण के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों में बनाई जाने वाली भिन्न-भिन्न शलाओं का वर्णन है, जिनकी स्थापना शासन-प्रमुख के द्वारा विभिन्न प्रकार की विद्याओं या कलाओं के परीक्षण के निमित्त बताई गई है। जैसे-एकशाला का निर्माण ग्राम में, द्विशाला का निर्माण मण्डल में और बहुशाला का निवेश राजधानी में। इन्हें दरबार-हॉल भी कहा जा सकता है, जहाँ पर वाद-विवाद, कवि-सम्मेलन आदि होते हैं।

**अष्टपञ्चाश अध्याय : नानाविधपीठिकावेदिका-लक्षण :**

इस अध्याय में **'वेदिकाओं'** (Pedestals) के निर्माण का वर्णन किया गया है। इनका निर्माण मन्दिरों और आवासीय भवनों के उत्तम-स्थल पर किया जाता है। ग्रन्थकार ने यहाँ पर तेरह प्रकार की वेदिकाओं का उल्लेख किया है। इस अध्याय में आगे **'पीठिकाओं'**-आसन या वेदिका-पाद के भी निर्माण का उल्लेख हुआ है।

**एकोनषष्टितम अध्याय : पोतिका-लक्षण :**

इस अध्याय का अभिधान 'पोतिकालक्षण', है, जिसमें विभिन्न आकृतियों की पोतिकाओं अर्थात् भित्ति अथवा स्तम्भ के सहारे निर्माण किये जाने वाले दीप रखने के स्थल की संरचनाओं तथा उनके अलङ्करण का वर्णन है।

**षष्टितम अध्याय : चत्वर-लक्षण :**

'चत्वरलक्षण' नामक साठवें अध्याय में चत्वरों के निर्माण-योजना-सम्बन्धी चर्चा है, जिनका प्रयोग सूर्य-प्रकाश में, चांदनी में या सन्ध्या-काल में बैठने के लिए करना है। चत्वरों को मूर्तियों के द्वारा सजाने के अतिरिक्त इस अध्याय में मलिन-जल के निकास के लिए मोरी आदि के भी निर्माण का वर्णन किया गया है।

**एकषष्टितम अध्याय : सन्धिबन्ध-लक्षण :**

इस अध्याय की संज्ञा 'सन्धिबन्धलक्षण' है, जिसमें करनिम्न, भूमिनिम्न, कुम्भनिम्न, खड्गनिम्न आदि सन्धिनामों का उल्लेख करते हुए सन्धिकर्म या सन्धिबन्ध अर्थात् जोड़ने के कार्य (बढ़ई एवं राजगीरी के कार्य) का वर्णन है।

**द्विषष्टि-त्रिषष्टितम अध्याय : सर्वविधावरण-लुपा-लक्षण :**

इन दोनों अध्यायों में से प्रथम अध्याय को 'सर्वविधावरणलक्षण' तथा द्वितीय अध्याय को 'लुपालक्षण' की संज्ञा दी गई है। प्रथम अध्याय में विभिन्न प्रकार की छतों और उनसे जलादि के निर्गमन-विषयक वर्णन है। इसे ही तकनीकी भाषा में **'आवरण'** कहा गया है। अगले अध्याय में सप्रमाण लुपा-निर्माण का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही लुपाओं पर चित्रण करने का भी उल्लेख हुआ है।

**चतुष्षष्टितम अध्याय : सकलविधस्तम्भ-लक्षण :**

प्रस्तुत अध्याय में स्तम्भों को सभी रचनाओं का आधार बताते हुए इसका प्रयोजन सौकर्य, सुख और शोभा बताया गया है। स्तम्भ-रचना के साधन के रूप में प्रस्तर, धातु, काष्ठ और इष्टकाएँ हैं। इस क्रम में देवकान्त, ब्रह्मकान्त, इन्द्रकान्त, विष्णुकान्त, स्कन्दकान्त, सोमकान्त, सुप्रतीकान्त, सूर्यकान्त, ब्राह्मणकान्त, कैलासकान्त, मेरुकान्त, एवं नन्दिकान्त नामक बारह प्रकार के स्तम्भों का वर्णन आकृति एवं प्रमाण सहित हुआ है। इसके साथ ही इनके अलङ्करण के सन्दर्भ में गज, वाजन, चक्रवाक, हंस, शुक, सारिका आदि का चित्रण तथा स्तम्भों के निर्माण के लिए उपयुक्त काष्ठों का भी नामोल्लेख हुआ है।

**पञ्चषष्टि-षट्षष्टितम अध्याय : धान्यगृह-गोशालालक्षण :**

इन दोनों अध्यायों में से पैंसठवें अध्याय में 'धान्यगृह' या 'धान्यागार' के निर्माण का वर्णन है, जिसमें दो द्वारों तथा धान्य को चढ़ाने और उतारने के लिए चबूतरे बनाने का निर्देश दिया गया है। छियासठवें अध्याय में गोशाला-निर्माण से सम्बन्धित चर्चा है, जिसका निर्माण आङ्गन सहित मण्डपाकार रूप में अथवा स्तम्भयुक्त या स्तम्भरहित कूटकार के रूप में किया जा सकता है। इसमें सूर्य का प्रकाश तथा आवरण अपेक्षित है, जिससे हेमन्तादि ऋतु में सुखप्रद हो सके। इसे द्वार, सोपान तथा रज्जु आदि से युक्त करने का भी उल्लेख हुआ है।

**सप्तषष्टितम अध्याय : ग्रामपुरद्वार-लक्षण :**

सड़सठवें अध्याय में ग्रामों, नगरों एवं दुर्गों में प्रवेश-हेतु बनाये जाने वाले प्रमुख-द्वारों का वर्णन उनके प्रमाण आदि के साथ किया गया है।

**अष्टषष्टि-नवषष्टि-सप्ततितम अध्याय : मार्ग-मार्गशाला-मार्गविश्रान्ति-स्थलकल्पन-लक्षण :**

इन अध्यायों में से प्रथम दो अध्यायों में मार्गों तथा जनस्थानों अर्थात् मार्गशालाओं के निर्माण से सम्बन्धित वर्णन है। मार्गशालाओं को सभी आवश्यक सामग्री से सम्पन्न रखने और पर्वतीय क्षेत्रों में बनाये जाने वाले मार्गों को दोनों ओर झुकाव-पूर्ण बनाने का निर्देश दिया गया है। सत्तरवें अध्याय में मार्गों के समीप भाग में एक-एक कोश की दूरी पर सशस्त्र बलों तथा श्रान्त पथिकों आदि के विश्राम-हेतु सुदृढ़ मण्डपों अथवा कूटों, छतों और आसन आदि से समन्वित मार्गविश्रान्ति-स्थलों के सन्निवेश का वर्णन है। इनके अन्य रचनाङ्गों के रूप में विविध तलों वाले गोपुरों, चत्वरों तथा द्वारों आदि के साथ-साथ देवों, गन्धर्वों एवं राजाओं आदि के चित्रों से उन्हें अलङ्कृत करने का भी विवेचन है। आगे वहाँ पर नाना प्रकार के वृक्षों का आरोपण, जलाशय-व्यवस्था तथा मार्गद्वारों को तोरणों एवं चित्रों से अलङ्कृत करने का निर्देश है।

**एकसप्ततितम अध्याय : विशेषभवन-लक्षण :**

प्रस्तुत अध्याय में मेरुभवन, मन्दरभवन, कैलासभवन, त्रिविष्टिभवन तथा वनभवन नामक विशेषभवनों के निर्माण-सम्बन्धी वर्णन है, जिनका निर्माण राजधानी वर्ग के नगरों में किया जाता है।

**द्विसप्तति-त्रिसप्तति-चतुस्सप्तति-पञ्चसप्तति-अष्टसप्ततितम अध्याय : देवप्रासाद-गर्भगृहे-शतस्तम्भमण्डप-विमान-प्राकार-लक्षण :**

इन अध्यायों में मन्दिर स्थापत्य से सम्बन्धित विविध रचनाओं का प्रतिपादन

हुआ है। 'देवप्रासादलक्षण' नामक बहत्तरवें अध्याय में देवों के लिए गोपुर प्राकार आदि से युक्त मन्दिरों का निर्माण, तटाक-स्थापना, बलिपीठ तथा मण्डपादि के सन्निवेश के साथ-साथ वहाँ पर अन्योचित भवनों की रचना, उनमें द्वार-योजना तथा पाकशाला, वाहन-स्थान, धान्यागार, वस्त्रगृह, हस्तिशाला, अश्वशाला आदि नानाविध शालाओं के निर्माण का वर्णन है।

अग्रिम अध्याय में देवायतन में गर्भगृह के सन्निवेश-सन्दर्भ में गर्भगृह का लक्षण, द्वारयुक्त गर्भगृह का निर्माण, इसका परिमाण तथा उसके अन्य सहायक अङ्गों की रचना, देवप्रतिमा के लिए जालीदार द्वार और देव एवं ब्राह्मभेद से भेदकथन एवं स्तम्भ-योजना आदि का निरूपण है।

'शतस्तम्भमण्डपलक्षण' संज्ञक चौहत्तरवें अध्याय के आरम्भिक पद्यों में अभिषेकार्थ, देवों के अलङ्करण के लिए तथा विवाह आदि नैमित्तिक कार्यादि के सम्पादनार्थ मण्डप-विधान की आवश्यकता बताई गई है, तदनन्तर मण्डपों में स्तम्भ-संरचना के संदर्भ में चार स्तम्भों से लेकर एक सौ स्तम्भों की योजना स्तम्भनिर्माण-द्रव्य एवं मण्डपों की रचनाविधि का विवेचन है। इसके आगे सूर्यकान्त, चन्द्रकान्त, इन्द्रकान्त, गन्धर्वकान्त, ब्रह्मकान्त, नामक एक सौ स्तम्भों वाले मण्डपों के पांच भेद, उनकी निर्माण-विधि एवं आकृति आदि का वर्णन है।

पच्छत्तरवां अध्याय प्रासाद-स्थापत्य के अन्तर्गत विमान-वास्तु को समर्पित है, जिसमें विमान की परिभाषा, उसकी आकृति, विमान-रचना के द्रव्य तथा अन्य विभिन्न रचनाङ्गों सहित उसे निर्माण करने की विधि बताई गई है। इस क्रम में आगे कुम्भ एवं पञ्जरयुक्त विमान का प्रकल्पन कलिङ्ग, द्राविड, शौरसेनिक तथा कौसलभेद से चतुर्विध बताते हुए उन्हें अलङ्कृत करने का भी उल्लेख हुआ है। अग्रिम अध्याय में प्राकार-प्रकल्पना का प्रतिपादन है। इसमें दुर्ग, राजधानी, नगर एवं मन्दिर में निर्माण किये जाने की दृष्टि से इसे दो प्रकार का बताया गया है। आगे इसी के आधार पर उनका भिन्न-भिन्न मान, उनका आकार, निर्माण-विधि तथा उसमें द्वारों की रचना सम अथवा विषम संख्या में करने आदि का विवेचन है।

**सप्तसप्ततितम अध्याय : उपपीठ-लक्षण :**

इस अध्याय में उपपीठ की संरचना का उद्देश्य शोभा एवं रक्षा बताते हुए भवन के महत्त्वपूर्ण अङ्गों जैसे-वेदिका, द्वार, वृत्तखण्ड, स्तम्भ तथा दीवार आदि को सुरक्षित रखने अथवा बल प्रदान करने के लिए '**उपपीठ**' के निर्माण का वर्णन प्रमाण सहित

किया गया है। ग्रन्थकार ने प्रमाणभेद से इसे त्रिविध–उत्तम, मध्यम एवं अधम तथा जाति अथवा शैलीभेद से प्रस्तरनिर्मित उपपीठों में प्रतिभद्र, वाजिभद्र एवं मञ्चभद्र तथा काष्ठनिर्मित उपपीठों में सूर्यभद्र, चन्द्रभद्र और धातुनिर्मित उपपीठों के अन्तर्गत गन्धर्वभद्र एवं देवभद्र का विवेचन किया है।

**अष्टसप्ततितम अध्याय : सकलविधदेवपीठलक्षण :**
**एकोनाशीतितम अध्याय : सकलबेर-लक्षण :**
**अशीतितम अध्याय : शिवबेर-भेदक्रम :**
**एकाशीततम अध्याय : विष्णुबेर-भेदक्रम :**
**द्वयशीततम अध्याय : लक्ष्मीगौर्यादिबेर-लक्षण :**
**त्र्यशीततम अध्याय : भक्तबेरस्थापन-क्रम :**
**चतुरशीततम अध्याय : कल्पवृक्षादिवाहनलक्षण :**

इन सातों अध्यायों में विभिन्न देवी-देवताओं आदि के प्रतिमा-निर्माण से सम्बन्धित स्थापत्य-कला का सविस्तार प्रतिपादन हुआ है।

**पञ्चाशीततम-षडशीततम-सप्ताशीततम अध्याय** :-इन तीनों अध्यायों की संज्ञा क्रमश '**उत्सवकाल-निर्णय**', '**प्रतिमापूजनभजनादिफल-कथन**' तथा '**मनुष्यजन्मफलकथन**' है, जिनमें प्राचीन भारतीय मान्यताओं के अनुसार देवायतन बनवाना तथा उनमें प्रतिष्ठा की जाने वाली प्रतिमाओं का निर्माण करवाने आदि का वर्णन है और साथ में इनका औचित्य भी बताया गया है।

## मानसार

प्रकाशित वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में '**मानसार**' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है। सर्वप्रथम १९३४ ई० में श्री रामराज ने अपने 'हिंदुओं के वास्तुशास्त्र' निबन्ध में मानसार की एक अपूर्ण हस्तलिपि के आधार पर पहले कुछ अध्यायों के विषय का उल्लेख किया। उसके पश्चात् मानसार की अनेक हस्तलिपियों के कारण और उनको समझाने वाले रेखाचित्रों के अभाव में कोई भी विद्वान् उसे टीका-टिप्पणी सहित प्रकाशित करने का साहस ४० वर्षों तक न कर सका। सन् १९१४ ई० में इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृत के प्रो० प्रसन्नकुमार आचार्य ने इस महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ के पुनर्जन्म का कार्य अपने हाथ में लिया।

मानसार में प्रयुक्त भाषा की व्याकरण की अशुद्धि और पारिभाषिक शब्दों के

अर्थ अज्ञात होने के कारण उसकी व्याख्या करना अत्यन्त कठिन था। इस दु:साध्य कार्य को करने के लिए प्रो० प्रसन्नकुमार आचार्य ने प्राचीन शिल्प-साहित्य, शिलालेख और अन्य पुरातत्त्व सामग्री का अध्ययन किया। उन्होंने भारतीय शिल्प में प्रवीण वास्तुविदों और अभियन्ताओं के साथ अफगानिस्तान की सीमा पर लाण्डी कोटल से दक्षिण में रामेश्वरम् तक और सिन्ध के मोहनजोदड़ो से असम के शिलाङ्ग तक भारत का भ्रमण किया और मन्दिरों, गुफा-मन्दिरों, दुर्गों तथा राजप्रासदों का निरीक्षण किया। इस प्रकार अत्यन्त कठिन परिश्रम से उन्होंने **'ए डिक्शनी ऑफ हिन्दू आर्किटेक्चर'** के अन्तर्गत प्राचीन संस्कृत के लगभग ३००० वास्तुविषयक शब्दों का विश्वकोश बनाया, जिसमें उन शब्दों की आङ्गलभाषा में विस्तृत व्याख्या की और स्थापत्य-ग्रन्थों से उनके सन्दर्भ भी दिए। पुनः उन्होंने मानसार का आङ्गलभाषा में अनुवाद अपने हाथ लिया और उसे एक अनुभवी वास्तुचित्रकार से चित्र बनवाकर चित्रों सहित सन् १९३३ ई० में प्रकाशित किया। इसके अतिरिक्त **'मानसार ऑन् आर्किटेक्चर एण्ड स्कल्प्चर'**, **'आर्किटेक्चर ऑफ् मानसार'**, **'हिन्दू आर्किटेक्चर इन् इण्डिया एण्ड एब्रॉड'** तथा **'एन इन्साइक्लोपीडिआ ऑफ् हिन्दू आर्किटेक्चर'** प्रभृति ग्रन्थों का प्रणयन और प्रकाशन करवाया।

मानसार के सम्बन्ध में प्रथम महत्त्वपूर्ण प्रश्न यह उपस्थित होता है कि इसका लेखक कौन है और इसकी रचना कब हुई। कतिपय विद्वानों के मन्तव्यानुसार यह ग्रन्थ किसी एक लेखक का न होकर अनेक लेखकों का सङ्ग्रह है, जो कि समय-समय पर इसमें वृद्धि करते रहे हैं जिसके कारण इस ग्रन्थ को यह वर्तमान आकार प्राप्त हुआ है और यह वास्तुशास्त्र का एक सम्पूर्ण ग्रन्थ बन गया है किन्तु इस परिकल्पना को पुष्ट करने के लिए अभी कोई प्रमाण प्राप्त नहीं हुआ है। स्वयं ग्रन्थ में 'मानसार' शब्द तीन अर्थों में प्रयुक्त हुआ है। (१) अज्ञात कुल और समय के एक लेखक का नाम, (२) मानसार के रूढ़ अर्थ **'मापने का सार'** जानने वाला शिल्पी और (३) एक ऐसा ग्रन्थ जिसमें वास्तु-शिल्प के सिद्धान्त और मापों का वर्णन हो।[1] मानसार में कई ग्रन्थों का सङ्केत है परन्तु उनका भी लेखक और लेखन-काल अज्ञात है। केवल एक बाह्य प्रमाण छठी शताब्दी ई० के दण्डी कवि के दशकुमारचरित में प्राप्त होता है। इसमें

१. मानानां स्थापत्यशिल्पानां भास्करीयशिल्पानां च सारो मूलं संकलनं वा यत्र शास्त्रेऽस्ति तन्मानसारमिति ग्रन्थ विशेषस्य संज्ञा संभाव्यते।
प्रस्तुत ग्रन्थे मानसारशब्दस्य द्विविधो व्यवहार: ग्रन्थकृत्संज्ञारूपेण ग्रन्थसंज्ञारूपेण चेति।
-मानसार ऑन् आर्किटेक्चर एण्ड स्कल्पचर भूमिका, पृष्ठ १२

मानसार को मालवा देश का राजा बताया गया है जिसका युद्ध मगध के राजा राजहंस से हुआ था।[१] यह राजहंस दशकुमारों में प्रधान राजकुमार राजवाहन का पिता था और यह कथा इन्हीं दश राजकुमारों की है किन्तु इस कथा में कहीं पर भी नाम मात्र का भी सङ्केत नहीं है कि यह किस काल की है और राजा मानसार को वास्तुविद्या में निपुण भी नहीं कहा गया है। जो विद्वान् मानसार को मालवा देश का राजा ही मानते हैं वे इस ग्रन्थ को सातवीं शताब्दी में रचित मानते हैं। प्रो० प्रसन्नकुमार आचार्य के विचार में मानसार में वर्णित प्रकरण विषय आंशिक रूप से युरोपीय शिल्पी विट्रुवियास (ई०पू० २५ वर्ष) के ग्रन्थ से समानता रखते हैं,[२] अतः सम्भव है इस ग्रन्थ की रचना भी ई० के प्रथम शताब्दी के आस-पास हुई हो, किन्तु यह सब कल्पनामात्र है। जो कुछ भी हो यह निर्विवाद है कि '**मानसार**' संस्कृत-साहित्य में वास्तुशास्त्र का एक महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ है और यह अत्यन्त प्रसिद्ध है।

प्रो० आचार्य के द्वारा सम्पादित मानसार में सत्तर (७०) अध्याय हैं। प्रथम चालीस (४०) अध्यायों में भवननिवेश और नगरनिवेश का वर्णन है। अग्रिम दस (१०) अध्यायों में राजा के राजमुकुट, रथों, शय्या आदि साज-सामान का संक्षिप्त वर्णन किया गया है। शेष बीस (२०) अध्यायों में वैष्णव, बौद्ध और जैन मूर्त्तियों के लक्षण, उनके विविध अङ्गों की आनुपातिक माप और रचना-काल का विस्तृत उल्लेख मिलता है।

**प्रथम अध्याय : सङ्ग्रह :**

'सङ्ग्रह' नामक प्रथम अध्याय में मङ्गलाचरण के पश्चात् ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों की सूची दी गई है।

**द्वितीय अध्याय : शिल्पिलक्षणपूर्वक मानोपकरणविधान :** इस अध्याय के प्रारम्भ में ब्रह्माण्ड के सृजक महाविश्वकर्मा के चतुर्मुख होने की प्रकल्पना के साथ पूर्व, दक्षिण, उत्तर एवं पश्चिम-दिशा का नाम क्रमशः विश्वभू, विश्वविद्, विश्वस्थ एवं विश्वस्रष्टा बताते हुए इनसे ही क्रमशः विश्वकर्मा, मय, त्वष्टा और मनु की उत्पत्ति बताई गई है, जो कि क्रमशः इन्द्र, सुरेन्द्र, वैश्रवण एवं नल के पुत्र कहलाये। आगे

---

१. मगधनायका मालेश्वरं प्रत्ययसंग्रामघस्मरं समुत्कटमानसारं मानसारं प्रति............संग्रामाभिलाषेण रोषेण महताविष्टो निर्ययौ। राजहंसो मुनिमभाषत, भगवन् मानसारः प्रबलेन दैवबलेन मां निर्जित्य मद्भोग्यं राज्यमनुभवति।
–दशकुमारचरित, पूर्वपीठिका, प्रथम उच्छ्वास

२. मानसार ऑन् आर्किटेक्चर एण्ड स्कल्पचर, भूमिका, पृष्ठ १२

विश्वकर्मा, मय, त्वष्टा एवं मनु से उत्पन्न शिल्पियों की चार श्रेणियों का उल्लेख उनकी योग्यताओं के साथ हुआ, जिसमें स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि और तक्षक हैं, तदनन्तर माप-सम्बन्धी विवरण दिया गया है। इसकी सबसे छोटी इकाई परमाणु है और रथधूलि, बालाग्र, लिक्षा आदि अन्य इकाईयाँ इसी के अनुपात में होती हैं।* इसके हस्त एवं दण्ड-निर्माण के लिए उपयुक्त काष्ठ तथा रज्जु बनाने के लिए उपयुक्त रुई, रेशम एवं छाल आदि का उल्लेख हुआ है।

**तृतीय-चतुर्थ अध्याय : वास्तुप्रकरण एवं भूमिसंग्रह-विधान :**

'वास्तुप्रकरण' नामक तृतीय अध्याय में वस्तु अथवा वास्तु के अन्तर्गत पृथिवी, भवन, यान एवं पर्यङ्क (आसन) का उल्लेख करते हुए इनमें से पृथिवी को प्रमुख अथवा सबका आधारभूत वास्तु बताया गया है। अग्रिम पद्यों में भूमि-संग्रह के सम्बन्ध में उसे ग्रहण करने से पूर्व आकार, वर्ण, गन्ध, रूप, शब्द (ध्वनि) तथा रस (स्वाद) की दृष्टि से परीक्षण करके ग्रहण करने का निर्देश है तथा ब्रह्मणादि वर्णों के लिए उपयुक्त भूमि के रूप में लक्षणोल्लेख के साथ उन्हें चिन्हित किया गया है।

चतुर्थ अध्याय में देवों एवं मनुष्यों के लिए भवनादि के सन्निवेश हेतु भूमि की आकृति, ध्वनि, उस पर स्थित वृक्षों, पुष्पादि की गन्ध, उसकी उपजाऊ क्षमता, रस तथा ढलान आदि की दृष्टि से उसकी प्रशस्तता का लक्षण-कथन करते हुए इसी प्रसङ्ग में अप्रशस्त भूमि को भी सलक्षण रेखाङ्कित किया गया है, जो कि भवनादि की रचना तथा मानव-जीवनोपयोगी अन्य आवश्यक सुविधा आदि की दृष्टि से सर्वथा अनुपयुक्त है।

**पञ्चम अध्याय : भूपरीक्षा-विधान :**

इस अध्याय में भूपरीक्षा-विधान के अन्तर्गत आकार, नाद (ध्वनि) तथा वर्णादि की दृष्टि से संग्रहित भूमि की परीक्षा करने से सम्बन्धित निर्देश है, जिसमें मङ्गलकामना से अभिप्रेरित कुशल शिल्पि द्वारा बलि प्रदान करने तथा स्वस्तिवाचन करने का निर्देश दिया गया है। एतदनन्तर भूमि की प्रशस्ता जानने के उद्देश्य से उसके परीक्षण क्रम में भूमि में वर्गाकार खात-खनन और उसे जल आदि से पूरित करने प्रक्रिया का उल्लेख

* गणना करने पर १ परमाणु १ इञ्च का ३४९५२५-वाँ अर्थात् लगभग साढ़े तीन लाखवाँ भाग निर्धारित होता है। इससे यह विदित होता है कि मानसार के रचना-काल से बहुत पूर्व ही परमाणु को कितना सूक्ष्म माना गया था।–मानसार वास्तुशास्त्र, डॉ० प्रसन्नकुमार आचार्य द्वारा सम्पादित संस्कृत मूलपाठ और उन्हीं के द्वारा किये अंग्रेजी अनुवाद पर आधारित हिन्दी अनुवाद, अनुवादक : बृजमोहन, भूमिका भाग, पृष्ठ ४

हुआ है। इसके आगे ग्रन्थकार ने चयनित भूमि के कर्षण (हल चलाने) से सम्बन्धित विषय का वर्णन किया है।

**षष्ठ अध्याय : शङ्कुस्थापन-लक्षण :**

छठे अध्याय में भवनादि-निर्माण हेतु प्रस्तावित स्थल पर उपयुक्त अयन, मास, पक्ष तथा दिन में शङ्कु के स्थापन की विधि का वर्णन है, जिससे सूर्य के प्रकाश में शङ्कु-छाया से दिङ्-निर्णय किया जा सके। इस प्रसङ्ग में ग्रन्थकार ने शङ्कु-निर्माण के लिए उपयुक्त वृक्ष-काष्ठ के नाम-कथन के साथ-साथ उसके मान एवं आकृति सहित उसकी रचना-विधि का वर्णन किया है।

**सप्तम अध्याय : पदविन्यास :**

इस अध्याय में सङ्ग्रहीत भूमियों में पद-विन्यास के लक्षण कहे गये हैं। इसमें विविध संख्या के पदों का विन्यास उपयुक्त ज्यामितिक आकृतियों–वर्गाकार, वृत्ताकार, चतुर्भुज, षड्भुज, अष्टभुज आदि मे किया गया है और उनके प्रत्येक पद में किसी न किसी देवता की स्थिति मानी गई है। यहाँ पर सकल, पैशाच (पेचक), पीठ, महापीठ, उपपीठ, उग्रपीठ, स्थण्डिल आदि बत्तीस प्रकार के पद-विन्यास की विधि बताई गई है, जिनमें विभाजित पदों या कोष्ठकों की संख्या एक से लेकर एक हजार चौबीस तक है।

**अष्टम अध्याय : बलिकर्म-विधान :**

प्रस्तुत अध्याय में ग्रामादि का निवेश-कार्य आरम्भ करने से पूर्व स्थपति द्वारा प्रदान की जाने वाली 'बलिकर्म' की विधि का वर्णन है।

## ग्रामनिवेश एवं पुरनिवेश

**नवम अध्याय : ग्राम लक्षण :**

यह अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमें ग्राम-योजना का विस्तृत वर्णन है। आकृति-विशेष के आधार पर ग्राम के दण्डक, सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, पद्मक, स्वस्तिक, प्रस्तर,कार्मुक तथा चतुर्मुख नामक आठ भेद और प्रत्येक की लम्बाई, चौड़ाई आदि नियत की गई है। ग्रन्थकार ने ग्रामों को सुरक्षित रखने के उद्देश्य से उनके चारों ओर सुरक्षा-संविधान के अन्तर्गत, परिखा का विधान किया है। इसके अतिरवित इसमें द्वार-सन्निवेश तथा ब्राह्मणादि विविध वर्णों के आवासीय भवनों एवं देवतायतन-निवेश

अर्थात् मन्दिर आदि का विन्यास आदि वर्णित है। विविध उपयोगों के अनुकूल मार्गों की चौड़ाई और उनका विन्यास नियत किया गया है। प्रमुख मार्गों पर कङ्कड़ कूटकर उसे सुदृढ़ बनाने का भी विधान है।

**दशम अध्याय : नगर-विधान :**

इस अध्याय में नगर-विधान का वर्णन है, जिसमें भूपति, मण्डलेश, पार्ष्णिक, नरेन्द्र आदि राजाओं के उपभोग की दृष्टि से विभिन्न नगरों का मान एवं राजधानी, केवल-नगर, पुर, नगरी, खेट, खर्वट, कुब्जक, पत्तन नामक नगरों के आठ भेद तथा उनके विशिष्ट लक्षण बताये गये हैं। इसके साथ ही शिविर, वाहिनीमुख, स्थानीय, द्रोणक, संविद्धार्थक, कोलक, निगम तथा स्कन्धावार नाम से अष्टविध दुर्गों का उल्लेख, पुनः इन अष्टविध दुर्गों को इनकी स्थिति के अनुरूप गिरिदुर्ग, वनदुर्ग, जलदुर्ग, पङ्कदुर्ग, रथदुर्ग, देवदुर्ग और मिश्रदुर्ग के रूप में वर्गीकृत किया गया है।

**एकादश अध्याय : भूमिलम्ब-विधान :**

ग्यारहवें अध्याय में एक से बारह तलों के भवनों की लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई का वर्णन है। भवनों की आकृति वर्गाकार, चतुर्भुजी, गोल, अष्टभुजी या अण्डाकार बताई है। यहाँ पर भवनों का विशेष माप न देकर विविध तलों के लिए लम्बाई, चौड़ाई और ऊँचाई के अनुपात दिये गये हैं।

**द्वादश अध्याय : गर्भविन्यास-विधान :**

इस अध्याय में देव-मन्दिरों, ब्राह्मणादि वर्णों के तथा ग्राम आदि में 'गर्भ-विन्यास' अर्थात् 'आधारशिला' और उसके साथ रखे जाने वाले द्रव्यों को स्थापित करने का वर्णन है। अध्याय के अन्त में '**प्रथमेष्टका**' का प्रमाण भी बताया गया है।

**त्रयोदश अध्याय : उपपीठ-विधान :**

तेरहवें अध्याय में उपपीठ का वर्णन है। इस अध्याय के प्रारम्भिक पद्यों में उपपीठ की ऊँचाई के विभिन्न अनुपातों का विवेचन है, तदनन्तर वेदिभद्र, प्रतिभद्र, और मञ्चभद्र संज्ञक उपपीठों का सभेद वर्णन किया गया है। अध्याय का समापन उपपीठ के निर्गम (Projection) के नौ भेदों के व्याख्या के साथ हुआ है।

**चतुर्दश अध्याय : अधिष्ठान-विधान :**

इस अध्याय में अधिष्ठान अर्थात् स्तम्भ के नीचे के आधार की रचना से सम्बन्धित

वर्णन है। इस प्रसङ्ग में ब्राह्मणादि वर्णों द्वारा उपभोग्य भवनों के स्तम्भों में उनका भिन्न-भिन्न परिमाण तथा अधिष्ठानों के भेद के अन्तर्गत पादबन्ध, उरगबन्ध, प्रतिक्रम, कुमुदबन्ध, श्रीबन्ध, मञ्चबन्ध, श्रेणीबन्ध,पद्मबन्ध, कुम्भबन्ध, वप्रबन्ध, वज्रबन्ध, श्रीभोग, रत्नबन्ध, पट्टबन्ध, कुक्षिबन्ध, कम्पबन्ध एवं श्रीकान्त नामक अधिष्ठान आदि का वर्णन किया गया है।

**पञ्चदश अध्याय : स्तम्भ-लक्षण :**

पन्द्रहवां अध्याय स्तम्भ-रचना की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमें स्तम्भों के लक्षण, उनके अनुपात; ब्रह्मकान्त, विष्णुब्रान्त, रूद्रकान्त आदि नाम से उनके भेद एवं आकार तथा उनके विविध अङ्गों की रचना से सम्बन्धित वर्णन है। इसके आगे कुम्भालङ्कार, स्तम्भ के विशिष्ट लक्षण तथा उसकी रचना काष्ठ अथवा पत्थरों से करने का निर्देश देते हुए दारुसङ्ग्रह की विधि तथा स्तम्भ-स्थापना आदि से सम्बन्धित विषय सविस्तार प्रतिपाद्य हैं।

**षोडश अध्याय : प्रस्तर-विधान :**

'प्रस्तर-विधान' नामक सोलहवें अध्याय में विभिन्न प्रकार के भवनों में सहायक अवयवों के साथ प्रस्तर (Entablature) अर्थात् स्तम्भ के ऊपर के भाग के निर्माण-सम्बन्धी वर्णन है। इसमें अधिष्ठान, स्तम्भ और प्रस्तर की ऊँचाई और चौड़ाई के विविध अनुपात दिये गये हैं।

**सप्तदश अध्याय : सन्धिकर्म-विधान :**

इस अध्याय में सन्धिकर्म अर्थात् लकड़ियों अथवा शिलास्तम्भों को जोड़ने का वर्णन है, जिसमें ग्रन्थकार ने सन्धि की परिभाषा, उसकी आवश्यकता एवं मल्लसंबद्ध, ब्रह्मराज, वेणुपर्व, पूर्गपर्व, देव, ऋषि, मेषुपर्व तथा दण्डिक नामक सन्धियों का प्रतिपादन किया है। इनका नाम सन्धि किये जाने वाले लकड़ियों की संख्या के आधार पर रखा गया है। इसके साथ ही सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, स्वस्तिक, वर्धमान नामक सन्धियों तथा मेषयुद्ध आदि अन्य सन्धियों का वर्णन सन्धि करने की विधि के साथ विस्तार से वर्णित है।

**अष्टादश अध्याय : विमानलक्षण :**

अठारहवें अध्याय में भवनों के सामान्य लक्षण का प्रतिपादन हुआ है। इसमें

विमानों का एक से बारह तलों तक वर्गीकरण किया गया है, जिनमें से प्रत्येक वर्ग के तीन भेद हैं–क्षुद्र, मध्यम और श्रेष्ठ। इसके साथ ही ईंट, पत्थर, लकड़ी और लोहा, चार प्रकार की निर्माणसामग्री एवं नागर, वेसर और द्राविड़ भेद से वास्तु की तीन शैली गिनाई गई है। आगे स्तूपिका एवं स्तूपिका-कील का परिमाण तथा उसकी रचना-विधि, लुपालक्षण (Loopin roof) एवं मुखभद्र (अग्रभाग वाला बरामदा), स्तूपिका-कील की प्रतिष्ठा आदि का वर्णन किया गया है।

**नवदश-त्रिंश अध्याय : तलविधान :**

उन्नीसवें अध्याय से लेकर तीसवें अध्याय तक एक तल से लेकर द्वादश तल तक वाले तल-भवन उनके विविध भेद तथा अन्य रचना-अङ्गों के माप और रचना-विधि आदि का विस्तृत विवेचन हुआ है। तीसवें अध्याय में द्वादश तल वाले भवनों के विधान के अतिरिक्त भवन में एक तल से दूसरे तल में तथा मण्डप, प्राकार, गोपुर, पर्वतीय क्षेत्र, वापी, कूप एवं तटाकादि में आरोह-अवरोह के लिए 'सोपान-लक्षण' एवं भवनों के विस्तारादि की दृष्टि से 'जातिहर्म्यादि लक्षण' का प्रतिपादन हुआ है। ग्रन्थकार ने 'सोपान-लक्षण' के अन्तर्गत चल एवं अचल सोपान का वर्णन किया है, जिसकी रचना शिला, इष्टका एवं काष्ठ से होती है।

## विशिष्ट भवन

**एकत्रिंश अध्याय : प्राकार-विधान :**

प्रस्तुत अध्याय में प्राकार-प्रकल्पन का उद्देश्य बलि देने, परिवार अर्थात् देवों के लिए स्थान निश्चित करने में सुविधा, शोभा तथा रक्षा बताते हुए आङ्गन-युक्त भिन्न-भिन्न पञ्चमण्डल-प्राकार का निर्माण उनके परिमाण आदि के साथ वर्णित है। ग्रन्थकार ने इनकी संज्ञा क्रमश: अन्तर्मण्डल, अन्तहारा, मध्यहारा, प्राकार तथा महामार्यादा बताई है, जिनमें से महामर्यादा-प्राकार सबसे बाह्य-भित्ति है। इन पञ्चविध भित्तियों में से प्राकार संज्ञक भित्ति जाति, छन्द, विकल्प, आभास एवं काम्य भेद से विभाजित है और इन जात्यादि के अन्तर्गत ही भवनों की रचना का विधान उनके सहायक अङ्गों के मान आदि के साथ किया गया है।

**द्वात्रिंश अध्याय : परिवार-विधान :**

'परिवार-विधान' संज्ञक बत्तीसवें अध्याय में विवेचित प्राकार-अन्तर्मण्डल में

अष्ट (आठ), षोडश (सोलह) तथा बत्तीस संख्यक देव-परिवारों में से भिन्न-भिन्न देवपदों में भिन्न-भिन्न देवों की स्थापना से सम्बन्धित विवेचन है। इसके अतिरिक्त तण्डुलमण्डप, पचनालय, धान्यशाला, यागमडप, आस्थानमण्डप, स्थपति-आलय, वाद्यकारालय, नाट्यकारालय, गणिकालय, आरामकारालय, गोशाला, कूप, तालाब मठ आदि का भी स्थान निश्चित किया गया है। ग्रन्थकर ने महामर्यादा नामक अन्तिम प्राकार-क्षेत्र में ब्राह्मणादि वर्णों तथा उसके बाह्य-भाग में अन्य विभिन्न जाति वाले जनों, गजों, अश्वों और पुष्पोद्यानादि का स्थान बताया है। अन्त में 'विष्णवालय परिवार' के अन्तर्गत विष्णु और उनके अनुचरों की स्थापना से सम्बन्धित वर्णन है।

**त्रयस्त्रिंश अध्याय : गोपुर-विधान :**

तैंतीसवें अध्याय की संज्ञा 'गोपुर-विधान' है जिसमें मन्दिरों एवं भवनों की रचना के आधार पर गोपुरों अर्थात् इनके प्रमुख-द्वारों के निर्माण से सम्बन्धित विषय प्रतिपाद्य है। गोपुर-निर्माण-प्रसङ्ग में प्रमुखतः द्वारशोभा, द्वारशाला, द्वारप्रासाद, द्वारहर्म्य तथा महागोपुर नामक पांच प्रकार के गोपुरों का नामोल्लेख करते हुए पुनः रचना-विस्तार के आधार पर इनके पांच-पांच प्रभेदों का विवेचन उनकी रचना-विधि एवं परिमाण के साथ हुआ है। इसके आगे देवों और मनुष्यों के लिए निर्माण किये जाने वाले गोपुरों के आधार पर उनका भिन्न-भिन्न द्वारमान, अधिष्ठानादि अन्य रचनाङ्गों का मान, शिखर, स्तूपिका गलकूट, महानसी आदि रचनाङ्गों सहित सोलह तल तक वाले गोपुरों का निर्माण तथा अन्य छोटे-बड़े विभिन्न तल वाले गोपुरों का निर्माण, उनके अलङ्कार और नागबन्ध, वल्ली और वातायन आदि का वर्णन सविस्तार हुआ है।

**चतुस्त्रिंश अध्याय : मण्डप विधान :**

इस अध्याय में देवों एवं ब्राह्मणादि वर्णों के उपभोगार्थ विविध प्रकार के मण्डप-निर्माण के अन्तर्गत उनके भक्तिमान, भित्तिविस्तार, अलिन्द्र, प्रपाङ्ग अर्थात् मण्डप का अङ्ग एवं मण्डपों की आकृति का क्रमशः विवेचन हुआ है। मण्डपनिर्माण-योग्य स्थलों में देवालय के सामुख्य, पुण्यक्षेत्र, आराम (उपवन), ग्रामादि के मध्यभाग, चारों दिशाओं-विदिशाओं, ग्राम के भीतर अथवा बाहर, गृहों के मध्यभाग अथवा उसके सम्मुख वाले भाग निर्दिष्ट हैं। मण्डपों के पृथक्-पृथक् प्रयोजनों के अन्तर्गत यागमण्डप, नृत्तमण्डपम, मैत्रमण्डप, उपनयनमण्डप, स्नानमण्डप, मुखालोकमण्डप, सतीमण्डप, अग्निहोत्र के लिए मण्डप तथा सुखान्वितार्थमण्डप का विवेचन उनकी विन्यास-विधि के साथ हुआ है। आगे प्रमुख मण्डपों में हिमज, निषदज, विजय,

माल्यज, परियात्र, गन्धमादन तथा हेमकुट नामक सात प्रकार के मण्डपों का नामोल्लेख के साथ उनकी उपयोगिता, विभिन्न अङ्गों-प्रत्यङ्गों की रचना-विधि, उनके अलङ्करण तथा अन्य विभिन्न कार्यों के सम्पादन के लिए विविध प्रकार के मण्डपों का विवेचन उनके परिमाण आदि के साथ अत्यन्त विस्तृत रूप में हुआ है।

**पञ्चत्रिंश अध्याय : शाला-विधान :**

पैंतीसवें अध्याय की संज्ञा 'शाला-विधान' है, जिसमें शालाओं का विस्तार, उनकी ऊँचाई, विविधजनों के दृष्टि से शालाओं की अनुकूलता तथा रचनाशैली के आधार पर दण्डक, स्वस्तिक, मौलिक आदि का लक्षण प्रतिपादित है। आगे द्वार-योजना, स्तम्भ-निर्माण, मण्डप-विधान आदि विभिन्न रचनाङ्गों के साथ इनकी विन्यास-विधा का विस्तृत विवेचन है।

## गृह-स्थापत्य

**षट्त्रिंश अध्याय : गृहमानस्थान-विधान :**

गृहमानस्थान-विधान नामक छत्तीसवें अध्याय में ग्राम, नगर, पत्तन, खेटक, वन एवं आश्रम में तथा नदी एवं समुद्र के समीप ब्राह्मणादि जनों के आवासीय भवनों का मान-कथन एवं उनके लिए ग्रामादि में उपयुक्त स्थान-विधान है। इसके अतिरिक्त विभाजित विभिन्न देवपदों में बनाये जाने वाले पाकशाला, कूप, भोजनालय जैसे भवनाङ्गों का भी स्थान निश्चित किया गया है।

**सप्तत्रिंश अध्याय : गृहप्रवेश-विधान :**

सैंतीसवें अध्याय में गृहप्रवेश की विधि का प्रतिपादन हुआ है जिसमें स्थपति और स्थापक का विशिष्ट स्थान है। गृहप्रवेश-विधान के अन्तर्गत अन्त में मन्त्रोच्चारण के साथ गृह-प्रवेश करने और उसके अनन्तर स्थपति आदि को विविध वस्तुओं से सम्मानित करने का वर्णन हुआ है।

**अष्टत्रिंश-नवत्रिंश अध्याय : द्वारस्थान-द्वारमान-विधान :**

अड़तीसवें अध्याय में प्रासादों, सभी वर्णों के भवनों तथा प्राकार, मण्ड्पादि में द्वार-उपद्वारादि के लिए उचित स्थानों का निर्धारण हुआ है और उन्चालीसवें अध्याय में द्वारों के मान का वर्णन है। इसमें द्वारों को अलङ्कृत करने आदि की भी चर्चा की गई है।

## प्रासाद-स्थापत्य

**चत्वारिंश अध्याय : राजहर्म्य-विधान :**

इस अध्याय में चक्रवर्ती, महाराज, नरेन्द्र, पार्ष्णिक, पट्टधर, मण्डलेश, पट्टभाग् प्राहारक और अस्त्रग्राह नामक राजाओं के उपभोग के लिए कन्यस, मध्यम एवं मुख्य के तीन-तीन भेद के आधार पर नौ प्रकार के राजभवनों के पृथक्-पृथक् मान अर्थात् उनका विस्तार एवं आयाम वर्णित है। राजाओं के वर्गीकरण के आधार पर उनके हर्म्यों में साल-योजना एवं भित्ति-मानादि भी भिन्न-भिन्न हैं। इसके साथ ही इक्यासी पद वाले वास्तुपद में राजहर्म्य तथा उसमें द्वार-स्थापना के लिए उपयुक्त दिशा एवं आयुधालय, धनालय, भूषणालय आदि राजप्रासाद के अन्य उपाङ्गों के निवेश-हेतु उचित स्थानों को चिन्हित किया गया है।

**एकचत्वारिंश-द्विचत्वारिंश अध्याय : राजाङ्गविधान, राजलक्षण :**

इन दोनों अध्यायों में से प्रथम अध्याय में राजाओं के लिए अपेक्षित गुणों के अन्तर्गत साङ्गोपाङ्ग वेद-विद्या का ज्ञाता, धीरोद्धत, धीरललित आदि का उल्लेख हुआ है, जो कि एक कुशल प्रशासक के लिए आवश्यक है। आगे राजाओं के वर्गीकरण के आधार पर उनके चतुरङ्गिणी बलों, हाथियों, अश्वों, महिषियों एवं परिचारिकाओं की संख्या से सम्बन्धित वर्णन है।

द्वितीय अध्याय में चक्रवर्ती, महाराज, नरेन्द्र, पार्ष्णिक आदि राजाओं का लक्षण-कथन है, जिसके अन्तर्गत पृथ्वी में उनका उपभोग-क्षेत्र तथा उनके दुर्गों की संख्या बताई गई है। इसके अतिरिक्त उनके चिन्हस्वरूप शिरस्त्र, पट्टबन्ध आदि धारण करने, सिंहासनों अथवा आसनों का निर्माण भिन्न-भिन्न वृक्षकाष्ठ से करने तथा पृथक्-पृथक् मात्रा में करग्रहणादि का उल्लेख है।

अग्रिम अध्यायों में गृहों (विशेषतः राजगृहों) में रखी जाने वाली सज्जाओं का वर्णन है।

**त्रिचत्वारिंश-चतुश्चत्वारिंश-पञ्चचत्वारिंश अध्याय : रथ-लक्षण, शयन-विधान, सिंहासन-लक्षण :**

तैंतालीसवें अध्याय में देवों एवं राजाओं के आरोहणार्थ 'रथ-रचना' के संदर्भ में उसके चक्र, आकार, मान एवं भूषण का उल्लेख करते हुए उसके चक्र का विस्तार, रचना-विधि, चक्र-निर्माण के लिए शाल, जम्बूक, सरलादि प्रशस्त वृक्ष एवं रथ के

आधार और उपपीठ-रचना का विवेचन है। इसके आगे नभस्वान, प्रभञ्जन, निवात, पवन, इन्द्रक एवं अनिल नामक छः प्रकार के रथों एवं उनकी रचनाकृति का विवेचन करते हुए क्रमशः उन्हें नागर, द्राविड़, वेसर, आन्ध्र और कलिङ्ग की संज्ञा दी गई है। ग्रन्थकार ने युद्ध, नित्योत्सव, महोत्सव आदि विभिन्न प्रयोजनों की दृष्टि से उनमें चक्रसंयोजन बताया है, जो कि एक से लेकर दशचक्र पर्यन्त होते हैं, पुनः उसी के आधार पर उनमें वेदि-प्रकल्पन और अलङ्करण आदि विवेचित हैं।

'शयन-विधान' संज्ञक अग्रिम अध्याय में देवों तथा ब्राह्मण, क्षत्रियादि वर्ण वाले व्यक्तियों के शयनार्थ शय्या-लक्षण का विवेचन है, जिसमें विशेषतः आठ प्रकार के बालपर्यङ्क का वर्णन है। इस क्रम में उनमें पादयोजना, पादों में चक्र लगाना तथा उन्हें अलङ्कृत करने का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त अन्य प्रकार के शय्या-निर्माण में उनका मान-कथन, विभिन्न छोटे-छोटे सहायक अङ्गों की रचना, उन्हें अलङ्कृत करने तथा शय्या-निर्माण के लिए प्रशस्त वृक्षादि का उल्लेख है।

पैंतालीसवें अध्याय में देवों और चक्रवर्ती आदि राजाओं के बैठने के लिए सिंहासन-प्रकल्पन में उनके मान तथा लक्षण-कथन है। इसमें राजाओं के लिए प्रथमासन, मङ्गलासन, वीरासन, विजयासन नामक चतुर्विध आसनों का उल्लेख हुआ है, जिनका प्रयोग क्रमशः प्रथमाभिषेक, मङ्गलाभिषेक, वीराभिषेक तथा विजयाभिषेक के अवसरों पर होता है। इसी प्रकार देवों के लिए उपयुक्त आसनों के नित्यार्चन, नित्योत्सव, विशेष और अर्चनासन का उल्लेख है। पुनः पद्मासन, पद्मकेसर, पद्मभद्र, श्रीभद्र, श्रीविशाल आदि आसनों तथा उनके उपभेदों का उल्लेख करते हुए सभी आसनों का मान, उनके अन्य रचनाङ्गों का मान तथा अलङ्करण विवेचित हैं। इसके साथ ही भिन्न-भिन्न वर्ग के राजाओं के लिए भिन्न-भिन्न आसनों की उपयुक्तता भी बताई गई है।

**षट्चत्वारिंश-सप्तचत्वारिंश अध्याय : तोरण-विधान, मध्यरङ्ग-विधान :**

'तोरण-विधान' नामक छियालीसवें अध्याय में देवों, राजाओं के स्थान एवं आसन के अलङ्करण या तोरण-रचना का वर्णन है। आकृति में ये वृत्ताकार, त्रिकोण या दीर्घवृत्ताकार, अर्धचन्द्राकार, धनुषाकार अथवा इच्छानुसार हो सकते हैं। ग्रन्थकार ने प्रमुख रूप से पत्रतोरण, पुष्पतोरण, रत्नतोरण एवं चित्रतोरण नामक चार भेदों का उल्लेख किया है, जिसमें इसके नामानुरूप ही अलङ्कारस्वरूप अङ्कन होता है। इनके अतिरिक्त उपर्युक्त द्रव्यों से रहित तोरणों का भी उल्लेख हुआ है। अग्रिम अध्याय में

प्राङ्गणमध्य में देवों और नृपों के बैठने के लिए रङ्ग नामक वास्तु-विशेष की रचना से सम्बन्धित वर्णन है, जिसमें उसका विस्तार, ऊँचाई एवं पादयोजना के साथ उसे अलङ्कृत करने का भी उल्लेख है।

**अष्टचत्वारिंश अध्याय : कल्पवृक्ष-विधान :**

इस अध्याय में देवों और राजाओं के प्रासादों में तोरण, आसन, मण्डप तथा प्राङ्गणादि की शोभा वृद्धि के लिए कल्पवृक्ष का प्रकल्पन है। कल्पवृक्ष विधान के अन्तर्गत उसके प्रमाण, रचना-विधि एवं भेद-प्रभेद सहित देवों एवं राजाओं के लिए रचनाकृति के रूप में पृथक-पृथक् प्रकल्पित हैं।

**नवचत्वारिंश-पञ्चाश अध्याय : मौलिलक्षण, भूषणलक्षण :**

'मौलिलक्षण' नामक उनचासवें अध्याय में देवों और राजाओं के लिए नानाविध मुकुटों एवं उनके अलङ्करण और राजाभिषेक का विस्तृत वर्णन है। पचासवें अध्याय में देवों एवं राजाओं के योग्य सभी प्रकार के अङ्ग-भूषणों एवं गृह-आभरणों के लक्षण विवेचित हैं। अङ्ग-भूषण के अन्तर्गत पत्रकल्प, चित्रकल्प, रत्नकल्प तथा मिश्रित नामक चार प्रकार के भूषणों का उल्लेख हुआ है, जिनकी रचना उनकी नामानुरूप ही विहित है। गृहाभरण के अन्तर्गत दीपदण्ड, व्यजन, दर्पण आदि का उल्लेख करते हुए उनके निर्माण की विधि बताई गई है।

**एकपञ्चाश अध्याय : त्रिमूर्तिलक्षण :**

इस अध्याय में ब्रह्मा, विष्णु और महेश की प्रतिमाओं के लक्षण बताये गये हैं। यहाँ पर इनकी प्रतिमाओं की उपादान सामग्री के रूप में स्वर्ण, रजत, ताम्र, शिला, दारु, सुधा, शर्करा, आभास और मृत्तिका, इन नव-द्रव्यों का उल्लेख हुआ है। इनमें से पूर्वादि क्रम से तीन-तीन का वर्ग है जो कि क्रमशः उत्तम, मध्यम और अधम माने गये हैं। आगे कतिपय द्रव्यों से जङ्गम (चल) और कुछ द्रव्यों से स्थावर (अचल) प्रतिमा-रचना का उल्लेख करते हुए उनकी रचना-विधि का प्रतिपादन हुआ है।

**द्विपञ्चाश-त्रयःपञ्चाश अध्याय : लिङ्गविधान, पीठलक्षण :**

इन दोनों अध्यायों में से 'लिङ्गविधान' नामक प्रथम अध्याय में शिवलिङ्ग-रचना के अन्तर्गत छः प्रकार के लिङ्गों-शैव, पाशुपत, कालमुख, महावृत, वाम और भैरव का उल्लेख हुआ है। लिङ्गरचना-क्रम में विप्रादि वर्णों के लिए क्रमशः समकर्ण, वर्धमान, शिवाङ्क तथा स्वस्तिक संज्ञक लिङ्गों की अनुकूलता; स्थान-मान की दृष्टि से

लिङ्ग-प्रमाण; श्रेष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ भेद से लिङ्गों के तीन-तीन भेद तथा रचना-शैली के आधार पर नागर, द्राविड एवं वेसर भेद-प्रभेद प्रकथन के साथ उनका प्रमाण-कथन विस्तृत रूप से हुआ है। आगे लिङ्गरचनार्थ शिला-सङ्ग्रहण की विधि; त्याज्य शिलाएँ, पुम्, स्त्री, एवं नपुंसक भेद से त्रिविध शिलाएँ; विभिन्न वर्णों के प्रशस्तता के आधार पर श्वेत, रक्त, पीत और कृष्ण शिलाएँ; स्वयम्भू, दैविक, मानुष, आर्ष एवं गणलिङ्ग तथा लिङ्गपीठ का लक्षण एवं मानादि वर्णित है। अध्याय का समापन विभिन्न लिङ्गों की पूजा के फल-कथन के साथ हुआ है। द्वितीय अध्याय में पूर्वोक्त विभिन्न प्रकार के लिङ्गों की पीठ-रचना का परिमाण-कथन हुआ है। नागर, द्राविड, वेसर एवं धारा (अन्ध्र) लिङ्ग के लिए तदनुरूप ही पीठ-निर्माण का निर्देश है, जिनकी आकृति क्रमशः चतुष्कोण, षट्कोण, गोल एवं धाराकृति बताई गई है।

**चतुःपञ्चाश अध्याय : शक्ति-लक्षण :**

'शक्तिलक्षण' नामक इस अध्याय में सरस्वती, सावित्री, लक्ष्मी, मही, गौरी, पार्वती तथा सप्तमातृशक्ति के अन्तर्गत वाराही, कौमारी, चामुण्डी, भैरवी, माहेन्द्री, वैष्णवी, ब्राह्मणी एवं अन्य स्त्री-मूर्त्तियों का भेद तथा लक्षण-कथन हुआ है।

**पञ्चपञ्चाश-षट्पञ्चाश अध्याय : जैन-बौद्ध लक्षण :**

'जैनलक्षण' नामक पचपनवें अध्याय में जैन-धर्म-सम्बन्धी देवों की मूर्त्तियों और 'बौद्धलक्षण' नामक अध्याय में बौद्ध धर्म-सम्बन्धी देवों की मूर्त्तियों की रचना से सम्बन्धित वर्णन है। इस सम्बन्ध में ग्रन्थकार ने मान के छः भेदों-मान, प्रमाण, परिमाण, लम्बमान, उन्मान, और उपमान का सलक्षण उल्लेख किया है।

**सप्तपञ्चाश-अष्टापञ्चाश-नवपञ्चाश अध्याय : मुनि-यक्षविद्याधर-भक्त-लक्षण :**

इन तीनों अध्यायों में से प्रथम अध्याय में अगस्त्य, काश्यप, भृगु, वसिष्ठ, भार्गव, विश्वामित्र तथा सप्त-ऋषियों, द्वितीय अध्याय में यक्ष, विद्याधर, आदि और तृतीय अध्याय में सालोक्य (भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-युक्त), सामीप्य (ज्ञान-वैराग्य-संयुक्त), सारूप्य (ध्यान-संयुक्त) एवं सायुज्य (शुद्धज्ञान-समायुक्त) महापुरुषों की मूर्त्तियों के लक्षण बताये गये हैं।

**षष्टितम-एकषष्टितम-द्विषष्टितम-त्रिषष्टितम अध्याय : हंस-गरुड-वृषभ-सिंह-लक्षण :**

इन चारों अध्यायों में देवों के वाहनों के रूप में क्रमशः हंस, गरुड़, वृषभ एवं सिंह की मूर्त्तियों का लक्षणोल्लेख हुआ है।

**चतुष्षष्टितम अध्याय : प्रतिमाविधान :**

'प्रतिमाविधान' नामक चौसठवें अध्याय में सभी प्रकार की प्रतिमाओं के मानादि के किञ्चिद् सामान्य विवरण दिये गये हैं।

**पञ्चषष्टितम-षट्षष्टितम अध्याय : उत्तमदशताल-मध्यमदशतालविधान :**

पैंसठवें अध्याय में मूर्त्तियों के पादादि से लेकर मस्तकान्त पर्यन्त अङ्गों-प्रत्यङ्गों के लिए अपेक्षित दश प्रकार के उत्तम तालमान के तथा छियासठवें अध्याय में इतने ही प्रकार के मध्यम तालमान का विस्तृत विवेचन हुआ है।

**सप्तषष्टितम अध्याय : प्रलम्बलक्षण :**

इस अध्याय में लेटी हुई, खड़ी हुई और बैठी हुई प्रतिमाओं की मानसूत्र-विधि का लक्षण एवं समभङ्ग, आभङ्ग, अतिभङ्ग और त्रिभङ्ग भेद से भङ्ग मूर्त्तियों के मानादि का निर्धारण है।

**अष्टषष्टितम-नवषष्टितम अध्याय : मधूच्छिष्ट-विधान, अङ्गदूषणविधान :**

'मधूच्छिष्ट-विधान' नामक अड़सठवें अध्याय में स्वर्ण, रजतादि से निर्मित मूर्त्तियों का मधु, उच्छिष्ट आदि से शोधन करने का वर्णन किया गया है और 'अङ्गदूषणविधान' नामक उनहत्तरवें अध्याय में मूर्त्तियों और गृहादि के निर्माण-दोष के परिहारार्थ विधान है।

**सप्ततितम अध्याय : नयनोन्मीलनलक्षण :**

'नयनोन्मील-लक्षण' नामक अन्तिम सत्तरवें अध्याय में देव-देवियों एवं भक्तों की मूर्त्तियों के नेत्र-मोक्ष तथा लिङ्गों के लक्षणोद्धार का वर्णन है।

**मयमत**

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में 'मयमत' अत्यन्त प्रसिद्ध ग्रन्थ है। यद्यपि इसका सम्बन्ध गत्रमाचार्य के साथ होने का सङ्केत मिलता है[१] परन्तु आधुनिक विद्वान् इसे 'मय' की प्रमुख कृति के रूप में स्वीकार करते हैं। दक्षिण भारतीय स्थापत्यकला परक यह एक प्रामाणिक और विस्तृत रचना है। यह ग्रन्थ नवीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में अपने वर्तमान

---

१. Oriental Manuscripts Library, Madras, Catalogue Volume XXII, No. 13038; also 13034&13039 compare the colophon इति गत्रमाचार्य-विरचितायां (?) मयमते शिल्पशास्त्रे। -इण्डियन् आर्किटेक्चर, अक्कार्डिंग टू मानसार-शिल्पशास्त्र, पृष्ठ ८९ से उद्धृत।

स्वरूप को प्राप्त कर चुका था। द्राविड़ रीति का यह मानक ग्रन्थ यद्यपि गुप्तोत्तर अथवा चोल राजाओं के काल का है परन्तु इसमें वास्तु एवं शिल्प की अत्यन्त प्राचीन परम्परा सुरक्षित है तथा द्राविड़ परम्परा के प्रायः सभी स्थापत्य शास्त्रों का उपजीव्य है। इसमें विवेचित प्रतिमा-कला-विषयक विज्ञान (लिङ्ग-निर्माण-विधि) अति प्राचीन कला का प्रतिनिधित्व करता है। इसके प्रणेता आचार्य 'मय' असुर-स्थापत्य-कला-कोविद् था। उसने असुरों के आचार्य शुक्र से दीक्षा ली थी।[१] महाभारत में प्राप्त उल्लेखानुसार वह स्वयं इस बात की उद्घोषणा करता है कि-मैं दानवों का विश्वकर्मा और महाकवि हूँ।[२] आचार्य वराहमिहिर ने अपनी रचना में अनेक स्थलों पर मय के मत को उद्धृत किया है।[३] मयमत में मुनि मय को प्राज्ञ एवं सभी वास्तु-लक्षणों का कर्ता बताया गया है।[४] उसने आद्यपितामह-द्वारा निर्दिष्ट सभी वास्तु-लक्षणों को यथातथ्य रूप में देवों और मनुष्यों के लिए कहा।[५]

मयमत का प्रथम प्रकाशन सम्भवतः १९११ ई० में ख्यातिप्राप्त विद्वान् महामहोपाध्यय श्री गणपति शास्त्री द्वारा 'अनन्तशयन संस्कृत-ग्रन्थावलि के ग्रन्थाङ्क ६५ में हुआ था। वर्तमान में यह अत्यन्त जीर्ण-शीर्ण अवस्था में प्राप्त होता है। इसके पश्चात् पुनः सन् १९१९ ई० में 'गवर्न्मेन्ट् प्रेस् त्रिवेन्द्रम्' से ही प्रकाशित हुआ, जिसमें प्रारम्भिक ३४ अध्याय ही थे। कालान्तर में इसका प्रकाशन सन् १९७०-७६ ई० में पाश्चात्य विद्वान् ब्रूनो डेगेन्स ने फ्रांसिसी अनुवाद सहित 'फ्रेञ्च् इन्स्टिट्यूट् ऑफ् इण्डोलॉजी' (वर्तमान में फ्रेञ्च इन्स्टिट्यूट्), पाण्डिचेरी से कराया। पुनः ब्रूनो डेगेन्स के इस ग्रन्थ का प्रकाशन 'मयमत एन् इण्डियन् ट्रीटिझ् ऑन् हाऊसिंङ्ग आर्किटेक्चर एण्ड् आइक्नोग्राफी' नाम से दिल्ली से हुआ। सन् १९८५ ई० में ब्रूनो डेगेन्स कृत अंग्रेजी अनुवाद सहित 'सीताराम भारतीय इन्स्टिट्यूट् ऑफ् साइन्टिफिक् रिसर्च', नई दिल्ली से प्रकाशित हुआ। इसके पश्चात् यह ग्रन्थ 'इंदिरा गांधी नेशनल् सेन्टर् फॉर् द आर्ट्स, नई दिल्ली तथा मोतीलाल बनारसीदास पब्लिसर्स, प्राईवेट लिमिटेड, दिल्ली के संयुक्त उपक्रम से सन् १९९७ में 'कलामूलशास्त्र-ग्रन्थमाला-१४' के अन्तर्गत

१. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र (भवननिवेश एक अध्ययन-प्रथम भाग) पृष्ठ ३
२. अहं हि विश्वकर्मा वै दानवानां महाकविः। -महाभारत, सभापर्व, अध्याय १.५
३. (क) भूमिकाङ्गुलमानेन मयस्याष्टोत्तरं शतम्।

-बृहत्संहिता, प्रासादलक्षण, अध्याय ५६.२९

(ख) मयकथितो योगोऽयं विज्ञेयो वज्रसङ्घातः। -वही, वज्रलेपलक्षण, अध्याय ८७.८
४. प्राज्ञो मुनिर्मयः कर्ता सर्वेषां वस्तुलक्षणम्।। -मयमत, अध्याय १.२
५. पितामहाद्यैरमरैर्मुनीश्वरैर्यथा यथोक्तं सकलं मयेन तत्।
तथा तथोक्तं सुधियां दिवौकसां नृणां च युक्त्याखिलवस्तुलक्षणम्।। -वही, अध्याय १.१२

ब्रूनो डेगेन्स कृत अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित हुआ। इससे पूर्व इसी संस्था से यह ग्रन्थ सन् १९९४ ई० में भी प्रकाशित हो चुका है। वर्तमान में यह ग्रन्थ डॉ० शैलजा पाण्डेय कृत हिन्दी टीका सहित चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन वाराणसी से भी प्रकाशित हुआ है।

इस वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ में कुल छत्तीस अध्याय हैं, जिन्हें दो भागों में विभाजित किया गया है। इसमें वास्तु की व्याख्या में '**अमर्त्य**' और '**मर्त्य**' के निवास-स्थानों को '**वस्तु**' अथवा '**वास्तु**' की संज्ञा दी गई है।[1] इस परिभाषा में गृह-सम्बन्धी अवधारणा को महत्त्व प्रदान किया गया है। यह चार भागों में विभाजित है-भूमि, प्रासाद, यान और शयन। इन चारों में से प्रथम-वस्तु अर्थात् 'भूमि' की प्रधानता है और अन्य तीनों इसी पर आधारित हैं।[2]

मयमत में प्रतिपादित विषयों के आधार पर इसे तीन खण्डों में विभाजित किया जा सकता है जिसके प्रथम खण्ड (अध्याय १-१०) में गृह-भूमि-विषयक वर्णन तथा द्वितीय खण्ड (अध्याय ११-३०) में भवन-निर्माण से सम्बन्धित व्याख्या एवं तृतीय खण्ड (अध्याय ३१-३६) में चतुर्विध वास्तु में से अन्तिम दो-वाहन और शयन की चर्चा के साथ-साथ प्रतिमा-विज्ञान का भी वर्णन है। इन तीनों खण्डों में विशिष्ट शीर्षकों के अन्तर्गत निर्माण की तकनीक, धार्मिक कृत्य, प्राचीन भारतीय माप की पद्धति, स्थापत्य-सिद्धान्त, दिङ्-निर्णय, वास्तुपद-विन्यास, ग्राम, नगर, भवनादि का विन्यास, देवों के आराध्य स्थलों- मन्दिर आदि, शिलान्यास-विधि, सन्धिकर्म अर्थात् कोष्ठों को जोड़ने की विधि, द्वारों तथा भवनों, प्रतिमाओं आदि के नूतनीकरण का वर्णन है।

मयमत के अतिरिक्त जिन अन्य रचनाओं का सम्बन्ध मय से है, वे निम्नलिखित हैं-

१. मयवास्तु (तेलगु-लिपि में, मद्रास १९१६ ई०)।

२. मयवास्तु (मद्रास, १९१७ ई०)।

३. मयशिल्पशास्त्र (तमिल में)।

आगे मयमत के पृथक्-पृथक् अध्यायों में वर्णित विषयों का उल्लेख किया जा रहा है।

---

१. अमर्त्याश्चैव मर्त्याश्च यत्र यत्र वसन्ति हि। तदवस्त्वित मतं तज्ज्ञैः..........।।
—मयमत, अध्याय २.१

२. भूमिप्रासादयानानि शयनं च चतुर्विधम्।
भूरेवमुख्यवस्तु स्यात् तत्र जातानि यानि हि।। —मयमत, अध्याय २.२

**प्रथम अध्याय : सङ्ग्रहाध्याय :**

प्रथम अध्याय में मङ्गलाचरण के पश्चात् ग्रन्थकार ने ग्रन्थ का उद्देश्य निर्धारित करते हुए इसमें प्रतिपादित विषयों की तालिका प्रस्तुत की है।

**द्वितीय अध्याय : वस्तुप्रकार :**

इस अध्याय में सर्वप्रथम 'वस्तु' एवं 'वास्तु' की परिभाषा दी गई है। ग्रन्थकार की दृष्टि में वे सभी स्थल, जहाँ देव तथा मनुष्य वसते हैं, **'वस्तु'** है तथा वस्तु पर जिन भवनादि का निर्माण किया जाता है, उनकी संज्ञा **'वास्तु'** है। इसमें भूमि, प्रासाद, यान और शयन, इस चतुर्विध वस्तु में सबके आधारस्वरूप भूमि को प्रमुख वस्तु बताया गया है, तदनन्तर ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों और राजाओं के लिए उपयुक्त भूमियों का लक्षणोल्लेख हुआ है।

**तृतीय-चतुर्थ अध्याय : भू-परीक्षा, भू-परिग्रह :**

तृतीय एवं चतुर्थ अध्याय भवन एवं मन्दिर या निवास-स्थान के लिए भूमि की परीक्षा एवं उसे ग्रहण करने से सम्बन्धित है। तृतीय अध्याय में प्रशस्त-अप्रशस्त भूमियों का वर्णन हुआ है। इसमें भूमि की आकृति, ध्वनि, उपजाऊ, गन्ध उस पर उगे हुए वृक्षों, रङ्ग, षड्रस, जलप्रवाह, उसके उत्खनन से उपलब्ध वस्तुओं, सभाभवन, राजभवन, देवालय की सामीप्यता तथा परिवेश आदि के आधार पर उसकी उपयुक्तता-अनुपयुक्तता का कथन हुआ है।

चतुर्थ अध्याय में चयनित भूमि के संस्कार के लिए स्वस्ति-वाचनादि धार्मिक कृत्यों तथा हल-चलाना, बीज-वपन आदि क्रियाओं के साथ-साथ भूमि की श्रेष्ठता की जिज्ञासा में उसके परीक्षण की विधियों का वर्णन है, जो कि निर्माण की दृष्टि से किसी भी भूमि के ग्रहण से पूर्व आवश्यक है।

**पञ्चम अध्याय : मानोपकरण :**

'मानोपकरण' नामक पांचवें अध्याय में परमाणु, रथरेणु, बालाग्र, लिक्षा, यूका यव आदि मान के विभिन्न प्रकार के उपकरणों का उल्लेख करते हुए उनका विनियोग भी बताया गया है, तदनन्तर शिल्पि-लक्षण के अन्तर्गत स्थापत्य कार्य करने वाले स्थपति, सूत्रग्राही, वर्धकि तथा तक्षक की परिभाषा और उनकी योग्यता का उल्लेख हुआ है।

**षष्ठ अध्याय : दिक्परिच्छेद :**

प्रस्तुत अध्याय में भू-व्यवस्था अर्थात् भूमि को तैयार करने और भवनादि के निवेश के लिए भूमि की उपयुक्त दिशा जांचने की विधि की वर्णन है, क्योंकि उपयुक्त दिशा-ज्ञान के अभाव में समुचित निर्माण की प्रकल्पना नहीं की जा सकती, अतः दिक्-ज्ञान के उद्देश्य से शङ्कु-निर्माण और उसका प्रयोग एवं शङ्कु से पड़ने वाली छाया के द्वारा प्राची आदि दिशाओं का निर्धारण तथा अपच्छाया के ज्ञान-विषयक विवेचन हुआ है। इसके साथ ही इस प्रक्रिया में रज्जु-लक्षण अर्थात् मापसूत्र का निर्माण तथा खातशङ्कु-लक्षण अर्थात् खदिर, महुआ आदि प्रशस्त वृक्ष-काष्ठ से शङ्कु-निर्माण एवं सूत्र-विन्यास-विधि आदि का भी वर्णन है।

**सप्तम अध्याय : पदविन्यास :**

इस अध्याय में 'पदविन्यास' अर्थात् निवेश्य भूमि को विभिन्न संख्यक वर्गाकार पदों में विभाजित करने की विधि का वर्णन है। ग्रन्थकार ने वास्तुपद-विन्यास के अन्तर्गत सकल, पेचक, पीठक, महापीठ आदि बत्तीस प्रकार के पदविन्यासों की सूची तथा इनमें से कतिपय पद-विन्यासों का वर्णन किया है। व्यावहारिक दृष्टि से उपयोगी होने के कारण पदविन्यों में 'परमशायिन' नामक इक्यासी पद-वास्तु (भवन-निवेश एवं राजप्रासादादि-निर्माण में प्रयोज्य) तथा 'मण्डूकपद' नामक चौंसठ पद-वास्तु (ग्राम एवं नगरादि की स्थापना में प्रयोजनीय) के विभिन्न पदों में वास्तुदेवों की स्थापना सम्बन्धी कल्पना के साथ विस्तृत वर्णन हुआ है। वास्तुपदविन्यास को भवन की रूपरेखा तैयार करते समय उसे पृथक्-पृथक् भागों में बांटने का रेखा-चित्र कहा जा सकता है।

**अष्टम अध्याय : बलिकर्म :**

आठवें अध्याय में विभिन्न वास्तु-पदों में प्रकल्पित देवों के लिए पायस, दुग्ध, दधि, मध्वादि भिन्न-भिन्न पदार्थों से पृथक्-पृथक् तथा सामूहिक बलि देने का विधान है।

**नवम-दशम अध्याय : ग्राम-विन्यास, नगर-विधान :**

'ग्राम-विन्यास' नामक नवम अध्याय में ग्रामादि के निवेश-हेतु पुनः मान के उपकरणों का कथन और ग्रामों आदि के विशेष मान, आयादि-विचार, ग्रामों में ब्राह्मणों की संख्या, दण्डक, स्वस्तिकादि अष्टविध ग्रामों के नाम, उनमें वीथि-विधान,

निवास करने वाले जनों एवं रचना के आधार पर मङ्गल, पुर, मठ आदि ग्रामों के भेद, उनके द्वारों की रचना, आबंटित पदों में भिन्न-भिन्न देवों के लिए प्रासाद-निवेश, ग्रामों के प्रवेशद्वारों में देवताओं की स्थापना, गोशाला, पुष्पवाटिका, जलाशय आदि के लिए उपयुक्त स्थान तथा वैश्य, शूद्र आदि की आवास-व्यवस्था, गृहों के लक्षण एवं ग्रामों के शिलान्यास-सम्बन्धी विवेचन है। दसवें अध्याय में भिन्न-भिन्न नगरों का मान, उनके चारों ओर वप्र, परिखा, मार्गादि पुर के अङ्गों का निर्माण, राजधानी, खेट, खर्वट आदि के विशिष्ट लक्षण एवं निवेश-व्यवस्था, गिरि, वन एवं जलादि सप्त-दुर्गों का निवेश और आबंटित क्षेत्र में दुकानों, बाज़ार आदि के विन्यास विषयक वर्णन है। इसमें आवासीय भवनों के निवेश-सम्बन्धी वर्णन अन्तरापणों के साथ समुचित रूप से हुआ है।

## प्रासाद-भवन

**एकादश अध्याय : भूलम्बविधान :**

इस अध्याय में देव-प्रासादों के चतुरश्र (चौकोर), वर्तुल (गोलाकार) आदि विविध विन्यास-भेद और उनके तलों की संख्या, तलों के आधार पर भवनों के परिमाण तथा देव, राक्षस, गन्धर्व, विप्र, युवराज आदि के लिए उनका उपभोग बताया गया है।

**द्वादश अध्याय : गर्भ-विन्यास :**

प्रस्तुत अध्याय में गर्भ-विन्यास अर्थात् देवों, ब्राह्मणों एवं अन्य वर्णों के भवनों में शिलान्यास एवं नींव में रखी जाने वाली वस्तुओं के सम्बन्ध में अत्यन्त विस्तृत और समृद्ध वर्णन हुआ है। इसके अन्तर्गत शिव, विष्णु, ब्रह्मा आदि देवों के मन्दिरों तथा मनुष्यों के निवास-स्थान में गर्भ-विन्यास विधि तथा **'प्रथमेष्टका'** शीर्षक के अन्तर्गत इष्टका-स्थापन में उनके लक्षण और परिमाण आदि का कथन हुआ है।

**त्रयोदश-अष्टादश अध्याय : उपपीठ, अधिष्ठान आदि-विधान :**

तेरहवें अध्याय से लेकर अट्ठारहवें अध्याय तक भवन-रचना से सम्बन्धित आवश्यक अङ्गों का वर्णन है, जिनमें से तेरहवें अध्याय में 'उपपीठ' की परिभाषा, उसके अनुपात अर्थात् ऊँचाई आदि का उल्लेख करते हुए वेदिभद्र, 'प्रतिभद्र' और 'सुभद्र' नामक तीन प्रकार के उपपीठों का सविस्तार वर्णन हुआ है। चौदहवें अध्याय में अधिष्ठान-स्थापना का वर्णन है, जिसके अन्तर्गत अधिष्ठान के लिए भूमि तैयार

करना, उसका माप, अधिष्ठान के विविध अङ्गों की योजना के आधार पर पादबन्ध, उरगबन्ध, प्रतिक्रम आदि चौदह प्रकार के अधिष्ठानों की चर्चा की गई है। अधिष्ठानों के लक्षण-सहित वर्णन करने के साथ ही इस अध्याय में उनके पर्यायवाची शब्दों तथा निर्गम के प्रमाण आदि का भी वर्णन है। 'पादप्रमाण-द्रव्यपरिग्रहविधान' नामक पन्द्रहवें अध्याय में स्तम्भों के रचना-विधान के अन्तर्गत स्तम्भ-लक्षण, उनके प्रमाण, भेद, स्तम्भदण्ड का लक्षण, श्रीकर, चन्द्रकान्त आदि कलशों के लक्षण, पोतिका अर्थात् स्तम्भ के ऊपरी भाग का माप तथा स्तम्भ के विशिष्ट लक्षणोल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में द्रव्य-परिग्रह के अन्तर्गत स्तम्भ के निर्माण-कार्य में प्रयोज्य वृक्षों, शिलाओं तथा इष्टकाओं के सङ्ग्रह करने का वर्णन है। अतः अग्रिम पंक्तियों में प्रशस्त वृक्ष-लक्षण और उनका नाम-कथन, शिला एवं इष्टका-लक्षण, अग्राह्य वृक्ष एवं वृक्षों के ग्रहण से पूर्व की जाने वाली धार्मिक क्रियाओं आदि से सम्बन्धित विवेचन है। सोलहवें अध्याय में सभी प्रकार के भवनों के अनुकूल प्रस्तर अर्थात् स्तम्भों के ऊपर के भाग (Entablatures) के निर्माण से सम्बन्धित वर्णन है, जिसके सहायक अङ्गों के रूप में उत्तर वाजन (स्तम्भ की ऊपरी भित्ति), प्रमालिका, दण्डिका, वलय, गोपान, कायपाद (स्तम्भ को सहारा देने वाली कड़ी) तथा कपोत आदि का वर्णन है। इसके अतिरिक्त तुलादिबन्ध, प्रस्तर-प्रमाण; शहद, घृत, दही एवं दूध आदि के मिश्रण से तैयार होने वाली लेप-सामग्री, सम एवं विषम संख्या में मान एवं द्वार, झरोखे आदि भी वर्णित हैं। सत्रहवें अध्याय में विविध प्रकार के सन्धि-कर्म का विधान है। इसकी प्रारम्भिक पंक्तियों में सन्धि-विधि एवं उसकी आवश्यकता का प्रतिपादन हुआ है, तदनन्तर उसके भेद, सन्धि करने के नियम; मल्ललीलादि सन्धि के अन्तर्गत ब्रह्मराज, वेणुपर्व आदि विविध सन्धियाँ तथा सर्वतोभद्र, नन्द्यावर्त, स्वस्तिबन्ध आदि अन्य सन्धियों का वर्णन है। इसके अतिरिक्त विशेषतः स्तम्भों तथा शयित द्रव्यों के लिए क्रमशः मेषयुद्ध, त्रिखण्ड एवं षट्शिखा, झषदन्त आदि सन्धि के पांच-पांच भेदों का उल्लेख हुआ है। अध्याय का समापन सन्धि-दोषों के विवेचन के साथ हुआ है। अट्ठारहवें अध्याय में भवन एवं प्रासाद के ऊर्ध्ववर्गों अर्थात् गला (शिखर के नीचे का भाग), शिखर-रचना, उसके भेदों एवं आकृतियों स्तूपिका (कलश) की ऊँचाई तथा लुपा अर्थात् धरने या बल्ले की संख्या, उनके परिमाण, भेद, शिखर के अङ्गों के प्रमाण, आच्छादन, वलयसन्धि, घटिका, लुपा-आच्छादन, स्तूपिका की कील, ललाट भूषण, स्तूपिका, लेप एवं सुधाकर्म, चित्रकर्म, मूर्ध्नेष्का अर्थात् भवन के शिरोभाग की इष्टकाएँ तथा स्तूपिका कील के परिमाण आदि विवेचित हैं। ग्रन्थकार ने अग्रिम पद्यों में आचार्य को दी जाने वाली दक्षिणा, प्रासादों एवं भवनों के रत्नादि

स्थापित करने के स्थान, कार्य की समाप्ति, स्तूपिका-कील के लिए प्रशस्त वृक्षों का नाम-परिगणन, अधिवास-मण्डप, कुम्भ-स्थापन आदि का वर्णन किया है।

**नवदश-विंश-एकविंश-द्वाविंश अध्याय :**

इन चारों अध्यायों का शीर्षक क्रमश: **एकभूमि-द्विभूमि-त्रिभूमि-चतुर्भूम्यादि-बहुभूमि-विधान है,** जिसमें एक तल से लेकर चार तलों एवं बहुलनों वाले मन्दिर-भवनों की रचना से सम्बन्धित वर्णन है। उन्नीसवें अध्याय में एक तल के प्रासादों के चतुर्विध प्रमाण वर्णित हैं। इस प्रसङ्ग में मुख-मण्डप, प्रासाद के विमान, हर्म्यादि पर्यायवाची नाम, गर्भगृहमान, स्थूपिका-मान, द्वार, नाल, (छत से पानी निकालने की मोरी) का मान, प्रासाद के अलङ्करण तथा नागर, द्राविड़ एवं वेसर भेद से उनके वर्गीकरण एवं विमानतल के देवता की चर्चा है। अग्रिम अध्याय में दो तलों वाले मन्दिरों की रचना-विधि के अन्तर्गत उनके मानादि एवं स्वस्तिक, विपुलसुन्दर, कूयादि पांच प्रकार के मन्दिरों के लक्षण एवं निर्माण-विधि, भवनभेद, खण्ड-भवन एवं तोरण का वर्णन है। इक्कीसवें अध्याय में स्वस्तिक, विमलाकृति आदि पांच प्रकार के त्रितलीय मन्दिरों का वर्णन तथा पुनः हस्तिपृष्ठ, स्तम्भ-तोरण, भद्रकोष्ठ, वृत्तकूट, सुमङ्गल, गान्धार, श्रीभोग आदि प्रासादों का वर्णन नालीगृह, वेदिका, तोरण, सोपानादि रचनाङ्गों के साथ हुआ है। बाईसवें अध्याय में सुभद्रक, श्रीविशाल, भद्रकोष्ठ, जयावह तथा भद्रकूट नामक चार तलों वाले मन्दिरों एवं कपोतपञ्जर, भद्रकूट आदि अन्य विविध भेदों का वर्णन है। आगे पाँच से बारह तलों के मन्दिरों की रचना-विधि का प्रतिपादन हुआ है।

**त्रयोविंश अध्याय : प्राकार परिवार-विधान :**

इस अध्याय में प्राकार-विधान के अन्तर्गत उसका उद्देश्य विमान (मन्दिर) की रक्षा, शोभा एवं परिवार के लिए बताते हुए पाँच-पाँच प्रकार के युग्मायुग्म प्राकारों का मान, उनकी भित्ति का परिमाण, आवृत-मण्डप, अलङ्करण और अधिष्ठान की ऊँचाई की चर्चा है। साथ ही परिवारालय-विधान के अन्तर्गत अष्ट, द्वादश, षोडश तथा द्वात्रिंशत् (बत्तीस) परिवारों में प्रधान देव के भिन्न-भिन्न अनुचरों का नामोल्लेख के साथ उन्हें स्थापित करने का वर्णन है। आगे मालिका-पंक्ति (Storeyed galleries), पीठ-लक्षण, ध्वज-स्थान, प्राकाराश्रित स्थान, शक्ति-स्तम्भ, अन्य (पुरोहित, वापी, कूपादि का) स्थान एवं विष्णु के अनुचर और वृषलक्षण का विवेचन है।

## द्वितीय भाग

### चतुर्विंश-पञ्चविंश अध्याय : गोपुर-मण्डप-सभाविधान :

'गोपुर-विधान' और 'मण्डप-सभाविधान' अत्यन्त महत्त्वपूर्ण विषय हैं जिनका सम्बन्ध विशेषतः प्रासाद-स्थापत्य से है। चौबीसवें अध्याय में 'गोपुर' अर्थात् मन्दिर-द्वार की रचना का वर्णन किया गया है। इस प्रसङ्ग में अत्यधिक छोटे, मध्यम आकार वाले तथा उत्तम प्रकार के प्रासादों के दृष्टिगत प्रमुखतः द्वारशोभा, द्वारशाला, द्वारप्रासाद, द्वारहर्म्य तथा गोपुर नामक पांच प्रकार के गोपुरों का सप्रमाण विवेचन हुआ है। इस क्रम में द्वारमान, अधिष्ठानादि का मान; श्रीकर, रतिकान्त, कान्तविजय, विजयविशालक आदि गोपुर के अन्य पन्द्रह प्रकार के भेद तथा एकतल से लेकर सप्ततल पर्यन्त गोपुरों का वर्णन है। अग्रिम पद्यों में इन पूर्वोक्त गोपुरों का विस्तारमान (चौड़ाई), कूट-कोष्ठादि रचनाङ्गों, द्वार के विस्तार का मान तथा गोपुरों को अलङ्कृत करने से सम्बन्धित वर्णन प्राप्त होता है। इसके आगे उपर्युक्त द्वारशोभादि पञ्चविध गोपुरों के अन्तर्गत श्रीकर, रतिकान्त आदि पन्द्रह गोपुरों को तीन-तीन की संख्या में समाविष्ट दर्शाते हुए उनके अन्य विभेद प्रमाण सहित प्रतिपाद्य हैं।

पच्चीसवें अध्याय में देवों एवं ब्राह्मणादि चतुर्वर्णों के अनुकूल मण्डप-निर्माण के लिए उपयुक्त स्थानों एवं उनके विविध प्रयोजनों का उल्लेख करते हुए मेरुकादि सोलह, चतुरश्र (चतुष्कोण) एवं धन, सुभूषणादि आठ, आयताश्र (आयताकार) तथा मार्ग, सौभद्रक, सुन्दरादि (वैश्य एवं शूद्रों के अनुकूल) अन्य आठ प्रकार के मण्डपों के नामोल्लेख के साथ उनकी रचना-विधि के अन्तर्गत सामान्य रूप से भक्तिमान अर्थात् विभाजन का प्रमाण, स्तम्भों के प्रमाण, अधिष्ठान की ऊँचाई, उपपीठ की ऊँचाई तथा मण्डपलक्षण, मण्डप शब्द का अर्थ, प्रपालक्षण, रङ्गलक्षण एवं उसकी निर्माण-योजना का प्रतिपादन हुआ है। ग्रन्थकार ने मण्डप के प्रकारों में मालिका, मेरुक, विजय, सिद्ध एवं यागमण्डप का वर्णन उनकी रचना-वैशिष्ट्य के साथ किया है। यागमण्डप के सन्दर्भ में कुण्ड के लक्षण तथा उसके विविध भेदों के अन्तर्गत योनिकुण्ड, अर्धचन्द्र कुण्ड एवं त्र्यस्रकुण्ड आदि नौ प्रकार के कुण्डों का वर्णन उनकी निर्माण-विधि के साथ हुआ है। इसके अनन्तर सिद्ध, पद्मक, भद्रक, शिव, वेदादि तीस प्रकार के मण्डपों का निरूपण लक्षण-प्रमाण सहित हुआ है। तदनन्तर मण्डपमुखायाम (मण्डपों के मुख की लम्बाई), पुनः मण्डपों के अन्य भेद, जलक्रीडामण्डप तथा खदिर, नीम, साल आदि मण्डप-निर्माण में उपयुक्त माने जाने वाले वृक्ष एवं मुखमण्डपादि का विवेचन हुआ है।

सभाभवन-निर्माणविधि के अन्तर्गत मल्लवसन्तक, पञ्चवसन्तक, एकवसन्तक, सर्वतोभद्र, पार्वतकूर्मक, माहेन्द्र, सोमवृत्त, शुकविमान एवं श्रीप्रतिष्ठित संज्ञक नौ प्रकार के सभा-भवनों की रचना-विधि प्रमाण सहित वर्णित है। इनमें से प्रथम पांच प्रकार के सभाभवन आयताकार एवं अन्य युगाश्रक (वर्गाकार) हैं।

**षड्विंश अध्याय : शाला-विधान :**

इस अध्याय में 'शाला-विधान' के अन्तर्गत (एक, दो, तीन, चार, सात एवं दश शाला वाले) छः प्रकार के शाला-भवन के निर्माण का वर्णन है। अध्याय के प्रारम्भिक पद्यों में शाला का विस्तार, उसकी लम्बाई, ऊँचाई एवं एकशाला वाले भवन का सामान्य लक्षण-कथन हुआ है। आगे शालाभेद के अन्तर्गत प्रथम से लेकर पञ्चदण्डक पर्यन्त तथा मौलिक, स्वस्तिक आदि भवनों का वर्णन करते हुए दण्डकादि भवनों का सामान्य लक्षण-प्रतिपादन हुआ है। तदनन्तर द्विशाल-त्रिशाल-चतुश्शाल भवनों के भेद एवं उनके प्रमाण प्रतिपादित हैं। ग्रन्थकार ने भवनों की आकृति के आधार पर उन्हें विमान, हर्म्य तथा मालिका की संज्ञा प्रदान करते हुए वर्धमान भवन के सात भेदों का विवेचन किया है। इसके अतिरिक्त चतुश्शाल भवनों के अन्तर्गत नन्द्यावर्त नामक भवन के पाँच भेद; स्वस्तिक, रुचक, चतुश्शाल गृह के सामान्य नियम, सप्तशालादि भवनों के रचना-प्रकार, शिलान्यास का उचित स्थान, वंशद्वार, विहारशाला (मठ), शालापाद (भवन-स्तम्भों) का प्रमाण तथा आयादि एवं खलूरी अर्थात् घर के बाह्य भाग की रचना से सम्बन्धित वर्णन है।

**सप्तविंश अध्याय : चतुर्गृह-विधान :**

मयमत का यह अध्याय भारतीय जनभवन-स्थापत्य के आधारभूत सिद्धान्तों की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वूर्ण है। इसमें ब्राह्मणादि चारों वर्णों के आवासीय भवनों की निवेश-विधि के अन्तर्गत उनके बाह्य अङ्गों में बाटभित्ति अर्थात् बाह्यभित्ति अथवा खलूरिखा का रचनाविधान, संयुक्त एवं असंयुक्त गृह, सम्पूर्ण गृह का विन्यास तथा उनके आन्तरिक अङ्गों की रचना-योजना के अन्तर्गत मध्यमण्डप का प्रमाण, मध्यवेदिका, मध्यमण्डप का लक्षण तथा उनकी रचना में प्रयोग होने वाली सामग्री, अन्नागारादि के लिए उपयुक्त स्थल, सुखालय, भवनों का सामान्य प्रमाण, अन्नालय (पाकशाला), धान्यालय और धनालय का निरूपण हुआ है। इसके साथ ही गृह के ऊपरी भाग के अङ्गों का उल्लेख और वास्तुमण्डप का प्रमाण कथन हुआ है। आगे इस अध्याय में गर्भ-न्यास का स्थान, मुहुर्त-स्तम्भ, भवन के सामान्य नियम, अलिन्द्र के

निर्माण, घर में स्वामी के स्थान, प्रधान भवन के आच्छादन, चूल्हे के लक्षण एवं भेद, गृहों में इनकी संख्या तथा भोजनशाला से सम्बन्धित वर्णन है। इसके अतिरिक्त वास्तु-भेदों में दिशिभद्रक, गरुड़पक्ष, कायभार एवं तुलानीय के प्रमाण, गृहद्वारों के मान, गृह-निर्माण का काल, गृह के प्रमुख द्वार का स्थान, गृह में वास-योजना और गृहारम्भ का उपयुक्त काल वर्णित है।

**अष्टाविंश अध्याय : गृह-प्रवेश :**

इस अध्याय में गृह-निर्माण-कार्य के सम्पन्न होने पर उसमें प्रवेश-हेतु शुभ-मुहूर्त में अधिवास अर्थात् प्रवेश से पूर्व के कृत्य, कलश-स्थापन एवं विभिन्न देवों को बलि प्रदान करना, स्थपति निर्गमन तथा गृहपति एवं गृहिणी के प्रवेश करने आदि धार्मिक क्रियाओं का वर्णन है।

## राजप्रासाद-स्थापत्य

**नवविंश अध्याय : राजवेश्म-विधान :**

'राजवेश्म-विधान' नामक इस अध्याय में राजप्रासाद-निवेश-सम्बन्धी अत्युत्तम चित्रण है, जिसमें राजवेश्म और उसके बाहर निवेश्य बाह्य-नगर एवं शिबिर का वर्णन है। राजवेश्म विधान-क्रम में उसके प्रमाण, छोटे राजभवनों की योजना, गोपुर, गृह-विन्यास एवं उसके चारों ओर उसकी सुरक्षा के निमित्त प्राकार, परिखा आदि एवं उसके विविध उपाङ्ग-हस्तिशाला, अश्वशाला, मन्त्रशाला, आदि की व्याख्या की गई है। इसके साथ ही नगर के बाहर निर्मित की जाने वाली परिखा, प्राकार (नगर-भित्ति) आदि का भी वर्णन है।

**त्रिंश अध्याय : द्वार-विधान :**

प्रस्तुत अध्याय में 'द्वार-विधान' के अन्तर्गत ब्राह्मणादि चारों वर्णों के भवनों एवं ग्राम, पुर, पत्तनादि में बनाये जाने वाले भिन्न-भिन्न प्रकार के द्वारों का वर्णन है, जिसमें उनके माप, कपाट, शुभ-अशुभ द्वार तथा द्वारों के लिए उपयुक्त स्थानों को चिह्नित किया गया है। इसके आगे गोपुर-प्रमाण तथा गोपुर के प्रकारों में एकतल, द्वितल, त्रितल, सप्ततल, षट्तल, पञ्चतल, एवं चतुस्तल गोपुरों में से प्रत्येक के तीन-तीन भेदों का विवेचन उनकी रचना-विधि सहित हुआ है।

**एकत्रिंश-द्वात्रिंश अध्याय : यान-शयन-आसन-अधिकार :**

इन दोनों अध्यायों में से इक्कतीसवें अध्याय में 'यानाधिकार' के अन्तर्गत भूमि,

प्रासाद, यान एवं शयन इन चतुर्विध वास्तु में से यान एवं शयन के भेद एवं यान के अन्तर्गत परिगणित पीठा, शिखरा तथा मौण्ड़ी नामक त्रिविध **'शिबिका'** (पालकी) और **'रथ'**–निर्माण का वर्णन लक्षण एवं प्रमाण सहित हुआ है। अग्रिम अध्याय में 'श्यानासानाधिकार' के अन्तर्गत **शयन,** (पर्यङ्क) **आसन,** (सिंहासन) तथा पूजा–पीठ के निर्माण–सम्बन्धी वर्णन लक्षण एवं प्रमाण सहित हुआ है। अध्याय की समाप्ति आयादि–विवेचन के साथ हुई है।

**त्रयस्त्रिंश–चतुस्त्रिंश अध्याय : लिङ्ग–पीठलक्षण :**

इन दोनों अध्यायों में से प्रथम अध्याय में निष्कल, सकल, एवं मिश्र नाम से लिङ्ग–भेद, लिङ्ग–रचना के लिए शिलाओं के लक्षण, उन्हें सङ्ग्रह करने की विधि, लिङ्ग के प्रमाण एवं उनका स्थान, नागर, द्राविड़, वेसर लिङ्गों के प्रमाणलिङ्गों का हस्त–प्रमाण, द्वारादि के आधार अन्य विविध प्रकार के लिङ्गों को स्थापित करने और अन्त में लिङ्ग–स्थापना का फलकथन हुआ है। द्वितीय अध्याय में पूर्व अध्याय में वर्णित लिङ्गों के पीठ–निर्माण की चर्चा है, जिनके उपादान कारण–इष्टका एवं पिण्ड आदि हैं। इस प्रसङ्ग में पीठ का प्रमाण, पीठ का आकार तथा भद्रपीठ, पद्मपीठ, वज्रपीठ आदि नौ प्रकार के पीठों का नाम कथन करते हुए उनकी ऊँचाई एवं भाग के अनुसार उनके अलङ्कारों का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में आगे पीठों के सामान्य लक्षण, ब्रह्मशिला, नन्द्यावर्तशिला, प्रतिमाओं के पीठ और उनके प्रमाण, पीठ के प्रमाण के अनुसार प्रासाद का प्रमाण, प्रतिमा के मान के अनुसार देवालय का प्रमाण; लाक्षा, गुड़, मध्वादि अष्टविध पदार्थों के सम्मिश्रण से तैयार होने वाले अष्टबन्ध (गारे) का सङ्ग्रह तथा गर्भगृह में प्रतिमा के स्थान से सम्बन्धित विवेचन है।

**पञ्चत्रिंश–षट्त्रिंश अध्याय : अनुकर्म–विधान, प्रतिमा–लक्षण :**

'अनुकर्म–विधान' नामक पैंतीसवें अध्याय में भवनों, लिङ्गों, पीठों, प्रतिमाओं ग्रामों आदि के अनुकर्म अर्थात् पुनर्नवीकरण आदि की चर्चा है। अग्रिम अध्याय में ब्रह्मा, विष्णु, वराह, त्रिविक्रम, नारसिंह, अनन्तशायी, महेश्वर तथा महेश्वर का सुखासन, विवाह, उमास्कन्द, वृषारूढ़ आदि सोलह मूर्त्तियाँ, षण्मुख, गणाधिप सूर्य; इन्द्र, अग्नि,यम, निर्ऋति, वरुण, वायु, कुबेर, चन्द्र, ईशान आदि दिक्पालों तथा अन्य विविध देवों एवं देवियों की प्रतिमाओं के लक्षण एवं उनके प्रमाण वर्णित हैं।

**समराङ्गणसूत्रधार**

महाराजाधिराज भोजदेव विरचित समराङ्गणसूत्रधार भारतीय वास्तुशास्त्र का मूर्धन्य

ग्रन्थरत्न है। इसमें वास्तुशास्त्रीय सभी प्रमुख विषयों का प्रतिपादन हुआ है। यह ग्रन्थ अत्यन्त पारिभाषिक एवं वैज्ञानिक है। आजड (सरस्वती-कण्ठाभरण, काव्यशास्त्र के टीकाकार) के अनुसार भोज के चौरासी विरुद थे, जिनके नाम से ही उन्होंने पृथक्-पृथक् ग्रन्थों की रचना की–**इह हि शिष्टशिरोमणि-निखिल-निरवय-निर्माणापूर्व-प्रजापति-प्रचण्डभुजदण्ड-पराक्रमार्जितचतुरशीतिविरुद-प्रकाशित-स्वकृत-ग्रन्थसमाजः श्रीभोजराजः शास्त्रारम्भे"** आदि।[1] उदाहरणार्थ वे स्वयं शृङ्गारप्रकाश, राजमृगाङ्क, राजमार्तण्ड, युक्तिकल्पतरु आदि थे परन्तु डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र इसे न तो पूर्णतः युक्तियुक्त और न ही निराधार मानते हैं, क्योंकि **'चम्पूरामायण', 'नाममालिका', 'शब्दानुशासन'** सदृश ग्रन्थों के नाम इनके विरुद नहीं हो सकते। इसी प्रकार समराङ्गणसूत्रधार जहाँ भोज का विरुद है वहाँ वास्तुविद्या से सम्बन्धित ग्रन्थ भी। उन्होंने पातञ्जल-योगसूत्र पर अपनी 'राजमार्तण्डवृत्ति' के प्रारम्भिक श्लोकों में स्वयं को **'रणरङ्गमल्ल'**[2] कहा है, जो कि समराङ्गणसूत्रधार का पर्याय हो सकता है। डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों पर, विशेषतः समराङ्गणसूत्रधार पर श्लाघनीय अनुसन्धान-कार्य किया है। वे समराङ्गणसूत्रधार की जिज्ञासा में समराङ्गण का साधारण अर्थ **'युद्ध-क्षेत्र'** बताते हैं परन्तु यह वास्तुशास्त्र का ग्रन्थ है, अतः यहाँ पर युद्ध-क्षेत्र की क्या कथा? अतः समर का अर्थ है– **'जुड़े हुए'** अथवा **'अच्छे-अच्छे चक्र'**; जैसे एक पहिये में उसके अरे जुड़े हुए होते हैं, उसी प्रकार शालाएँ (गृह) आङ्गन से जुड़े हुए होते हैं, वे समराङ्गण हैं और उनका सूत्रधार **'समराङ्गणसूत्रधार'** है।[3] इस प्रकार समराङ्गणसूत्रधार को जहाँ भोज का विरुद कहा जा सकता है वहीं इसका अर्थ **'साधारण-जनोचित-भवन-विन्यास'** भी है। वस्तुतः इस ग्रन्थ में न केवल जनभवन का ही प्रतिपादन हुआ है अपितु प्रमुखतः त्रिविध प्रकल्पित भवनों में

---

१. Bhoja's Śrngāra Prakāsa (Dr. V. Raghvan) p. 5—सरस्वतीकण्ठाभरण, काव्यशास्त्र, भूमिका (डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र), पृष्ठ ९ से उद्धृत।

२. (क) तस्य श्रीरणरङ्गमल्लनृपतेर्वाचो जयन्त्युज्जवलाः।।

–राजमार्तण्ड-वृत्ति, ५–सरस्वतीकण्ठाभरण, भूमिका (डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र), पृष्ठ २ से उद्धृत।

(ख) "व्युत्पत्तिसारमिह राजमृगाङ्कसंज्ञमेतद् व्यधाच्च करणं रणरङ्गमल्लः।" –राजमृगाङ्क, 'राजाभोज' (श्री विश्वेश्वरनाथ रिऊ), पृष्ठ २३९–सरस्वतीकण्ठाभरण, भूमिका (डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र), पृष्ठ २ से उद्धृत।

३. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र (भवननिवेश एक अध्ययन-प्रथम भाग, हिन्दी अनुवाद), पृष्ठ १७

तीनों ही प्रकार के भवनों–जनभवन, राजभवन एवं देवभवन के रचना-सिद्धान्त की समुचित व्याख्या हुई है।

समराङ्गणसूत्रधार का प्रथम सम्पादन एवं संस्करण महामहोपाध्याय तर्कवाचस्पति गणपति शास्त्री ने सन् १९२४ ई० में किया और इसे दो भागों में महाराज बड़ौदा-नरेश के संरक्षण में प्रकाशित किया। इस सम्पूर्ण ग्रन्थ में कुल ८३ अध्याय हैं, जिनमें से ५४ अध्यायों का सम्पादन प्रथम-भाग में और अग्रिम ३९ अध्यायों का द्वितीय-भाग में किया गया है। कालान्तर में डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल ने भारत सरकार के शिक्षा-सचिवालय से प्रतिश्रुत अनुदान-साहाय्य से अपनी 'भारतीय वास्तुशास्त्र शृङ्खला' के अन्तर्गत इस ग्रन्थ का परिमार्जित संस्करण तीन खण्डों में (१. भवननिवेश – मूल एवं वास्तुपदावली, २. प्रासाद-निवेश– मूल तथा वास्तुपदावली, ३. यन्त्र एवं चित्रादि कलाएँ–मूल एवं वास्तुचित्र-पदावली, साथ ही प्रत्येक खण्ड का अध्ययन एवं अनुवाद भी) प्रस्तुत किया, जिनमें अध्यायों को वैज्ञानिक आधार पर पुनः सङ्गठित किया गया है। इनके अतिरिक्त डॉ० शुक्ल ने राजा भोजकृत इस ग्रन्थ के आधार पर वास्तुशास्त्र (दो भागों में –१. हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, २. हिन्दू कैनन्स् ऑफ् आइक्नोग्राफी एण्ड् पेण्टिग्स), शिल्पशास्त्र, राजनिवेश एवं राजसी कलाएँ, प्रतिमा विज्ञान एवं भारतीय स्थापत्य आदि ग्रन्थों का लेखन किया।

डॉ० शुक्ल के अनुसार समराङ्गणसूत्रधार के पूर्व प्रकाशित संस्करण में अध्यायों का क्रम सुसम्बद्ध नहीं है, जिसका कारण सम्भवतः लिपिकारों की गड़बड़ी या फिर कालान्तर में एकप्रति से दूसरी प्रति बनाने में कोई गड़बड़ी हो सकती है।[१] इसके पश्चात् अभी कुछ ही वर्ष पूर्व यह ग्रन्थ सन् १९९८ ई० में 'न्यू भारतीय बुक कॉर्पोरेशन्,' दिल्ली से दो भागों में प्रकाशित हुआ है, जिसका सम्पादन प्रो० पुष्पेन्द्र कुमार (संस्कृत-विभाग, दिल्ली विश्वविद्यालय, दिल्ली) ने किया है। इसमें अध्याय-सङ्गठन-योजना पूर्ववत् (तर्कवाचस्पति सम्पादित एवं गायकवाड़ ओरिएन्टल् सीरिज के अन्तर्गत प्रकाशित के तुल्य) ही है। इससे पूर्व कि समराङ्गणसूत्रधार में प्रतिपादित विषयों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त करें, राजा भोजदेव के व्यक्तित्व एवं कृतित्व के विषय में किञ्चित् प्रवचन आवश्यक है।

**धाराधिप भोज**–धाराधिप भोज परमार भारत के महान् शासकों में थे। वे एक अद्वितीय प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व की आभा लेकर मध्यकालीन राष्ट्रिय क्षितिज पर

---

१. समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र (भवननिवेश एक अध्ययन-प्रथम भाग, हिन्दी अनुवाद) पृष्ठ २४

उदित हुए थे, जिन्होंने क्षात्र-शक्ति के साथ-साथ ब्राह्म-प्रज्ञा का भी प्रखर तेज उद्भासित करते हुए निज कीर्ति-कथा रची थी। राजा भोज जहाँ एक महान् शासक और योद्धा थे वहाँ शान्ति-स्थापना में भी कुशल थे। उन्होंने सन् १०१८ से १०६० ई० तक शासन किया। इनका शासन विन्ध्य-मेखला के समानान्तर अपना अञ्चल पसारे हुए महिमामय 'मालव' प्रदेश में था, जिसकी राजधानी पहले उज्जयिनी थी परन्तु कालान्तर में उन्होंने अपनी राजधानी 'धारा' नगरी को बनाई, अत: उन्हें '**धारेश्वर**' या '**धाराधिप**' कहा जाता है। उन्होंने धारा नगरी में सरस्वती-मन्दिर अथवा सरस्वती-कण्ठाभरण पाठशाला का निर्माण करवाया, जहाँ सरस्वती की प्रतिमा स्थापित की गई थी। उसका प्राचीन जीर्ण-शीर्ण भवन '**भोजशाला**' के नाम से पुकारा जाकर अद्यतन विद्यमान है।[१] उन्होंने अन्य राज्यों में भी वापी, तडाग आदि के साथ शिवमन्दिरों का निर्माण करवाया था। उदयपुर-प्रशस्ति में उनके द्वारा केदार, रामेश्वर, सोमनाथ, सुन्दरवन (सुण्डीर), कालानल (महाकाल) आदि स्थलों पर मन्दिर-निर्माण करवाने का उल्लेख है।[२] कल्हण ने कपटेश्वर में कुण्डनिर्माण का विशद वर्णन किया है।[३] उन्होंने भोपाल में सुरम्य प्राकृतिक वातावरण में २५०/३५० वर्गमील में विशाल कृत्रिम तालाब (झील) का निर्माण करवाया था जो भारतीय स्थापत्य-कला का उत्कृष्ट निदर्शन था।[४]

राजा भोज ने अपने दीर्घ शासन-काल में अनेक दुर्द्धर्ष सङ्ग्राम लड़े और विविध राजशक्तियों से सन्धि-विग्रह करके अपनी नीति-निपुणता का दृढ़ कौशल प्रदर्शित किया। डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र के अनुसार "भारतीय इतिहास में ऐसे बहुत कम

---

१. इस पाठशाला/महाविद्यालय की दीवरों पर कसौटी के पत्थर पर उत्तृंकित लगभग सवा सौ अभिलेख कभी अलङ्कृत थे। उन्हें मुसलमान शासकों ने खुरचकर फर्श पर गड़वा दिया और तब से इस स्पष्टतया हिन्दू भवन को उन्होंने 'कामल मौला की मस्जिद' कहना शुरू कर दिया।
-भारत निर्माता, पृष्ठ ३१४

२. केदार-रामेश्वर-सोमनाथ-सुण्डीर-कालानल-रूद्रासत्कैः।
सुराश्रयैर्व्याप्य च यः समन्ताद्यर्थायसंज्ञां जगतीं चकार।।
-एपिग्राफिआ इण्डिका, भाग-१, पृष्ठ २३६
-सरस्वतीकण्ठाभरण, भूमिका, पृष्ठ ६ से उद्धृत

३. मालवाधिपतिर्भोजः प्रहितैः स्वर्णसंचयैः। अकारयद्येन कुण्डयोजनं कपटेश्वरे।।
प्रतिज्ञा भोजराजेन पापसूदनतीर्थजैः। सततं वदनस्नाने या तोयैर्विहिताऽभवत्।।
अपूरयत्तस्य यस्तां दुस्तरां नियमादितः। प्रहितैः काचकलशीकुलैस्तद्वारिपूरितैः।।
-राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ७. १९०-९२

४. सरस्वतीकण्ठाभरण, भूमिका, पृष्ठ ७ तथा भारत-निर्माता, पृष्ठ ३१४ से उद्धृत।

शासक हुए हैं जिनसे भोज की तुलना की जा सके।"[१] उनका नाम भारतीय जनश्रुति में उनके साहित्यानुराग, विजय-पराक्रम तथा जन-कल्याणकारी निर्माण-कार्यों के कारण पुराकालीन सम्राट् शकारि विक्रमादित्य की भाँति स्वर्णाक्षरों में अङ्कित है। डॉ० शुक्ल के शब्दों में 'महाराज भोजदेव की जीवन-गाथा भारतीय इतिहास में इने गिने राजर्षियों की गाथा में एक है। प्राप्त एवं अर्द्धप्राप्त भारतीय ऐतिहासिक सामग्री में राजर्षि प्रियदर्शि अशोक, महाप्रतापी महाराज विक्रमादित्य के बाद भारतीय जन-समाज में अतिप्रसिद्ध राजा भोज ही हुए हैं। महाराज विक्रमादित्य का यदि न्याय प्रसिद्ध है तो महाराज अशोक का धर्म-प्रचार और महाराज भोजदेव की साहित्यिक गरिमा। इस प्रकार भारतीय संस्कृति के व्यापक विर्जृम्भण में भोजदेव सांस्कृतिक विकास की पराकाष्ठा के प्रतीक हैं। उनके राज्यकाल में संस्कृत-साहित्य के चरमोत्कर्ष से इस तथ्य की पुष्टि होती है।[२]

धाराधिप भोज ने कवियों, दार्शनिकों एवं वैज्ञानिकों के संरक्षण में विशिष्ट ख्याति अर्जित की थी। इनके संरक्षण की गाथाएँ आज भी लोगों के स्मृति-पटल पर सर्वत्र अङ्कित हैं। इन्होंने विविध विषयों पर विभिन्न ग्रन्थों की रचना कर अपनी बहुमुखी साहित्यिक प्रतिभा का प्रखर परिचय दिया है। उनके द्वारा रचित ग्रन्थों में कुछ प्रकाशित हुए और कुछ अप्रकाशित ही रह गये। श्री विश्वेश्वरनाथ रिऊ ने अत्यन्त कठिन परिश्रम से राजा भोज के जीवन और कार्य से सम्बन्धित जो सामग्री उपलब्ध हो सकती थी उसे एकत्रित करके हिन्दूस्तानी एकेडमी द्वारा प्रकाशित 'राजा भोज' नामक स्व-रचना में दी। उन्होंने धारा के राजा से सम्बन्धित ३४ पुस्तकों की सूची दी है, जो निम्नलिखित है:-

१. **ज्योतिष** – १. राजमृगाङ्क, २. राजमार्तण्ड, ३. विद्वज्ज्जनवल्लभ-प्रश्नज्ञान ४. आदित्य-प्रताप-सिद्धान्त और ५. भुजबल-निबन्ध

२. **काव्यशास्त्र** – ६. सरस्वतीकण्ठाभरण तथा ७. शृङ्गारप्रकाश

३. **योगदर्शन** – ८. राजमार्तण्ड-योगसूत्रवृत्ति (पातञ्जल-योगसूत्र पर टीका)

४. **नीति एवं धर्मशास्त्र** - ९. पूर्तमार्तण्ड, १०. चाणक्यराजनीति शास्त्र, ११. व्यवहारसमुच्चय, १२. चारुचर्या,

---

१. सरस्वतीकण्ठाभरण, भूमिका, पृष्ठ १

२. वास्तुविद्या तथा पुरनिवेश, पृष्ठ १

१३. विविधविद्या-विचारचतुरा, १४. सिद्धान्तसार-पद्धति

५. **वास्तुविद्या (शिल्प)** – १५. समराङ्गणसूत्रधार, १६. युक्तिकल्पतरु

६. **काव्य एवं नाटक** – १७. चम्पूरामायण या भोजचम्पू, १८. महाकाली-विजय, १९. विद्याविनोद, २०. शृङ्गारमञ्जरीकथा तथा २१. कूर्मशतक (प्राकृत भाषा में)

७. **व्याकरण** – २२. प्राकृत-व्याकरण, २३. सरस्वतीकण्ठाभरण

८. **चिकित्सा** – २४. विश्रान्त-विद्या-विनोद, २५. आयुर्वेद-सर्वस्व, २६. राजमार्तण्ड-सारसङ्ग्रह

९. **शैवदर्शन** – २७. शिवतत्त्व-प्रकाश, २८. शिवतत्त्व-रत्नकलिका एवं २९. सिद्धान्त-सङ्ग्रह

१०. **शब्दकोष** – ३०. नाममालिका और ३१. शब्दानुशासन

११. **मिश्रित** – ३२. शालिहोत्र, ३३. सुभाषित-प्रबन्ध तथा ३४. राजमार्तण्ड (वेदान्त)।[१]

डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र ने भोज की कृतियों के अन्तर्गत आफ्रेक्ट महोदय के कॅटलॉग् कॅटलॉगरम् का सन्दर्भ देते हुए इनके अतिरिक्त कतिपय अन्य ग्रन्थों- 'भर्तृहरिकारिका' (व्याकरण), 'अवनिशतक', 'परिजात-मञ्जरी', 'कोदण्ड' आदि का भी उल्लेख किया है परन्तु इस सूची पत्र में 'भुजबल-निबन्ध', 'महाकाली-विजय', 'प्राकृत-व्याकरण', 'राजमार्तण्डसारङ्ग्रह' की गणना नहीं की गई है।[२]

डॉ० शुक्ल के अनुसार इन महत्त्वपूर्ण कृतियों के सम्बन्ध में एक निष्पक्ष अनुसन्धान की आवश्यकता है, क्योंकि अधिकारपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि इनमें से किन ग्रन्थों की रचना उन्होंने की और किन ग्रन्थों का प्रणयन उनके संरक्षण में रहने वाले उनकी सभा के प्रतिभासम्पन्न पण्डितों ने किया।[३] इस विषय में डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र ने संस्कृत के प्राचीन लेखकों के लेखों एवं विद्वानों के विचारों को उद्धृत करते

---

१. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ १-२ से उद्धृत।
२. सरस्वतीकण्ठाभरण, भूमिका, पृष्ठ ९-१०
३. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ २६

हुए भोज के द्वारा विभिन्न विषयों के ग्रन्थों के रचे जाने की पुष्टि की है।[1] अतः यह कहा जा सकता है कि साहित्य-सेवा के क्षेत्र में भोज ने अत्यन्त गौरव-पूर्ण प्रतिष्ठा प्राप्त की है और स्वयं को समयानुकूल ढालने वाले सिद्धहस्त, गुणी और प्रभावशाली लेखक सिद्ध किया, जिसके कारण परवर्ती ग्रन्थकारों ने तत्तद्विषयों में इन्हें उद्धृत किया है। जैसे-शूल्पपाणि (प्रायश्चित-विवेक), दशबल (बौद्ध लेखक) अल्लादनाथ तथा रघुनन्दन (इन सभी लेखकों) ने भोज के धर्मशास्त्र पर प्रभुत्व की प्रशंसा की है। आयुर्वेद के क्षेत्र में 'भावप्रकाश' तथा माधव के 'रुग्विनिश्चय' (माधवनिदान) में, ज्योतिष में केशवार्क द्वारा, वैयाकरण तथा कोशकार के रूप में क्षीरस्वामी, सायण, तथा महीप द्वारा और चित्तप, देवेश्वर, विनायक शङ्कर, सरस्वती-कुटुम्बदुहितृ आदि कवियों द्वारा इन्हें सामान्यतः ससम्मान उद्धृत किया गया है और इनकी यशोगाथाएँ गाई गई हैं।[2] इसी प्रकार अधोलिखित उद्धरण भी संस्कृत के लेखकों में भोज को विशेष स्थान प्रदान करते हैं-

**मुनीनां भरतादीनां भोजादीनां चमूभृताम्।**
**शास्त्राणि सम्यगालोच्य नाट्यवेदार्थवेदिनाम्।।**[3]

भोज की बहुमुखी साहित्य-सेवा का निदर्शन श्री चन्द्रप्रभासूरि के ग्रन्थ प्रभावचरित में स्पष्ट दृष्टिगोचर होता है।

**भोजव्याकरणं ह्येतत् शब्दशास्त्रं प्रवर्तते।।**
**असौ हि मालवाधीशो विद्वच्चक्रशिरोमणिः।**
**शब्दालङ्कार-दैवज्ञ-तर्कशास्त्राणि निर्ममे।।**
**चिकित्सा-राजसिद्धान्त-तरुवास्तूदयानि च।**
**अङ्कशाकुनकाध्यात्म-स्वप्नसामुद्रिकाण्यपि ।।**
**ग्रन्थान् निमित्तव्याख्यानप्रश्नचूड़ामणीनिह।**
**विवृत्तिं चाथ सद्भावेऽर्थशास्त्रं मेघमालया।।**[4]

---

१. द्रष्टव्य: सरस्वतीकण्ठाभरण, भूमिका, पृष्ठ १०-१७

२. "As a medical wirter he is quoted in the bhāvaprakāśa, and madhavā's Rugviniscaya, as astrologer by Kecvarka, as a grammarian and lexicographer he is noticed by Kshiraswami, Sāyaṇa & Mādhava. He is praised by the Poets Chittapa. Deveśvara, Vinayaka, Cankara, Saraswatikutumba-duhitr."—Aufrecht : "Cat. Cat., Vol. I, pp. 418-19 -वही, भूमिका, पृष्ठ ८-९ से उद्धृत।

३. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ २६

४. Bhoja's Śrngara Prakāśa, p. 5-सरस्वतीकण्ठाभरण, भूमिका, पृष्ठ ९ से उद्धृत।

भोज के व्यक्तित्व एवं कृतित्व-विषयक इस संक्षिप्त चर्चा के पश्चात् अब आगे समराङ्गणसूत्रधार* के पृथक्-पृथक् अध्यायों में प्रतिपादित विषय-वस्तु का उल्लेख किया जा रहा है।

**प्रथम अध्याय : महासमा ( पृथ्वी ) का आगमन :**

ग्रन्थ की प्रस्तावना में ग्रन्थकार ने सनातन परम्परा के अनुसार भुवनत्रय-सूत्रधार भगवान् (शङ्कर) से मङ्गलकामना के अनन्तर वास्तुशास्त्र का विषय- देश, पुर, निवास, सभा, वेश्म तथा आसनादि का लक्षण-निर्णय करना बताया है। आगे पृथु के द्वारा उपद्रुत, अतः भय से आक्रान्त भूतधात्री पृथ्वी तथा साथ ही पृथु के भी ब्रह्मा के पास जाने और ब्रह्मा के द्वारा दोनों को शान्त करने, तदनन्तर भूमि में स्थानादि के विनिवेश-हेतु अमरावती आदि के निर्माता विश्वकर्मा को नियुक्त करने का वर्णन हुआ है। इस प्रकार यहाँ पर वास्तुशास्त्र की मूलमयी त्रयी- वास्तु-आधार अर्थात् योजना को कार्यान्वित करने का आधार पृथ्वी, वास्तु-संरक्षक राजा पृथु और महान् स्थपति विश्वकर्मा की समुचित अवतारणा हुई है।

**द्वितीय अध्याय : विश्वकर्मपुत्र-संवाद :**

प्रस्तुत अध्याय में विश्वकर्मा-द्वारा अपने चारों मानस-सुतों- जय, विजय, सिद्धार्थ और अपराजित के साथ निवेश-सम्बन्धी संवाद अर्थात् भूतल पर मनुष्यों के निवास-स्थानों- नगर, ग्राम, खेट, भवन एवं उद्यानादि जन-स्थानों के निवेश-हेतु स्व-सहायतार्थ चारों पुत्रों को पृथक्-पृथक् दिशाओं में नियुक्त करने का वर्णन है।

**तृतीय अध्याय : प्रश्न ( वास्तुशास्त्र-विषय-वर्ग ) :**

पिता द्वारा अपने पुत्रों से विस्तृत संवाद एवं उन्हें उनका पृथक्-पृथक् कर्त्तव्य बताने के पश्चात् जय नामक ज्येष्ठ-पुत्र ने विश्वकर्मा से अनेक प्रश्न किये, जिसके कारण इस अध्याय को **'प्रश्नोऽध्याय'** कहा गया है। यहाँ पर महान् स्थपति के पुत्र-द्वारा जिज्ञासा-वश पूछे गये महत्त्वपूर्ण प्रश्नों का सम्बन्ध जहाँ वास्तुकला, शिल्पकला एवं चित्रकला के नाना अङ्गों से है वहीं इनका सम्बन्ध पदार्थ-विज्ञान, भूगोल-विद्या एवं खगोल-विद्या अर्थात् समस्त ब्रह्माण्ड से है। इस प्रकार जय की जिज्ञासा वास्तुशास्त्र की विभिन्न शाखाओं और उसकी व्यापकता पर सुन्दर प्रकाश डालती है।

---

* समराङ्गणसूत्रधार के अलग-अलग अध्यायों में वर्णित विषय-वस्तु-परिचय में अध्याय-क्रम का आधार तर्कवाचस्पति गणपति शास्त्री/प्रो० पुष्पेन्द्र कुमार के द्वारा सम्पादित ग्रन्थ है।

**चतुर्थ अध्याय : महदादि-सर्ग ( सृष्टि-वर्णन ) :**

वास्तुशास्त्र-विषयक विविध प्रश्नों के पश्चात् स्थपति विश्वकर्मा ने उनके विस्तृत उत्तर दिये, जिन्हें उन्होंने पितामह ब्रह्मा से प्राप्त किया था। इसी उत्तर देने के क्रम में इस अध्याय में सृष्टि-सम्बन्धी वर्णन हुआ है। नदियों, द्वीपों, सागरों तथा पर्वतों की उत्पत्ति किस प्रकार हुई? नदियों, समुद्रों एवं द्वीपादि से युक्त इस पृथ्वी का आविर्भाव कैसे हुआ? इत्यादि प्रश्नों का उत्तर दिया गया है। इसके अतिरिक्त प्राणियों की सृष्टि और उनके ग्राम्य-अरण्य नाम से भिन्न-भिन्न भेदों का विवरण तथा उनका जरायुज, अण्डज, उद्भिज्ज* और स्वेदज भेद से चतुर्विध विभाजन बताया गया है।

**पञ्चम अध्याय : भुवन-कोश ( भूगोल-वर्णन ) :**

इस अध्याय में पृथ्वी की परिमिति तथा उससे सम्बन्धित जल, अग्नि, वायु आकाश और महत् की मात्रा, जम्बू, शाक, कुश, क्रौञ्च आदि सात द्वीपों, उनमें स्थित पर्वतों, उनका विस्तार, उनके निवासियों तथा वर्षों (देशों) का वर्णन हुआ है। जहाँ जम्बूद्वीप के वर्णन-प्रसङ्ग में उसके हिमवान्, हेमकूट आदि नौ तथा मैनाक बलाहक आदि बारह पर्वतों और वर्षों (जिसके नौ वर्षों में भारतवर्ष भी एक है) का विस्तृत उल्लेख है। आगे लोकालोकाचल तथा सौर-मण्डल का वर्णन हुआ है, जिसमें सूर्य, चन्द्र, शुक्र आदि की स्थिति, गति तथा अन्तरावकाशों (Intervening distance) का उल्लेख है।

**षष्ठ अध्याय : सहदेवाधिकार :**

इस अध्याय में मानव-जाति को भूतल पर निवास-स्थानों (भवनों) की आवश्यकता क्यों हुई? और उन भवनों की प्रकृति, प्रतिकृति एवं रूपरेखा कैसी थी? एतद्विषयक उद्घाटन हुआ है, जिसमें भूतल में भवन का आरम्भ वृक्षों की शाखाओं से माना गया है।

**सप्तम अध्याय : वर्णाश्रम-विभाग :**

किसी भी योजना के लिए सुसंयमित व्यक्ति, सुनियन्त्रित समाज तथा सुशासित राज्य परमावश्यक है, अतः एतदर्थ प्रस्तुत अध्याय में ब्रह्मा-द्वारा पृथु का अभिषेक

---

* उद्भिज्जानां विशिष्टगुणत्रयम्
–छन्नान्तःकरणत्वं च स्वस्थानत्यागितापि च।।
छिन्नप्रोहिता चैषां वैशेषिकगुणत्रयम्। –अध्याय ४.३६–३७

और आदि राजा पृथु-द्वारा मानव-समाज को विभिन्न वर्णों एवं आश्रमों में विभाजित कर एक सुसङ्गठित एवं सुव्यवस्थित समाज का निर्माण एवं प्रतिष्ठा तथा उसकी वृत्ति के लिए वास्तुशास्त्र के उपजीव्य नगर, ग्राम, खेट, और वेश्म आदि की कल्पना करने का उल्लेख हुआ है।

**अष्टम अध्याय : भूमि-परीक्षा ( भूमि का चयन ) :**

स्थापत्य-विषयक किसी भी निवेश से पूर्व उस क्षेत्र का सर्वेक्षण और उसकी अवस्था का परीक्षण आवश्यक है। इस सर्वेक्षण से विभिन्न प्रकार की भूमियों, उनकी स्थिति और उपयुक्तता का ज्ञान होता है, अतः इस अध्याय में प्रमुख रूप से पृथक्-पृथक् लक्षणों वाले त्रिविध देश- जाङ्गल, अनूप और साधारण का कथन हुआ है, जिनमें भिन्न-भिन्न लक्षणों वाली सोलह प्रकार की भूमियाँ है। तदनन्तर जनपद, नगर और दुर्गनिवेश के लिए एवं ब्राह्मणादि वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न प्रशस्त भूमियों और पुरादि के निवेश में अप्रशस्त भूमियों तथा भूमि की श्रेष्ठता एवं अपकृष्टता जाँचने के लिए मृत्तिका-परीक्षा की विविध विधियों का वर्णन हुआ है।

**नवम अध्याय : हस्त-लक्षण ( मान-योजना ) :**

इस अध्याय की प्रारम्भिक पंक्तियों में हस्त के तीन भेदों-ज्येष्ठ, मध्यम तथा कनिष्ठ (जिन्हें आगे क्रमशः **प्राशय, साधारण** और **शय** की संज्ञा दी गई है) का उल्लेख हुआ है। तदनन्तर मान-विभाजन,[१] हस्त-विभाजन, खदिर, अञ्जन, वंश आदि हस्त-निर्माण के काष्ठ, हस्त-देवता, प्राशय आदि का भिन्न-भिन्न वास्तु-प्रकारों (पुर, खेट, परिखा आदि के निर्माण) में विनियोग और मान-वर्ग अर्थात् पुरातन वास्तु-परम्परा में जिन मानों एवं मापों का प्रयोग होता था उनका निघण्टु[२] दिया गया है। इसके आगे एक (१) से लेकर परार्ध (१०००००००००००००००००) तक की गणना और निमेष से वर्ष तक की काल-संख्या का उल्लेख हुआ है।

---

१. ८ रेणु = १ बालाग्र, ८ बलाग्र = १ लिक्षा, ८ लिक्षा = यूका, ८ यूका =१ यवमध्य, ८ यवमध्य = १ ज्येष्ठ अङ्गुल, ७ यवमध्य = १ मध्यम अङ्गुल, ६ यवमध्य =१ कनिष्ठ अङ्गुल, २४ अङ्गुल = १ हस्त।

२. १ अङ्गुल =१ मात्रा, २ अङ्गुल = १ कला, ३ अङ्गुल = १ पर्व, ४ अङ्गुल = १ मुष्टि, ५ अङ्गुल = १ तल, ६ अङ्गुल = $\frac{१}{४}$ हस्त, ७ अङ्गुल = १ दिष्टि, ८ अङ्गुल = १ तुणि, ९ अङ्गुल = १ प्रादेश, १० अङ्गुल = १ शयताल, ११ अङ्गुल = १ गोकर्ण, १२ अङ्गुल = १ वितस्ति, १४ अङ्गुल = १ पाद, २१ अङ्गुल = १ रत्नि, २४ अङ्गुल = १ अरत्नि, ४२ अङ्गुल = १ किष्कु, ८४ अङ्गुल = १ व्याम तथा पुरुष, ९६ अङ्गुल = १ चाप तथा नाडीयुग, १०६ अङ्गुल = १ दण्ड, ३० धनुष (चाप) = १ नल्व, १००० धनुष = १ कोश, २००० धनुष = १ गव्यूति।

**दशम अध्याय : पुरनिवेश :**

इस अध्याय में नगर के विस्तार-आयाम के आधार पर तीन भेद-ज्येष्ठ, मध्यम, कनिष्ठ बताते हुए उसके अनेक अङ्गों-वप्र, प्राकार, परिखा, अट्टालक, द्वार, गोपुर एवं राजमार्गादि तथा नगर में निवास करने वाले ब्राह्मण, क्षत्रिय आदि पृथक्-पृथक् वर्णों तथा व्यवसाय-जीवियों के आवासीय भवनों का वास्तुपद-विन्यास करते हुए नगर-निवेश की उत्तम-योजना प्रस्तुत की गई है। इस अध्याय में आगे छिन्नकर्ण, विकर्ण आदि अप्रशस्त पुरों तथा उनमें निवास करने का फल एवं नगर-रक्षक देवायतनों की स्थापना का विधान है।

**एकादश अध्याय : वास्तु-त्रय-विभाग ( वास्तुपद-विन्यास ) :**

इस अध्याय में प्रमुख रूप से वास्तुपद-विन्यास के तीन रूपों – १. इक्यासी पदों वाला वास्तु २. सौ पदों वाला वास्तु और ३. चौंसठ पदों वाला वास्तु का वर्णन किया गया है। इसके साथ ही ब्रह्मा आदि ४९ देवों का भी नामोल्लेख हुआ है जिनमें से कतिपय बिना पद वाले, कुछ एक पद के देव और कुछ एक से अधिक पदों के स्वामी हैं।*

**द्वादश अध्याय : नाड्यादिसिरादि-विकल्प ( नाड़ी और सिरादि की कल्पना ) :**

इस अध्याय में भी पूर्व वाले अध्याय की भाँति नौ प्रकार के वास्तुपद-विन्यास का वर्णन किया गया है। इनमें से प्रथम- सोलह पदों वाला वास्तु, द्वितीय- हजार पदों वाला वास्तु, जिसका प्रयोग देशों के सन्निवेश में किया जाता है। तृतीय- वृत्त-वास्तु। इसका प्रयोग वृत्त-प्रासादों के निवेश में विहित है। चतुर्थ- त्र्यश्रादि-वास्तुपद, जिसमें त्रिकोण, षड्कोण, अष्टकोण, षोडशकोण, अण्डाकार और अर्धचन्द्रकार वास्तु-पदों की परिगणना हुई है। अन्त में वास्तुपुरुष की कल्पना की गई है, जिसमें मुखादि अवयवों और नाड़ी आदि की गणना हुई है।

**त्रयोदश अध्याय : मर्म-वेध :**

प्रस्तुत अध्याय में उपर्युक्त वास्तु-त्रय-विभाग में से गृह, राजप्रासाद, देवप्रासाद, ग्राम, खेट तथा नगरादि के सन्निवेश में कितनी संख्या में वास्तुपद-विन्यास करना

---

* वास्तु-पदों में प्रकल्पित देवों में से कुछ देव वर्ग के मध्य तथा मध्यकोण के पदों के स्वामि-देव और कुछ वर्ग के बाहर के देव हैं। यह ध्यातव्य है कि विभिन्न संख्यक वास्तुपद-विन्यास में देवों का पद-भोग भी न्यूनाधिक हो जाता है।

चाहिए, एतद्विषयक वर्णन है। साथ ही इन वास्तु-पदों में वास्तुपुरुष के मुख, हृदय, नाभि आदि मर्म-स्थानों और द्वार, भित्ति आदि के द्वारा मर्म-वेध होने पर उनसे आपतित विभिन्न फलों का कथन हुआ है।

**चतुर्दश अध्याय : पुरुषाङ्ग-देवता-निघण्ट्वादि-निर्णय :**

निवेश्य भूमि के विभिन्न पदों में उनके अधिपति देवों की प्रतिष्ठा के साथ-साथ वास्तुपुरुष की भी प्रतिष्ठा प्रतिपाद्य है और वस्तुतः वास्तुपुरुष ही समस्त पदों का स्वामी है। इस अध्याय में वास्तुपुरुष के विभिन्न अङ्गों पर भावित देवों* तथा विभिन्न पद-देवों का निघण्टु+ दिया गया है। अध्याय के अन्त में 'क्ष', 'ह', 'स', आदि वर्ण वास्तुपुरुष के अवयवों में विहित किये गये हैं।

**पञ्चदश अध्याय : राजनिवेश :**

इस अध्याय में ज्येष्ठ, मध्यम और अधम, तीन प्रकार के राजप्रासाद का उल्लेख करते हुए उसका निवेश नगर के मध्यभाग में बताया गया है। तदनन्तर उसका वास्तु-पद-विन्यास अर्थात् द्वारों, पक्ष-द्वारों आदि के साथ उसके राजगृह, कोष्ठागार, महानस, गजशाला आदि नानाविध निवेशाङ्ग कहां-कहां निवेश्य हैं, एतद्विषयक वर्णन है।

**षोडश अध्याय : वन-प्रवेश :**

दारु, शाल-भवन का प्रमुख निर्माण-द्रव्य है और प्राचीन कालीन आर्य-परम्परा में दार्वाहरण सनातन संस्था है। प्रस्तुत अध्याय में भवन-निर्माण-निमित्त दार्वाहरण की अत्यन्त वैज्ञानिक एवं पारिभाषिक पद्धति का प्रतिपादन हुआ है, जिसमें विहित नक्षत्र, राशि, लग्न में किस दिशा में वन-प्रवेश, वृक्षों के विभिन्न स्थानों पर उगने तथा उनकी आयु आदि की दृष्टि से उनके प्रशस्ताप्रशस्त होने की परीक्षा, पुनः वृक्ष-प्रमाण एवं वृक्ष-नक्षत्र-विज्ञान, वृक्षच्छेदन-विधि आदि पर विस्तृत विवरण दिये गये हैं।

**सप्तदश अध्याय : इन्द्रध्वज-निरूपण :**

नगर, दुर्ग, एवं आवसीय भवनों में अथवा अन्य किसी शुभ अवसर पर इन्द्रध्वज का स्थापन 'मङ्गलदायक चिन्ह' माना जा सकता है। प्रस्तुत अध्याय के प्रारम्भ में

---

* भावित देव, यथा-शिर-अग्नि; नेत्रद्वय-दिति एवं वरुण; कर्णद्वय-जयन्त एवं अदिति और मुख-वायु आदि।

\+ पददेव-निघण्टु, जैसे-ब्रह्मा-अब्जसम्भव, सहस्रानन, जयन्त-कश्यप भगवान्, विवस्वान्-आदित्य आदि।

ब्रह्मा-द्वारा इन्द्र को ध्वज प्रदान करने का उल्लेख हुआ है, जिसके तीन रूप थे-सहस्रधार, रिपुकुलान्तक और दिव्यमय। इसका निर्माण यन्त्रों से किया जाता था। इस प्रकार पुरा काल में राजा को भी शत्रुओं पर विजय और तेज, बल एवं यश अर्जित करने के लिए इन्द्रध्वज का निरूपण करवाना आवश्यक था, अतः इस अध्याय में इसके निरूपण और स्थापन के लिए अनेक औपचारिक क्रियाओं का विस्तृत वर्णन हुआ है।

**अष्टादश अध्याय : नगरादि-संज्ञा :**

यह अध्याय कोशग्रन्थ के समान है, जिसमें स्थापत्य-सम्बन्धी अनेक नामों का उल्लेख हुआ है। इसमें किसी अन्य शीर्षक से किसी अन्य विशिष्ट विषय का वर्णन नहीं है अपितु इसमें गृह-स्थापत्य एवं प्रासाद-स्थापत्य के अनेक अवयवों और पुर-निवेश से सम्बन्धित उसके प्रसिद्ध अङ्गों-हर्म्य, सोपान, महानस, भित्ति, कण्ठ, क्रीडागृह, वापी, प्राकार, अट्टालक आदि की गणना और परिभाषा दी गई है।

**नवदश अध्याय : चतु:शाल-विधान :**

प्राचीन काल से ही भारतीय भवनों का प्रमुख अङ्ग 'आङ्गन' रहा है और इस आङ्गन को ही इकाई मानकर उसके चारों ओर निवेश्य शालाएँ प्रकल्पित की जाती हैं। इस प्रकार चारों पार्श्वों से छन्न (ढका हुआ) अर्थात् जिस भवन के आङ्गन के चारों ओर शालाएँ हो, वह चतु:शाल भवन कहलाता है।[१]

शाल-भवन, जो एक शाल से दश-शाल पर्यन्त होते हैं, इनमें से प्रथम चार-एक-शाल, द्वि-शाल, त्रि-शाल तथा चतुशाल ही मौलिक हैं और इन्हीं चारों के पारस्परिक संयोजन से अन्य छः प्रकार के पञ्चशालादि दश-शालान्त भवन-विन्यास होते हैं। इनके अपने-अपने अलग-अलग नाना भेद-प्रभेद होते हैं, जिनकी एक बहुत बड़ी संख्या है। प्रस्तुत अध्याय में राजा, सेनापति तथा ब्राह्मणादि वर्णों के प्रशस्ताप्रशस्त सभी भवनों का वर्णन किया गया है। इन सभी भवनों के लक्षण, आकार, माप उनमें प्रयुक्त होने वाले द्रव्य एवं अलङ्कार आदि जन-समूह के वर्गीकरण अर्थात् भिन्न-भिन्न वर्णों, साधारण और विशिष्ट या प्रमुख जनों के अनुरूप हैं, जो कि भद्र-विधान के कारण एक से अष्टभद्र पर्यन्त दो सौ छप्पन (२५६) प्रकार के हैं।

**विंश अध्याय : निम्नोच्च आदि फल :**

इस अध्याय में मिश्रित लक्षणों, जिनमें भवन-भूमि के अवरोह-आरोह तथा भूमि

---

१. छन्नैश्चतुर्भिः पार्श्वैयत् तच्चतुश्शालमुच्यते। -अध्याय १९. १८

की अन्य विभिन्न अवस्थाओं का वर्णन है, जिनके आधार पर सच्छत्र, सकक्ष, सपरिक्रम और सप्रभ नामक चार प्रकार के भवनों का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमें घर में विभिन्न दिशाओं में बनाये जाने वाले अलिन्दों एवं उनके गुणावगुणों का भी वर्णन है।

**एकविंश-द्वाविंश-त्रयोविंश : त्रिशाल-द्विशाल-एकशाल-भवन :**

इन तीनों अध्यायों में से प्रथम अध्याय में प्रमुखतः हिरण्याभ, सुक्षेत्र (प्रशस्त) एवं चुल्ली और पक्षघ्न (अप्रशस्त) नामक चार प्रकार के त्रिशाल-भवनों, द्वितीय अध्याय में विशेषतः सिद्धार्थ, यमसूर्य, दण्ड, वात आदि छः प्रकार के दो शालाओं वाले भवनों और तृतीय अध्याय में ध्रुव, धन्य आदि सोलह प्रकार के एकशाल-भवनों का प्रतिपादन हुआ है, जो कि अलिन्द, वीथिका, षड्दारु-योजना आदि अपने-अपने रचनागत स्थापत्य-विन्यासों से क्रमशः ७२, ५२ एवं १०४ प्रकार के होते हैं।

**चतुर्विंश अध्याय : द्वार-पीठ-भित्ति-मानादि :**

इस अध्याय के प्रारम्भ में ईश्वर, वृषभ, चन्द्र आदि पन्द्रह प्रकार के गृहों के लक्षणोल्लेख के साथ उनका फल-कथन हुआ है, तदनन्तर पाँच प्रकार के वर्गाधिपों का स्वरूप-कथन (१०, २०, २४, २८ तथा ३२ का समुदाय) हुआ है, जिनका सम्बन्ध भित्तियों, अलिदों, पीठों (Pedestals) तथा द्वार की ऊँचाई आदि से है। अध्याय के अन्त में चार विशेष प्रकार के प्रशस्त भवनों– भद्र, नन्दपीठक, सौरभ तथा पुष्कर का उनके प्रवेश-द्वार आदि के साथ वर्णन हुआ है।

**पञ्चविंश अध्याय : समस्तगृह-संख्या :**

इस अध्याय में पञ्चशाल से लेकर दश-शाल पर्यन्त अनेक भवनों का लक्षण-कथन हुआ है, जिनका विन्यास एकशाल से लेकर चतुश्शाल तक चारों प्रकार के भवनों के पारस्परिक संयोजना से होता है। इनके अपने-अपने पृथक्-पृथक् अनेक भेद-प्रभेद हैं। जैसे–पञ्चशाल भवनों में त्रिशाल और द्विशाल अथवा चतुश्शाल और एकशाल वेश्मों का संयोग अपेक्षित है। इनकी एकीकृत संख्या एक हजार चौबीस (१०२४) है। इसी प्रकार षट्शालादिभवनों में भी एकशाल, द्विशाल, त्रिशाल तथा चतुश्शाल भवनों की पृथक्-पृथक् विधि से पारस्परिक संयोग का विधान है, जिनकी संख्या क्रमशः ४,०९४; १६, ३८४; ६५, ५३६; २, ६२, १४४ तथा १०, ४८, ५७६ है।

**षड्विंश अध्याय : आयादि-निर्णय :**

छब्बीसवें अध्याय की प्रारम्भिक पंक्तियों में 'आयादि-निर्णय' के अन्तर्गत

'सूत्रपात-विधि' अर्थात् भवनारम्भ की शुभाशुभ मास-तिथि के विवेचनानन्तर ध्वज, धूमादि आठ आय, पिशाचादि तीन व्यय, इन्द्रादि तीन अंश, मृगशिरा आदि सत्ताईस (९×३=२७ क्रमशः देवगण, राक्षसगण और मानवगण) नक्षत्र तथा योनि, इस षड्वर्ग की व्याख्या की गई है, जिनका भवन की मान-व्यस्था के साथ-साथ उसके दिक्-सांमुख्य के साथ भी अनिवार्य सम्बन्ध है। ये ज्योतिष-शास्त्र के भी विषय हैं और लग्न-साधन में उपादेय माने जाते हैं। अन्त में मेरु आदि छः छन्दों के विन्यसन-प्रकार आदि का वर्णन किया गया है।

**सप्तविंश अध्याय : सभाष्टक :**

इस अध्याय में नन्दा, भद्रा, जया, पूर्णा, दक्षा, प्रवरा और विदुरा नामक आठ सभा-भवनों का निवेश-विषयक वर्णन उनके वास्तुपद-विन्यास तथा अलिन्द, स्तम्भादि रचनागत वैशिष्ट्य के साथ हुआ है।

**अष्टाविंश अध्याय : गृह-द्रव्य-प्रमाण :**

प्रस्तुत अध्याय में भवन-द्रव्य अर्थात् भवनाङ्गों के अन्तर्गत द्वारों की ऊँचाई, विस्तार आदि का प्रमाण, उदुम्बर (दरवाजे के ऊपर का भरेठा), द्वारों की शाखाओं-रूपशाखा, खल्वशाखा आदि का प्रमाण, तलन्यास-विधि, पद्मक, घटपल्लवक आदि प्रमुख स्तम्भों तथा भूत, तिलक, मण्डल, कुमुद नामक छाद्य आदि का वर्णन किया गया है।

**नवविंश अध्याय : शयनासन-लक्षण :**

इस अध्याय में शयनासन-विधान-विषयक विवेचन हुआ है, जिसे एक वैज्ञानिक-निवेश कहा जा सकता है। शयनासन निर्माणार्थ यहाँ चन्दन, तिनिश आदि प्रशस्त वृक्षों का नामोल्लेख के साथ-साथ राजा, युवराज, मन्त्री, सेनापति तथा अन्य प्रजाओं के शय्या-प्रमाण-अन्तर और एक-दारुजा शय्या को प्रशस्त एवं द्वि-दारुजा या त्रि-दारु-घटिता शय्या को अप्रशस्त बताया गया है। आगे शय्या-आसन-निर्माणार्थ प्रयोज्य काष्ठ को निष्कुट, कोलदृक् आदि छिद्र-षटक्-रहित होना आवश्यक बताते हुए आसन-प्रमाण का वर्णन हुआ है।

**त्रिंश अध्याय : राजगृह :**

प्रस्तुत अध्याय में राजगृह-निवेश के अन्तर्गत, पृथ्वीजय, क्षोणी-विभूषण तथा सर्वतोभद्र आदि निवास-भवनों और क्षोणी-विभूषण, पृथिवी -तिलक एवं प्रतापवर्धन

आदि विलास-भवनों की रचना से सम्बन्धित वर्णन है, जिनमें अलिन्द, स्तम्भ, तल-विन्यास आदि स्थापत्य-विशेषताओं का प्रतिपादन हुआ है।

**एकत्रिंश अध्याय : यन्त्रविधान :**

यह अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जिसमें यन्त्र-विधान, अर्थात् यन्त्र-निर्माण-कला का विस्तारपूर्वक प्रतिपादन हुआ है। प्रारम्भ में यन्त्र की परिभाषा, उसके घटक, तदनन्तर अनेक प्रकार के मनोरञ्जक यन्त्र, क्रीडायन्त्र, द्वारपाल-यन्त्र तथा अन्य विशिष्ट यन्त्रों में व्योमचारी-विहंगम यन्त्र, आकाशवाणी-दारुमय-विमान यन्त्र के अतिरिक्त अन्य बहुविध यन्त्रों-वारियन्त्र, धारा-यन्त्र एवं रथदोला-यन्त्र आदि का वर्णन हुआ है।

**द्वात्रिंश-त्रयस्त्रिंश अध्याय : गजशाला-अश्वशाला :**

इन दोनों अध्यायों में से प्रथम अध्याय में सुभद्रा, नन्दिनी, सुभोगदा आदि छः प्रकार की गजशालाओं के निर्माण का वर्णन उनकी प्राग्रीव (Windows), अलिन्द, निर्व्यूह (Towers) आदि स्थापत्य-विशेषताओं के साथ हुआ है और अन्तिम 'प्रमारिका' नामक गजशाला को अप्रशस्त बताया गया है। द्वितीय अध्याय में अश्वशाला-रचना-विषयक वर्णन है, जिसमें यवस-स्थान, खादन-कोष्ठक आदि उसके प्रमुख निवेशाङ्ग और भेषजागार, अरिष्ट-मन्दिर आदि उपभवन प्रकल्पित हैं।

**चतुस्त्रिंश अध्याय : अप्रयोज्य-प्रयोज्य :**

प्रस्तुत अध्याय में प्रकृति-चित्रण, प्रतिमाएँ, क्रीडाएँ, वन, पुष्प, पादप, पशु-पक्षी आदि भवन-भूषाओं में से किन-किन वस्तुओं से राजाओं, सेनापतियों तथा ब्राह्मणादि वर्णों के घरों को वास्तु-कक्षाओं, सभाओं, देवायतनों, आदि को विभूषित करना चाहिए और किन-किन वस्तुओं से नहीं करना चाहिए, एतत्सम्बन्धी वर्णन है।

**पञ्चत्रिंश अध्याय : शिलान्यास-विधि :**

इस अध्याय में शिलान्यास-कार्य के सम्पादन के लिए शुभ-अयन, पक्ष, तिथ्यादि के साथ-साथ पूर्ण, सम, अविकल आदि प्रथमेष्टकालक्षण, प्रशस्त-अप्रशस्त शिलाएँ, नन्दा, भद्रा आदि चतुर्विध शिलाएँ तथा उन्हें प्रतिष्ठापन करने की विधि एवं मन्त्रादि का उल्लेख हुआ है।

**षट्त्रिंश अध्याय : बलिदान-विधि :**

इस अध्याय का भी सम्बन्ध स्थापत्य-योजना के धार्मिक कृत्य से है। इसमें

मङ्गलादि के निमित्त वास्तु (निर्मित भवन) के मध्य में पुष्प और स्वर्ण-युक्त कलश की स्थापना करने के पश्चात् विभिन्न वास्तु-पदों में भावित देवों और स्थपति विश्वकर्मा के लिए घृत आदि अनेक भोज्य पदार्थों को अर्पित करने का विधान है। इसे अन्य सभी प्रकार के वास्तु-कृत्यों में आवश्यक बताया गया है।

**सप्तत्रिंश अध्याय : कीलक-सूत्रपात :**

'कीलक-सूत्रपात' नामक इस अध्यय में ब्राह्मणादि वर्णों के गृह-निर्माणावसर पर सूत्रपात-विधि में कीलक-निर्माण के लिए खदिर, उदुम्बर, अश्वत्थ, अशोकादि प्रशस्ताप्रशस्त वृक्षों का नामोल्लेख, वर्णानुरूप कीलक-प्रमाण और सूत्र-प्रभेद का कथन हुआ है। इसके अनन्तर कीलक-स्थापन-विधि में ब्रह्मा, बृहस्पति, त्वष्ट्रा-विश्वकर्मा के प्रतिनिधि के रूप में पुरोहित, सांवत्सरिक (ज्योतिषी), स्थपति एवं कर्मकरों की पूजा तथा सूत्रपातोपकरण एवं बलिदान देने का वर्णन है।

**अष्टत्रिंश अध्याय : वास्तु-संस्थान-मातृका :**

प्रस्तुत अध्याय में सम, चतुरश्र, दीर्घ, वृत्त आदि चालीस प्रकार के क्षेत्राकृतियों का उल्लेख करते हुए इनका विनियोग अर्थात् इन विभिन्न आकार वाले क्षेत्र में किन-किन कर्मोपजीवियों का निवास करना अनुकूल है, एतद्विषयक वर्णन है।

**नवत्रिंश अध्याय : द्वार-गुणदोष :**

इस अध्याय में विप्रादि गृहस्थों के गृहों में द्वारों का स्थान, वास्तु-द्वारों और गृह-द्वारों के विभिन्न दिशाभिमुख निवेश के गुण, उत्सङ्ग, हीनबाहु आदि निवेश्य द्वार-भाग, वर्णानुसार तथा राजाओं के भवनों की भूमिका तथा ऊँचाई का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त इसमें अन्य महत्त्वपूर्ण विषय द्वार-वेध का वर्णन है, जिसमें गली, चबूतरे आदि से वेध होने पर विभिन्न अशुभ फलों का आपतित होना बताया गया है।

**चत्वारिंश अध्याय : पीठमान :**

इस अध्याय में देवों तथा मनुष्यों के लिए पीठ-मान का कथन हुआ है। ये पीठ त्रिविध हैं-उत्तम, मध्यम तथा कनीय (अधम)। इनमें से ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के लिए उत्तम पीठ तथा अन्य देवों के लिए मध्यम पीठ के निर्माण आदि का वर्णन है।

**एकचत्वारिंश अध्याय : चय-विधि :**

इस अध्याय में चय-विधि अर्थात् चिनाई के सुविभक्त, सम, चारु, चतुरश्र भेद

तथा असम्भ्रान्त आदि बीस गुणों के साथ-साथ इतने ही अवगुणों का उल्लेख करते हुए चिनाई की विधि क्या है, चिनाई कैसे करनी चाहिए, विशेषत: दीवारों की चिनाई कैसे करनी चाहिए और उनकी परीक्षा किस प्रकार करनी चाहिए आदि सभी विषयों पर प्रौढ़ प्रतिपादन हुआ है।

**द्विचत्वारिंश अध्याय : शान्ति-कर्म-विधि :**

बयालीसवें अध्याय में 'गृह-शान्ति-कर्म-विधि' के अन्तर्गत गृह-निर्माणार्थ चयनित भूमि पर पुनः उसके शुभाशुभ ज्ञानार्थ विविध उपचारों के कर्णिका (फल वाले वृक्ष) की पूजा करके उसकी स्थापना करने और उस पर वायसादि के आरोहण से उत्पन्न दोषों का उल्लेख हुआ है। तदनन्तर भवन-निर्माण में सहायक अङ्गों एवं तत्त्वों- इन्द्रकील, महाकूट, वेदिका तथा लकड़ियों के भङ्ग होने पर उनका फल-कथन करते हुए शान्ति-होम करने का विधान है।

**त्रिचत्वारिंश अध्याय : द्वारभङ्ग-फल :**

इस अध्याय में द्वार के साधक अङ्गों–अर्गला, ऊर्ध्ववंश, पीलिका, तोरण, तुम्बिका, कपाट, वलभी आदि के भङ्ग हो जाने पर आपतित होने वाले फल-कथन के साथ-साथ कतिपय अन्य नूतन कार्यों का भी लक्षणोल्लेख हुआ है, जिनका सम्बन्ध यज्ञ, गृह, ग्राम, पुर तथा पत्तनादि से है।

**चतुश्चत्वारिंश अध्याय : स्थपति-लक्षण :**

इस अध्याय में स्थपति की योग्यता-सम्बन्धी उल्लेख हुआ है, जिसमें उसे शास्त्र, कर्म, प्रज्ञा एवं क्रियान्वितशील (आचरण) इस चतुर्धा स्थापत्य अर्थात् उदाहरण और लक्षण का ज्ञान होना अनिवार्य बताया गया है। इसके अतिरिक्त उसे सामुद्रिक शास्त्र, गणित आदि तथा आलेख्य एवं लेपकर्म आदि अष्टविध कर्म के ज्ञान से सम्पन्न होना भी आवश्यक बताया गया है।

**पञ्चचत्वारिंश अध्याय : अष्टाङ्ग-लक्षण :**

प्रस्तुत अध्याय में, पूर्ववाले अध्याय में वर्णित चतुर्विध स्थापत्य के 'वास्तु-पुरुष-विकल्पना' तथा 'पुरनिवेश' आदि आठ अङ्गों का विवेचन है।

**षट्चत्वारिंश अध्याय : तोरण-भङ्गादिक-शान्तिक :**

इस अध्याय में नूतन, प्राचीन अथवा अर्ध-निर्मित तोरण के गिर जाने आदि या किसी अन्य कारण से नष्ट हो जाने पर उसे अमङ्गल बताते हुए उसकी शांति का विधान

बताने के साथ-साथ नूतन दृढ़ तोरण के निर्माण का निर्देश दिया गया है। इसके अतिरिक्त नवीन या प्राचीन गृहादि में श्वेत, विचित्र-कण्ठ आदि चतुर्विध कपोतों के प्रवेश करने पर दोष का उत्पन्न होना बताते हुए प्रायश्चित का विधान बताया गया है।

**सप्तचत्वारिंश अध्याय : वेदी-लक्षण :**

प्रस्तुत अध्याय में चतुरश्रा, सुभद्रा आदि चार प्रकार की वेदियों के परिमाण, उनके आकार और भिन्न-भिन्न कृत्य विशेषावसर पर उनका प्रयोग बताया गया है।

**अष्टचत्वारिंश अध्याय : गृह-दोष-निरूपण :**

इस अध्याय में गृह-स्थापत्य के अन्तर्गत प्रासादों का उद्गम, रुचक आदि चौबीस प्रकार के चतुरश्र वैराज-प्रासादों; वलय, आदि दश प्रकार के वृत्त कैलास-प्रासादों; भव, आदि दश प्रकार के चतुरश्रायत पुष्पक-प्रासादों; आमोद आदि दश प्रकार के वृत्तायत मणिक-प्रासदों और वज्रक, आदि दश प्रकार के अष्टकोण वाले त्रिविष्ट-प्रासादों का नामोल्लेख के साथ विशेष लक्षणों का कथन हुआ है, जिनमें शिखर,छाद्य एवं स्तम्भ आदि है।

**एकोनपञ्चाश अध्याय : रुचकादि प्रासाद-लक्षण :**

इस अध्याय में प्रासाद-स्थापत्य के अन्तर्गत प्रासादों का उद्गम, रुचक आदि चौबीस प्रकार के चतुरश्र वैराज-प्रासादों; वलय, आदि दश· प्रकार के वृत्त कैलास-प्रासादों; भव आदि दश प्रकार के चतुरश्रायत पुष्पक प्रासादों; आमोद आदि दश प्रकार के वृत्तायत मणिक-प्रासादों और व्रजक, आदि दश प्रकार के अष्टकोण वाले त्रिविष्ट-प्रासादों का नामोल्लेख के साथ विशेष लक्षणों का कथन हुआ है, जिनमें शिखर, छाद्य एवं स्तम्भ आदि हैं।

**पञ्चाश अध्याय : प्रासाद-शुभाशुभ-लक्षण :**

इस अध्याय में प्रासादों के रचनागत गुणावगुणों के आधार पर उनके प्रशस्त एवं अप्रशस्त होने का वर्णन है।

**एकपञ्चाश अध्याय : आयतन-निवेश :**

इक्यावनवें अध्याय में 'आयतन-निवेश' से सम्बन्धित वर्णन है, जो कि सम्भवत: छोटा मन्दिर या छोटा राजप्रासाद है। यहाँ पर राजाओं के आयतनों के चारों ओर निर्मित किये जाने वाले आयतनों के श्रेष्ठ, मध्यम और अधम; तीन भेद बताये गये हैं।

**द्विपञ्चाश अध्याय : प्रासाद-जाति :**

'प्रासाद-जाति' नामक इस अध्याय में पूर्वोक्त वैराज प्रासादों के लक्षण एवं उनकी तीन छोटी शाखाओं और उनके वंश के अन्तर्गत रुचक, श्रीतर आदि प्रासादों का वर्णन हुआ है।

**त्रिपञ्चाश अध्याय : जघन्य-वास्तु-द्वार :**

इस अध्याय में निराधार प्रासाद जघन्य-वास्तु (तिर्यगायत) के प्रमुख अङ्गों, विशेषतः द्वार-मान का कथन हुआ है।

**चतुष्पञ्चाश अध्याय : प्रासाद-द्वार-मानादि :**

इस अध्याय में प्रासाद-स्थापत्य के पृथक्-पृथक् अनेक अवयवों का उल्लेख हुआ है और साथ ही मन्दिर के सहायक अङ्गों- मानादि का भी वर्णन हुआ है।

## द्वितीय भाग

**पञ्चपञ्चाश अध्याय : मेर्वादिषोडश-प्रासादादिलक्षण :**

प्रस्तुत अध्याय में मेरु, कैलास, सर्वतोभद्र आदि सोलह प्रकार के प्रासादों का वर्णन उनके सहायक अङ्गो- गर्भगृहों, गुम्बदों, शिखरों के साथ हुआ है। इसके अतिरिक्त इन प्रासादों के विभिन्न तलों एवं द्वारादि का भी वर्णन किया गया है।

**षट्पञ्चाश अध्याय : रुचकादि चतुष्षष्टि प्रासाद :**

इस अध्याय में रुचकादि चौंसठ प्रासादों (ललित-प्रासाद २५; सान्धार-प्रासाद २५; मिश्रक-प्रासाद १४) की रचना-विधि का वर्णन है। इन प्रासादों का वैशिष्ट्य अण्डक-वर्तना है।

**सप्तपञ्चाश अध्याय : मेर्वादि विंशिका :**

इस अध्याय में मेरु, श्रीधर, हेमकूट आदि बीस प्रकार के प्रासादों का वर्णन उनकी टेढ़ी रेखाओं से निर्मित अधि-रचनाओं, शिखरों आदि के साथ किया गया है।

**अष्टपञ्चाश अध्याय : प्रासाद-स्तवन :**

इस अध्याय में पूर्वोक्त चौंसठ प्रकार के मन्दिरों में हिन्दुओं के प्रमुख देवों और देवियों-त्रिपुरदाह (शिव), जनार्दन (विष्णु), ब्रह्मा, सूर्य, चण्डिका (दुर्गा), विनायक (गणेश) तथा अन्य देवों के लिए भी मन्दिर-निर्माण का उल्लेख हुआ है।

**एकोनषष्टितम अध्याय : विमानादि-चतुष्षष्टिप्रासाद-लक्षण :**

इस अध्याय में विमानादि चौंसठ प्रासादों का विस्तृत वर्णन है, जिसमें प्रायः सभी प्रकार के प्रासादों के प्रधान अङ्गों की रचना, आकार और अधिरचना आदि विशेष हैं। इन प्रासादों में '**लयन**', **और** '**गुहाधर**' नामक प्रासाद उल्लेखनीय हैं। '**पट्टिस**' नामक प्रसाद का निर्माण वस्त्र से (**इदानीं पट्टिसं ब्रूमः प्रासादं वस्त्रसम्भवम्**) तथा मिट्टी अथवा काष्ठ से बताया गया है। अन्य प्रासादों की रचना ईंटों अथवा पत्थरों से बताई गई है।

**षष्टितम अध्याय : श्रीकूटादि-षट्त्रिंशत्प्रासाद-लक्षण :**

प्रस्तुत अध्याय में श्रीकूटादिषट्क, अन्तरिक्षादिषट्क आदि नागर-प्रासादों की निर्माण-शैली का वर्णन है। इन सभी प्रासादों के ज्येष्ठ, मध्यम और कनीय उपभेद होने से कुल एक सौ आठ हो जाते हैं और इनकी स्थापत्य-योजना में मानदण्ड आदि का आंशिक अन्तर होता है।

**एकषष्टितम-द्विषष्टितम अध्याय : पीठपञ्चकलक्षण-द्राविडप्रासादलक्षण :**

इकसठवें अध्याय में, अग्रिम अध्याय में वर्णित द्राविड-प्रासादों के पादबन्धन, स्त्रीबन्धन, वेदिबन्धन आदि पञ्चविध पीठों (वेदियों) और पद्मतल, महापद्म, वर्धमान आदि तलच्छन्दों के निर्माण से सम्बन्धित वर्णन है। अग्रिम अध्याय में एक से बारह तलों वाले द्राविड-प्रासादों की रचना से सम्बन्धित वर्णन है।

**त्रिषष्टितम अध्याय : मेर्वादिविंशिकानागर-प्रासादलक्षण :**

इस अध्याय में मेरु, मन्दर, कैलास आदि बीस प्रकार के प्रासादों का उनके विविध सहायक अङ्गों–शिखर, प्राग्रीव आदि के साथ वर्णन हुआ है। ये प्रासाद एक से सोलह तलों वाले तथा चतुरश्र, अष्टश्र, वर्तुल आदि अनेकविध होते हैं।

**चतुष्षष्टितम अध्याय : दिग्भद्रादि-प्रासाद-लक्षण :**

इस अध्याय में दिग्भद्र, श्रीवत्स, वर्धमान, नन्द्यावर्त, नन्दिवर्धन विमान आदि बारह प्रकार के प्रासादों का वर्णन पीठ, गर्भ, कलश आदि अनेक साधक अङ्गों के साथ हुआ है। इन प्रासादों को '**वावट-प्रासाद**' की संज्ञा दी गई है, जिनका निर्माण नागर-प्रासादों के ही सदृश होता है।

**पञ्चषष्टितम अध्याय : भूमिजप्रासाद-लक्षण :**

इस अध्याय में निषध, मलयाचल, माल्यवान आदि उन्नीस प्रकार के भूमिज-प्रासादों

के स्थापत्य-विषयक वर्णन है। इन्हें तीन वर्गों में रखा गया है, जिनमें से निषधादि चार प्रासाद चतुष्कोण शैली के, कुमुद आदि सात प्रासाद वृक्ष-जाति के और स्वस्तिक आदि आठ प्रासाद शाला-वर्ग के हैं।

**षट्षष्टितम-सप्तषष्टितम अध्याय : मण्डप-लक्षण; सप्तविंशतिमण्डप-लक्षण :**

इन दोनों अध्यायों में दो भागों में भिन्न-भिन्न प्रकार के मण्डपों का वर्णन हुआ है। इनमें से प्रथम अध्याय में भद्र, नन्दन, महेन्द्र आदि मण्डपों के निर्माण से सम्बन्धित वर्णन है, जिनकी रचना मन्दिरों के साथ ही की जाती है। अग्रिम अध्याय में पुष्पक, पुष्पभद्र, सुव्रत आदि सत्ताईस प्रकार के मण्डपों का प्रतिपादन हुआ है।

**अष्टषष्टितम-नवषष्टितम अध्याय : जगत्यङ्गसमुदायाधिकार; जगती-लक्षण :**

'जगती' ढाँचे को ऊपर उठाने की आधारभूत पीठिकाएँ हैं-( **ततस्तदाधरातया जगती पीठिका-मता** ) तथा प्रासाद-भवनों का एक वर्ग भी है। वे वस्तुतः प्रासादों की पीठिकाएँ या नीचे की चौकी नहीं है अपितु वे एक प्रकार के स्वतन्त्र रचनाएँ हैं, जिनका सम्बन्ध प्रासादों के बीच के पुनीत-स्थल से है। उनहत्तरवें अध्याय में वसुधा, वसुधारा, आदि उनतालीस प्रकार की जगतियों का नामोल्लेख के साथ उनकी रचना का वर्णन है।

आगे सत्तरवें अध्याय से लेकर तिरासिवें अध्याय तक प्रतिमा-रचना-विधि के साथ-साथ बीच-बीच में चित्र-रचना-विधि की भी व्याख्या की गई है।

**सप्ततितम अध्याय : लिङ्गपीठप्रतिमा-लक्षण :**

सत्तरवें अध्याय में अनेक प्रकार के लिङ्गों के निर्माण-हेतु भिन्न-भिन्न वस्तुओं-लौह, काष्ठ, पत्थर तथा मृत्तिका के आधार पर उनका भिन्न-भिन्न परिमाण और प्रतिफल बताया गया है। इसके अतिरिक्त इस अध्याय में भिन्न-भिन्न पीठिकाओं आदि का भी विस्तृत वर्णन किया गया है।

**एकसप्ततितम अध्याय : चित्रोद्देश :**

इस अध्याय में चित्रकला-सम्बन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्तों का निरूपण हुआ है। इस अध्याय में चित्राङ्कन के लिए तीन प्रकर की पीठिकाओं- भित्तियों, पटों (वस्त्रों) एवं पट्टों का उल्लेख हुआ है। इसके अतिरिक्त चित्रकला-सम्बन्धी अन्य उल्लेखनीय विषयों में चित्रकला के आठ आवश्यक (सारभूत) अङ्गों-वर्तिका, भूमिबन्ध, लेख्य एवं रेखा आदि का उल्लेख हुआ है।

**द्विसप्ततितम अध्याय : भूमिबन्ध :**

इस अध्याय के प्रारम्भ में वर्तिका-निर्माण-क्रिया के अन्तर्गत भिन्न-भिन्न उपयुक्त स्थानों से मिट्टी को एकत्रित करने और उससे वर्तिका-निर्माण का वर्णन है, तदनन्तर प्रमुखतया भूमि-बन्ध अर्थात् भित्तितल के बाह्यतल को विभिन्न प्रकार की तूलिकाओं (Brush) से एक विशेष प्रकार के प्रलेप-द्वारा बनाने की विधि बताई गई है। यहाँ पर इस प्रलेप की उपादान सामग्रियों और उसे बनाने की विधि आदि का भी वर्णन है।

**त्रिसप्ततितम अध्याय : लेप्यकर्मादि :**

इस अध्याय में भी लेप्यों (प्रलेपों) तथा तूलिका की निर्माण-विधि का वर्णन है, जिसमें प्रलेपों को बनाने के लिए भिन्न-भिन्न स्थानों एवं ब्राह्मणादि वर्णों के लिए भिन्न-भिन्न रङ्गों वाली मिट्टी को एकत्रित करने, तदनन्तर उसमें शल्मली, ककुभ, मधूक आदि के रस तथा अन्य विविध प्रकार की उपादान सामग्रियों के सम्मिश्रण से प्रलेप की निर्माण-विधि का वर्णन है। आगे कूर्चनक, हस्तकूर्चक, भासकूर्च आदि पाँच प्रकार की तूलिकाओं के निर्माण-हेतु उनकी उपादान सामग्री एवं उनकी आकृतियों आदि का वर्णन है।

**चतुस्सप्ततितम अध्याय : अण्डक-प्रमाण :**

इस अध्याय में प्रमुख रूप से तीन प्रकार के अण्डकों- मुखाण्डक, वृत्ताण्डक और अलसाण्डक का वर्णन है, जो कि चित्रकला की प्रतिरूपता (प्रमाणरूपता) है। ये सभी प्रकार के अण्डक, पुरुष, वनिता, शिशु, देव, राक्षस आदि प्रत्येक प्रकार की चित्रकला के अनुकूल हैं।

**पञ्चसप्ततितम अध्याय : मानोत्पत्ति :**

इस अध्याय के आरम्भ में परमाणु, लिक्षा, यव आदि मानों के उल्लेखानन्तर देवों और असुरों आदि के शरीर का निर्णय किया गया है। यहाँ पर देवों, मनुष्यों, राक्षसों के साथ-साथ पशु-पक्षियों के पृथक्-पृथक् भेदों का भी उल्लेख हुआ है। यथा-**भद्रो मन्दो मृगो मिश्र इति हस्ती चतुर्विधः।**

**षट्सप्ततितम अध्याय : प्रतिमा-लक्षण :**

छियत्तरवें अध्याय में प्रतिमाओं की विलक्षणताओं का वर्णन है। प्रारम्भ में देवी-देवताओं के प्रतिमा-निर्माण में प्रयुक्त होने वाली वस्तुओं- स्वर्ण, ताम्र, रजत, पत्थर, काष्ठ, लेप्य (मिट्टी) तथा इनके पृथक्-पृथक् भेदों का उल्लेख हुआ है, तदनन्तर प्रतिमाओं के विभिन्न अङ्गों- नेत्र, श्रवण, अङ्गुल आदि के प्रमाण आदि का विवरण दिया गया है।

**सप्तसप्ततितम अध्याय : देवादिरूपप्रहरण-संयोग-लक्षण :**

प्रस्तुत अध्याय में ब्रह्मा, शङ्कर आदि देवों, अर्द्धदेवों तथा लक्ष्मी, कौशिकी आदि देवियों की आकृतियों के भिन्न-भिन्न अङ्गों एवं उनके अस्त्र-शस्त्र आदि की रचना किस प्रकार करनी चाहिए, उनकी रचना में कौन से रङ्गों का प्रयोग वाञ्छनीय है, इत्यादि बातों का विशद वर्णन है।

**अष्टसप्ततितम अध्याय : दोषगुण-निरूपण :**

इस अध्याय में प्रतिमा-रचना में अज्ञानवश अथवा प्रमादवश होने वाले प्रत्यङ्गहीन, विकट, वक्र आदि अनेक दोषों का उल्लेख करते हुए उनसे आपतित फलों का उल्लेख किया गया है।

**नवसप्ततितम-अशीतितम अध्याय : ऋज्वादिगतस्थानलक्षण; वैष्णवस्थानक-लक्षण :**

इन दोनों अध्यायों में से प्रथम अध्याय में देवों के शरीरों के ऋज्वागत एवं पार्श्वगत आदि नौ अवस्थाओं का वर्णन है। इनमें से एक से पाँच तक की अवस्थाएँ प्रमुख हैं और छः से नौ तक इनकी आन्तरिक स्थितियाँ हैं। अग्रिम अध्याय में वैष्णव, समपाद, वैशाख आदि स्थानक स्त्री-मूर्त्तियों के पैरों की स्थिति से सम्बन्धित वर्णन है।

**एकाशीतितम अध्याय : पञ्चपुरुष-स्त्रीलक्षण :**

इस अध्याय में देवों और देवियों की प्रतिमाओं के पाँच-पाँच मानक अनुपातों (पुरुष-अनुपात- हँस, शश, रुचक, भद्र, मालव्य क्रमशः ८८, ९०, ९२, ९४, ९६ अङ्गुल; स्त्री-अनुपात- दण्डिनी, वृत्ता, पौरुषी आदि) का उल्लेख करते हुए पुरुष-प्रतिमा के समस्त अङ्गों का परिमाण बताया गया है।

**द्व्यशीतितम अध्याय : रसदृष्टि-लक्षण :**

इस अध्याय में श्रृङ्गार, हास्य, करुण, रौद्र, प्रेय आदि ग्यारह रसों के लक्षण तथा रस-दृष्टि का प्रतिपादन हुआ है, जो कि इन उपर्युक्त सभी प्रमुख रसों के सहायक (उपाङ्ग) है। इनका चित्र-निर्माण से आन्तरिक सम्बन्ध है।

**त्र्यशीतितम अध्याय : पताकादि चतुष्षष्टिहस्तलक्षण :**

तिरासिवें अध्याय में पताका, त्रिपताका कर्तरीमुख आदि चौबीस प्रकार की भिन्न-भिन्न हस्त-मुद्राओं का विनियोग-योग-विभाग से विस्तृत वर्णन हुआ है।

**अपराजितपृच्छा**

अपराजितपृच्छा स्थापत्यविज्ञान का एक अन्य ग्रन्थ है, जिसे भारतीय स्थापत्य-कला, मूर्तिकला एवं चित्रकला का प्रतिनिधि ग्रन्थ कहा जा सकता है। यह वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में लब्धप्रतिष्ठ ग्रन्थ है। इसमें गुजरात में प्रचलित शिल्प-परम्परा के समुचित सङ्कलन के साथ-साथ भारतीय स्थापत्य का व्यापक उद्देश्य तथा कला के आधारभूत तत्त्वों एवं ज्योतिर्विज्ञान की गाम्भीर्य-पूर्ण चर्चा अत्यन्त आत्मीयता के साथ की गई है।

इस ग्रन्थ का शीर्षक '**अपराजितपृच्छा**' है, जिसका शाब्दिक अर्थ '**अपराजित के द्वारा पूछा हुआ**' है। अपराजित, विश्वकर्मा के चार मानस-सुतों (जय, विजय, सिद्धार्थ और अपराजित) में कनिष्ठ मानस-पुत्र है। जहाँ प्रश्न है, वहाँ इसका उत्तर भी है। प्रश्न और उनका उत्तर भारतीय शिक्षण-विधि में परम्परागत शास्त्रीय विधान है। प्रश्न एक योग्य पुत्र के द्वारा किये गये हैं और उत्तर भी एक प्रख्यात स्थपति विश्वकर्मा द्वारा दिये गये हैं, जो कि स्थापत्य-विज्ञान का एक प्रमुख ज्ञाता माना जाता है। इस प्रकार इस ग्रन्थ का शीर्षक चरितार्थ है। यहाँ पर प्रथम शीर्षक का अर्थ बताया गया है परन्तु इसके अतिरिक्त इस कृति को '**सूत्रसन्तानगुणकीर्तिप्रकाश**' या '**सूत्र-सन्तान**' भी कहा गया है और प्रत्येक अध्याय के अन्त में '**इतिसूत्रसन्तानगुणकीर्तिप्रकाश-प्रोक्तृश्रीभुवनदेवाचार्योक्तापराजितपृच्छायाम्**' यह वाक्य दिया गया है। यह वाक्य इस ग्रन्थ के द्वितीय शीर्षक तथा प्रसङ्गवश शास्त्र के प्रणेता के सम्बन्ध का सङ्केत करता है, जिसे '**श्रीभुवनदेवाचार्य**' कहा गया है, जो कि सम्भवतः विश्वकर्मा ही है। 'सूत्र का अर्थ '**डोरी**' है जो किसी स्थापत्य-योजना तथा निर्माण-कार्य में आद्य आवश्यक साधन है और प्रत्येक स्थापत्य-कार्य में निरंतर प्रयोज्य वस्तु है। अतः ग्रन्थ का शीर्षक सार्थक है-

"सूत्राणां सन्तानेन यो गुणो यश्च कीर्तिप्रकाशः (लभ्येते) तौ स्तो यस्मिन् ग्रन्थे सः अथवा सूत्राणां यः सन्तानः (विस्तारः) यश्च गुणस्ताभ्यां यः कीर्तिप्रकाशः सोऽस्ति यस्मिन् ग्रन्थे सः।"

जहाँ तक अपराजितपृच्छा की रचना-काल का विषय है, यह अनिश्चित है तथापि इसका रचनाकाल १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और १३ वीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध एवं समराङ्गणसूत्रधार के पश्चात् माना जा सकता है। क्योंकि इसके बहुत से पद्य समराङ्गणसूत्रधार से यथावत् उद्धृत हैं। जिस प्रकार इसके अनेक पद्य सूत्रधारमण्डन में शब्दशः प्राप्त होते हैं, उसी प्रकार समराङ्गणसूत्रधार के अनेक पद्य इसमें यथावत् उपलब्ध होते हैं। शिल्परत्न भी इसी श्रेणी में आता है क्योंकि वह भी 'मयमत' का ऋणी है। इसकी पुष्टि इन ग्रन्थों मे प्रदत्त वास्तुलक्षण से होती है।

इस ग्रन्थ का नाम और लेखक अभी भी अनुसन्धेय बने हुए हैं। जिस प्रकार श्रीभुवनदेवाचार्य विख्यात स्थपति विश्वकर्मा का परिचायक है, वैसे ही अपराजित किसी भारतीय शासक का नाम रहा हो और सम्भव है उसके नाम पर इस ग्रन्थ का नामकरण किया गया हो। इस दृष्टि से सन् ६६१ ई० से लेकर ११६१ ई० तक भारत के विभिन्न भागों में ऐसे चार नरेश हुए हैं, जो अपराजित के नाम से प्रसिद्ध थे।[१] अतः सम्भव है कि इन चारों नरेशों मे से किसी एक की आज्ञा से इस ग्रन्थ का प्रणयन हुआ हो।

अपराजितपृच्छा की समराङ्गणसूत्रधार के साथ समीक्षात्मक तुलना से स्पष्ट है कि इस ग्रन्थ की रचना समराङ्गणसूत्रधार के बाद में हुई है और समराङ्गणसूत्रधार के रचयिता धारा नगरी के राजा भोजदेव का समय ११वीं शताब्दी माना जाता है, अतः अपराजितपृच्छा का रचना-काल १२ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध निश्चित होता है, जिसका सम्बन्ध राजा अपराजित (चतुर्थः मूलदेव का पुत्र) के साथ जोड़ा जा सकता है। श्री पी०ए० मनकड भी इन दोनों ग्रन्थों (समराङ्गणसूत्रधर एवं अपराजितपृच्छा) के तुलनात्मक अध्ययन करने के पश्चात् इसी निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि अपराजितपृच्छा ग्रन्थ की रचना समराङ्गणसूत्रधार के अनन्तर हुई है और यही बहुमान्य तिथि है।

**प्रथम सूत्र : विषय वस्तु :**

यहाँ पर अपराजितपृच्छा ग्रन्थ के उद्‌गम तथा उसके अभिप्राय को दर्शाया गया है। प्रथम सूत्र में गन्धमादन पर्वत का लेखाचित्रीय वर्णन किया गया है, जहाँ पर ८१ ऋषि तपस्या कर रहे थे, उसी पवित्र स्थल में विश्वकर्मा ने अपनी कुटी का निर्माण किया।

तदनन्तर अपराजित-द्वारा अपने पिता विश्वकर्मा को प्रणाम करने और सूत्र-शास्त्र (स्थापत्य-शास्त्र) के सम्बन्ध में प्रश्न पूछने की आज्ञा-प्राप्ति का उल्लेख हुआ है। द्वितीय सूत्र में योग्य-सूत्र अपराजित द्वारा अपने पिता से निरन्तर स्थपति और सूत्रधार आदि के विषय में प्रश्न पूछने (जैसे समराङ्गणसूत्रधार के तृतीय अध्याय में सबसे ज्येष्ठ पुत्र जय ने वास्तुशास्त्र-विषयक प्रश्न किये थे) और वास्तुलक्षण के अन्तर्गत विस्तृत ज्ञान प्राप्त करने का वर्णन हुआ है।

**तृतीय-चतुर्थ-पञ्चम-षष्ठ सूत्र : सृष्टि :**

प्रस्तुत सूत्रों में ब्रह्माण्ड-विषयक वर्णन किया गया है। यहाँ पर तल, वितल और सुतल नामक तीन पाताल लोकों; जम्बू, प्लक्ष आदि सात द्वीपों और क्षार, क्षीर, दधि

---

१. वास्तुशास्त्र, भाग १, हिन्दू साइन्स् ऑफ् आर्किटेक्चर, पृष्ठ १५४

आदि सात सागरों का उल्लेख हुआ है। इसी प्रकार मेरु, मन्दर, आदि नौ कुलाचलों एवं महेन्द्र, मलय, सह्य, सिन्ध्य, आदि सोलह कुलशैल वनों (वनाच्छादित पर्वतों) का भी उल्लेख हुआ है।

पञ्चम अध्याय में भुव, स्व, मह, जन, तप, सत्य, ज्ञान (ऋत) नामक स्वर्गलोकों (ऊपर के सात लोकों) और काञ्चनसभा, स्फटिकनीरमला आदि सात प्रकार की मालिकाओं का वर्णन किया गया है, जहाँ पर ब्रह्मतेज रहता है। इसके साथ ही प्रारम्भिक प्रकृति, जिनके गुणों से इसका अस्तित्व बना रहता है, उन सत्त्व, रज एवं तम तथा इनके कार्य करने के सामर्थ्य का भी वर्णन हुआ है। छठे सूत्र में दिति, आसुरी आदि ऊपर के अष्टविध शक्तियाँ, जिनसे सृष्टि को शक्ति की प्राप्ति होती है, उनका वर्णन किया गया है।

**सप्तम-अष्टम-नवम-सूत्र :**

इन सूत्रों में 'सृष्टिसंसारावतरणम्' शीर्षक के अन्तर्गत सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया गया है, जिसमें कश्यप और उनकी पाँच पुत्रियों, सात प्रकार के पाताललोक, उनके राजाओं, वहाँ के निवासियों और उनके अलग-अलग राजाओं, सात प्रकार के महाद्वीपों उनमें स्थित देशों, निवासियों और राजाओं आदि का विस्तृत वर्णन किया गया है। यहाँ पर संयोग से स्वर्ग में रहने वाले गन्धर्वों, विद्याधरों और यक्षों आदि के आवासों का भी उल्लेख हुआ है। इसके आगे सात प्रकार के लोकों तथा अत्युन्नत मेरु-पर्वत का वर्णन किया गया है।

**दशम सूत्र :**

इस सूत्र में विभिन्न प्राणियों के साथ-साथ मर्त्यलोक का वर्णन किया गया है, जहाँ आगमदर्शन के साथ तंत्र-दर्शन का भी उल्लेख हुआ है, जिसका आधार सम्भव-दर्शन है। इससे यह विदित होता है कि अपराजित आगम और पुराण, दोनों को मानने वाला था।

**एकादश से एकविंश सूत्र :**

इन सूत्रों में ग्रहों-उपग्रहों और उनसे पड़ने वाले प्रभाव के विषय में विस्तृत जानकारी दी गई है। यहाँ पर समय तथा उसकी विभिन्न शाखाओं-तिथि, काल, कृष्णपक्ष एवं शुक्लपक्ष, मास, ऋतुएँ, वर्ष, युग, मन्वन्तर तथा कल्पादि का वर्णन हुआ है। कल्प के अन्त में देव स्वयं पाँच लिङ्गों में या पाँच भूतों में लीन हो जाते हैं और कल्पान्त में इन पाँच लिङ्गों का अस्तित्व बना रहता है जिनसे सृष्टि की उत्पत्ति मानी गई है।

**लीयन्ते सर्वदेवाश्च कल्पान्ते लिङ्गमध्यगा:।**
**कल्पन्ततोऽक्षयं लिङ्गम्..................................।।**
**द्वीपे-द्वीपे पुनस्त्वेवम्.........................................।**
**तेभ्यो जाता पुनस्सृष्टिर्जगत्स्थावरजङ्मम्।।**

**द्वाविंश से द्वात्रिंश सूत्र :**

बाईसवें सूत्र में पाँच लिङ्गों से सम्पूर्ण सृष्टि की उत्पत्ति बताई गई है। तेईसवें सूत्र से लेकर उनतीसवें सूत्र तक विष्णु के दस अवतारों का वर्णन किया गया है और उन्हीं से संसार का आविर्भाव माना गया है। इस सृष्टि की उत्पत्ति और विकास आदि के महत्त्वपूर्ण परिचय के पश्चात् महान् गवेषक अपराजित, विष्णु से (जो अपनी इच्छानुसार गन्धमादन पर्वत पर आते हैं) कहता है कि वह उनके द्वारा शरीर धारण करने के रहस्य को जानता है परन्तु त्वष्ट्रा का जन्म कब और कैसे हुआ? इससे वह अनभिज्ञ है। इसके पश्चात् विष्णु ने जो उत्तर दिया, उसका उल्लेख तीसवें सूत्र में हुआ है। इसी प्रकार इक्तीसवें और बत्तीसवें सूत्र में चार मानस-सुतों के साथ विश्वकर्मा का अवतरण एवं यथास्थान उससे सम्बन्धित प्रश्नों के उत्तर का विस्तृत विवरण दिया गया है। यहाँ पर क्रमश: पृथ्वी की निर्माण-योजना का विषय-वस्तु, जो एक योजना-बद्ध रूप में प्रस्तुत हुआ है, उसे '**वास्तु**' कहा गया है, जिसे सुविधा की दृष्टि से अधोलिखित उपखण्डों में विभाजित किया गया है।

**त्रयस्त्रिंश-चतुस्त्रिंश सूत्र : ग्रन्थ का वास्तविक उद्देश्य :**

तैंतीसवें सूत्र में योजना-बद्ध कार्य और उसके त्रिविध रूप का उल्लेख किया गया है, प्रथम-पृथ्वी, जो कि आधार रूप है। द्वितीय-महाराज पृथु, जो कि संरक्षण प्रदान करने वाला राजा है और तृतीय- योजना बनाने वाला शिल्पी- विश्वकर्मा। चौंतीसवें सूत्र में विश्वकर्मा के चार मानस सुतों-जय, विजय, सिद्धार्थ और अपराजित के विभिन्न प्रश्नों का उल्लेख हुआ है।

**पञ्चत्रिंश-षट्त्रिंश सूत्र :**

इन सूत्रों में भूमि, पाताललोक, महाद्वीपों, सागरों, लोकों और पर्वत आदि तथा उनके परिमाण, सीमाएँ, वहाँ के लोगों की विशेषताएँ एवं देश आदि का वर्णन किया गया है।

इन उपर्युक्त सूत्रों में से पैंतीसवें सूत्र के प्रारम्भिक पद्यों में विश्वकर्मा द्वारा पृथिवी के हवाई सर्वेक्षण का स्पष्ट रूप से उल्लेख हुआ है।

**पुष्पकं तु समारुह्य मेरुमाश्रित्य दक्षिणम्।**
**विलोकिता भूतधात्री समुद्रान्ता च मेदिनी।।**

जिस प्रकार आधुनिक समय में प्रमुख नगरों या बड़े औद्योगिक नगरों के निवेश-हेतु सर्वेक्षण किया जाता है, उसी प्रकार सम्भवतः हमारे प्राचीन आचार्यों / वैज्ञानिकों ने भी विस्तृत पदार्थों को छोटे-छोटे अंशों में मापने के लिए तत्कालीन विलक्षण तकनीकी यन्त्रों का प्रयोग किया होगा। जैसे-पर्वतों से युक्त पृथ्वी, सागर और देश आदि।

**सप्तत्रिंश-अष्टत्रिंश सूत्र :**

सैंतीसवें सूत्र में विश्वकर्मा-द्वारा पृथिवी का सर्वेक्षण करने के पश्चात् उसे पृथक्-पृथक् नौ खण्डों में विभक्त करने का उल्लेख हुआ है। इसके आगे अड़तीसवें सूत्र में जिस पवित्र भूमि का वर्णन किया गया है उसका सम्बन्ध हमसे है अर्थात् इसमें भारतवर्ष, इसका क्षेत्र, ग्रामादि के रूप में उसे व्यवस्थित करना तथा राज्यों एवं राजाओं के विषय में चर्चा की गई है। इसके अनन्तर महावन-(घने जङ्गलों एवं पर्वतों से युक्त), उपवन-(छोटे जाङ्गल, जो लोगों के निवास-स्थान के समीप होते हैं) और कानन-(मानव-कृत उद्यान) आदि के विषय में वर्णन किया गया है।

**नवत्रिंश-चत्वारिंशसूत्र : वास्तविक कार्य की प्राथमिकताएँ :**

उनतालीसवें सूत्र में स्थापत्य-योजना को और अधिक गति प्रदान की गई है, जिसे '**दार्वाहरण**' कहा गया है अर्थात् यहाँ पर वन में जाकर गृहादि के निर्माण के लिए शास्त्र-निर्दिष्ट विशिष्ट लकड़ियों को लाने का वर्णन किया गया है। चालीसवें सूत्र में प्रसङ्गवश लिङ्ग आदि मूर्ति बनाने के उद्देश्य से पत्थरों को एकत्र करने का वर्णन है।

**एकचत्वारिंश सूत्र : माप के सिद्धान्त :**

इक्तालीसवें सूत्र में मान-विषयक वर्णन किया गया है। यहाँ पर भी अन्य वास्तु-शास्त्रीय ग्रन्थों में उल्लिखित मान-साधन की इकाईयों के ही समान परमाणु, केशाग्र तथा लिक्षा आदि का उल्लेख हुआ है।

**भास्करोदयनाद् दिष्टः किरणैश्च प्रकाशितः।**
**जलान्तरगते रश्मौ सूक्ष्मरेणवष्टमांशकः।**
**परमाणुः प्रमाणं समुद्दिष्टं समन्ततः।**
**परमाणुरष्टगुणमेकत्र पिण्डलक्षणम्।।**
**रजोभिरष्टगुणितं केशाग्रं च प्रसिद्ध्यति।**

**केशाग्रैरष्टगुणितैर्लिक्षाक्रमं तु योजयेत्।।**
**केशाग्रैश्चाष्टगुणितैर्लिक्षा चैका तु सिद्ध्यति।**
**लिक्षाभिरष्टभियूका यूकाभिश्चाष्टभियवः।।**

–सूत्र ४१.३-६

मापन के मूल में यवमान प्रधान होता है–जिसके आधार पर अङ्गुलमाप प्राप्त होता है। ग्रन्थकार ने आगे त्रिविध अङ्गालमाप–ज्येष्ठ, मध्यम एवं कनिष्ठ का विवेचन किया है, जो आठ, सात, एवं छः यवों से निर्मित होते हैं।

**द्विचत्वारिंश से सप्तचत्वारिंश सूत्र :**

बयालीसवें सूत्र से लेकर सैंतालीसवें सूत्र तक खगोल-विद्या- ज्योतिष-विद्या एवं गणित-सम्बन्धी विषयों का वर्णन किया गया है।

**अष्टचत्वारिंश सूत्र :**

इस सूत्र में भूमि की परीक्षा, भूमि का चयन और इनसे सम्बन्धित अन्य धार्मिक कृत्याङ्गों के रूप में वास्तुपूजा तथा आचार्य-पूजा आदि का वर्णन हुआ है।

**नवचत्वारिंश-पञ्चाश सूत्र :**

प्रस्तुत सूत्रों में क्रमशः स्थपति का विवरण तथा उसकी योग्यता-विषयक चर्चा की गई है, जिसमें उसे शास्त्रज्ञ, कुशल, महाप्राज्ञ, वार्तालाप में मधुर या मधरुभाषी, ज्ञानचक्षु से युक्त, सुहृदय, हस्तलाघव (हाथ की कुशलता) से सम्पन्न, घाट्यचित्रादि के चित्रण में कुशल और ज्योतिषविज्ञ होना आवश्यक बताया गया है।

**एकपञ्चाश-द्विपञ्चाश सूत्र :**

इन सूत्रों में '**कीलकारोपण**' तथा '**कूर्मप्रतिष्ठा**' के अन्तर्गत 'भू-परिग्रह' अर्थात् खात-परीक्षण के द्वारा भूमि की उपयुक्तता आदि का निश्चय करना और '**प्लव-विचार**' अर्थात् भूमि के ढलाव या झुकाव के आधार पर भिन्न-भिन्न मङ्गलामङ्गलप्रद फलों तथा वानस्पतिक वातावरण अर्थात्, आक, अशोक, अश्वत्थ, अनार आदि विशेष प्रकार वृक्षों के गृह-प्रासाद के विभिन्न भागों में होने पर प्राप्त होने वाले शुभाशुभ फलों के विषय में वर्णन किया गया है। इसके साथ ही भूमि (मिट्टी) के विभिन्न रङ्गों, उसकी गंध तथा स्वाद के आधार पर उसे ब्राह्मणी या विप्रा तथा क्षत्रिया या राज्ञी आदि संज्ञा प्रदान करने का उल्लेख हुआ है।

**त्रिपञ्चाश से द्विषष्टितम-सूत्र : वास्तुपदविन्यास :**

इन सूत्रों में निवेश्य भूमि को विभिन्न पदों में विभाजित करने तथा वास्तुपुरुष-विकल्पन आदि का वर्णन किया गया है। यहाँ पर वास्तुपदों के भेद अथवा निवेश्य भूमि का विभाजन स्वस्तिक, पुष्पक, नन्द, षोडशाक्ष, कुलतिलक, सुभद्र, मरीचिगण, भद्रक, कामद, भद्र एवं सर्वतोभद्र नामक हैं, जिनमें पदों की संख्या एक से लेकर एक हजार पर्यन्त है। इसके साथ ही इन विविध पद वाले वास्तुओं में से किसका प्रयोग कहां-कहां करना चाहिए, अर्थात् भवन, राजगेह, ग्राम, खेट और पुर आदि के निवेश में निवेश्य भूमि का विभाजन कितने पदों में होना चाहिए, इत्यादि विषयों का सविस्तार विवेचन हुआ है। आगे विभिन्न पदों का भोग करने वाले देवों और वास्तु-भूमि के मर्म-उपमर्म-स्थानों का भी उल्लेख है।

**त्रिष्षष्टितम से षट्षष्टितम सूत्र :**

तिरसठवें सूत्र में **'सूत्रपातविधि'** अर्थात् भूम्यारम्भ, शिलान्यास, भवन, प्रासाद तथा पुरनिवेश के कार्य प्रारम्भ करने के लिए शुभ मास तथा तिथि आदि एवं भवनादि की अनिवार्य परम्परा **'दिक्-सांमुख्य'** या दिशा के निर्धारण के लिए शङ्कु-स्थापन की प्रक्रिया की चर्चा की गई है। अग्रिम सूत्रों में मङ्गलदायक तिथि आदि के निर्धारण के लिए आयादि विचार (आय, व्यय, अंश, ऋक्ष, योनि तथा वार-तिथि) का वर्णन किया गया है।

**सप्तषष्टितम-अष्टषष्टितम सूत्र : भवन-प्रारूप एवं आकृति का निर्धारण :**

इन अध्यायों में छन्दनिर्णय-मेरु, खण्डमेरु, पताका, सूचिका, उद्दिष्ट और नष्ट नामक छः छन्दों का सविस्तार वर्णन हुआ है।

**मेरुश्च खण्डमेरुश्च पताका सूचिता तथा।**
**उद्दिष्टं नष्टमित्युक्ताश्छन्दाः षड्बुधसम्मिताः।।**

–सूत्र ६८.३

**नवषष्टितम सूत्र :**

प्रस्तुत सूत्र में साधारण भवनोत्पत्ति तथा हर्म्य एवं शाला आदि विभिन्न प्रकार के भवनों के विषय में वर्णन किया गया है। इसके आगे माड, मौड, शुद्ध, शिखर, तुङ्गार और सिंह भेद से छः प्रकार के राजवेश्म एवं विभिन्न प्रकार के मालिका-वर्गीय राजवेश्मों का वर्णन हुआ है जिनकी रचना भिन्न-भिन्न प्रकार से होती है।

**सप्तति से पञ्चसप्तति सूत्र : नगरनिवेश :**

इन सूत्रों में सुरक्षा-व्यवसथा (दुर्गबन्दी आदि), नगरदेव-देवियों की स्थान-व्यवस्था, ब्राह्मणादि के आवासीय भवनों एवं क्रय-विक्रय-युक्त-भवनों अर्थात् पृथक्-पृथक् व्यवसाय करने वाले जनों, जैसे– सुनार, गन्धी (सुगन्ध बेचने वालों), पान, फल, फूलमाला, लोहे के समान, शस्त्र, पंखे, मोरपंख एवं वस्त्रादि बेचने वालों के भवनों की निवेश-व्यवस्था और नगर-प्राकार में सूर्ययन्त्र, भैरवयन्त्र गौरी यन्त्र, महिषासुरयन्त्र, वराहयन्त्र आदि विभिन्न सुरक्षा-यन्त्रों को स्थापित करने की परिचर्चा है। तिहत्तरवें सूत्र में माहेन्द्र, सर्वतोभद्र, सिंहावलोकन, वारुण, नन्द्यावर्त नन्दाख्य, पुष्पक, स्वस्तिक, पार्श्वदण्ड, जयन्त, श्रीपुर, रिपुमर्दन, स्नाह आदि बीस प्रकार के नगर, उसके विभिन्न आकार; अग्निद, वायव, शकट, युग्मशकट, वज्र, त्रिशूल और कर्णिक नामक सात प्रकार के गर्हित नगर और उनकी पृथक्-पृथक् आकृति का विवेचन किया गया है। इसके आगे नगर में बनाये जाने वाले उद्यानों, कूट एवं खेटादि ग्रामों, जल-सञ्चय-हेतु श्रीमुख, विजय, प्रान्त, दुन्दुभि, मनोहर, चूड़ामणि, दिग्भद्र, जय, नन्द एवं शङ्कर संज्ञक दस प्रकार के कूपों; नन्दा, भद्रा, जया और विजया नामक चार प्रकार की वापियों एवं उनका रचनाकार तथा छः प्रकार के तालाब आदि का वर्णन किया गया है।

**षट्सप्तति से एकाशीतितम सूत्र : राजप्रासाद स्थापत्य एवं उसकी सहायक रचनाएँ :**

छिहत्तरवें सूत्र में राजप्रासाद तथा उसके अन्य अङ्गों के निवेश-हेतु साधारण योजना की प्रस्तुति है अर्थात् विभिन्न देव-पदों में राजवेश्म के विभिन्न अङ्गों या विविध कक्षादि का स्थान-निर्धारण किया गया है। सतहत्तरवें तथा अठत्तरवें सूत्रों में नन्द आदि अष्टविध सभाओं और स्वस्तिका आदि चार प्रकार की वेदियों एवं सभा-भवनों में राजा के स्थान का उल्लेख किया गया है। इसके आगे उन्यासीवें सूत्र में दण्डिनी आदि गजशालाएँ एवं छः प्रकार के हाथी और उनकी भद्रादि जातियों का वर्णन है। इसके साथ ही अष्टविध वन जहाँ हाथियों को रखा जाता है और हाथियों की तुलना करने के लिए चार प्रकार की मात्राओं का उल्लेख हुआ है। अस्सीवें सूत्र में अश्वों और अश्वशाला के प्रमाणादि का वर्णन किया गया है। इक्यासीवें सूत्र मे राजाओं के राजाधिकार के आधार पर भिन्न-भिन्न राजालय-मान और उनके सोपन तथा सिंहद्वार आदि का विस्तार से वर्णन है। जैसे–

**एकच्छत्रप्रभोक्ता यः स भवेच्च महीपतिः।।**
**अष्टोत्तरशतहस्तै कार्यं भवनमुत्तमम्।**
**पृथिव्याश्च तथा भुङ्क्तेऽर्धं परमेव च।।**
**तस्य वेश्म प्रकर्त्तव्यं शतं हीनकरद्वयम्।**
**तथा महीत्रिभागं य भुङ्क्ते यो वै नराधिपः।।**

सूत्र-८१.१-३

**द्व्यशीतितम से पञ्चाशीतितम सूत्र :**

बयासीवें तथा तिरासीवें सूत्र में राजप्रासाद की वास्तु-योजना और द्वारों, प्रतोलियों के प्रमाण, उनकी रचना-विधि एवं प्रतोली की सहायक रचना वक्त्रद्वार के निर्माण का विशद वर्णन है। इसके आगे चौरासीवें एवं पच्चासीवें सूत्रों में इनके सौन्दर्य को बढ़ाने का विस्तृत वर्णन हुआ है।

**षडशीतितम से नवतितम सूत्र :**

इन सूत्रों में एक अलग ही प्रकार के राजप्रासाद-स्थापत्य तथा उसकी विभिन्नता का वर्णन है। अट्ठासीवें और नवासीवें सूत्र में प्रसङ्गवश पृथक् रूप से राजवेश्म के कतिपय महत्त्वपूर्ण सज्जाओं की रचना का वर्णन किया गया है। जैसे-धारागृह, उद्यान, जलयन्त्र तथा विद्याशाला आदि। जलयन्त्र की रचना-विधि के अन्तर्गत वर्गाकार क्षेत्र में १२ स्तम्भ, मध्य में जलयन्त्र तथा कोनों पर कूप एवं कूपिकाओं का निर्माण करने और जल को ऊँचाई पर ले जाकर विभिन्न रूपों एवं आकृतियों में निर्मित छिद्रों से बिना बादल के जलपात करने का विवेचन है। इसका प्रयोग प्रायः धारागृहों में होता था। प्रासाद-सथापत्य की सहायक रचनाओं का वर्णन इस ग्रन्थ के सूत्र १०२ में 'आयतन--निवेश' शीर्षक के अन्तर्गत किया गया है।

**एकनवतितम से द्व्यधिकशततम सूत्र : गृह-स्थापत्य :**

इन सूत्रों में सामान्यतया मध्यम वर्गीय आवासीय भवनों की रचना-सम्बन्धी चर्चा की गई है, जो कि एकशाला से लेकर दशशाला तक हैं।

**त्र्यधिकशततम से पञ्चनवत्युत्तरशततम सूत्र : मन्दिर-स्थापत्य :**

सूत्र १०३ में प्रासादों की उत्पत्ति से सम्बन्धित वर्णन है, जिसमें पांच प्रमुख नागरप्रासाद-वैराज, पुष्पक, कैलाश, मणिक और त्रिविष्टप थे और इनसे ही विविध प्रकार के प्रासादों की रूपरेखा, माप, अधिरचनाएँ, उनके अलङ्करण, जैसे--वितान और सहायक अङ्गों की रचनाएँ, जैसे-'जगती' एवं 'मण्डप' आदि का निर्माण हुआ।

सूत्र १०४-१०६ में नागर, द्राविड़, विमान और भूमिज आदि दस प्रकार के प्रासादों का वर्गीकरण हुआ है। १०७ वें सूत्र में प्रासादों के माप, उनके विभिन्न अङ्गों तथा हर्म्य, जगती, द्वार, प्रतोली आदि का वर्णन है। सूत्र १०८ से लेकर १११ तक जीर्ण प्रासाद-विषयक विवेचन है। आगे सूत्र ११२-११३ में प्रासाद-सम्बन्धी अन्य सभी विषयों की विस्तृत व्याख्या है। सूत्र ११४-१२० में जगतियों तथा पीठों के विषय में वर्णन है। सूत्र १२१ में प्रमुख देवों के लिए प्रासादों का उपभोग बताया गया है। साथ में जैन-देवायतनों का भी उल्लेख हुआ है। सूत्र १२२ में बलाणक के विषय में वर्णन है और उसके आगे सूत्र १२३-१२५ में भिन्न-भिन्न प्रासादों के स्तम्भों के नीचे की चौकी के विषय में वर्णन किया गया है। सूत्र १२६-१३० में दीवारों की ऊँचाई तथा गर्भगृहों के अतिरिक्त मन्दिर अधिरचनाओं (छतों) के प्रमुख अङ्गों और उनके माप तथा द्वार आदि का विवेचन है।

आगे रेखा-स्थापत्य का वर्णन है, जिसका प्रासाद-स्थापत्य में विशिष्ट महत्त्व है। सूत्र १३१-१४० तक एकखण्ड रेखा से लेकर पञ्चविंशति रेखाओं का विवेचन है। सूत्र १४१-१५३ में स्कन्ध, कलश, ध्वज, पताका, प्रतिष्ठा, न्यास तथा मिश्रित, धार्मिक क्रियाओं एवं समारोहों का वर्णन है। सूत्र १५४-१८३ में पृथक्-पृथक् वर्ग, शैली एवं जाति के आधार पर विभिन्न प्रकार के प्रासादों की रचना-विधि का वर्णन है। सूत्र १८४-१८८ में मण्डप-विधान एवं सूत्र १८९-१९२ में वितानों का विवेचन है। सूत्र १९३ में २५ प्रकार के संवरणों का और सूत्र १९४ में पञ्च-तोरण-पञ्च-हिन्डोलकों तथा सूत्र १९५ में सप्तमठ-नवरथों का विस्तृत वर्णन है। इसके आगे सूत्र १९६-२२३ में प्रतिमा-विज्ञान, लिङ्ग-प्रतिमा तथा सूत्र २२४-२३६ में चित्रलक्षण एवं अन्त में सङ्गीत और नृत्य-कला-विषयक विवेचन है।

**राजवल्लभमण्डन**

'राजवल्लभमण्डन' नामक वास्तुशास्त्र आकार की दृष्टि से यद्यपि लघुकाय ग्रन्थ है परन्तु प्रतिपाद्य वास्तुशास्त्रीय विषयवस्तु की दृष्टि से अल्प महत्त्व वाला नहीं है। इसका शीर्षक सार्थक ही प्रतीत होता है, जिसमें किसी भी राजा के हित एवं प्रिय का सर्वतोभावेन चिन्तन हुआ है। इस प्रकार इसमें विशेषतः राजप्रासाद तथा दुर्गादि-निवेश, नगर-सन्निवेश एवं राज-कर्मचारियों के आवासीय भवन की रचना हेतु वास्तुशास्त्रीय विवरण प्रस्तुत किया गया है। यद्यपि प्रसङ्गवश सामान्य जनभवनों की निर्मिति से सम्बद्ध निर्देश भी प्रदत्त हैं, परन्तु वे एक शासक की दृष्टि से हैं। यदि कोई राजा किसी

नूतन नगर या ग्राम का सन्निवेश करता है, तो उसमें विविध प्रकार के भवनों का स्वरूप कैसा हो, एतद्विषयक ज्ञान राजा अथवा शासक के लिए अपेक्षित है।

राजवल्लभमण्डन के रचयिता सूत्रधारमण्डन अपने समकालीन स्थपतियों में विशिष्ट स्थान रखते हैं। वे मूलतः गुजरात-वासी थे और महाराणा मोकल (कुम्भा के पूर्वज) के राज्यकाल में अपने पिता के साथ मेवाड़ आ गये थे।[१] उन्हें वास्तु-विद्या के सैद्धान्तिक पक्ष एवं प्रयोगात्मक पक्ष का गम्भीर ज्ञान था। इस प्रकार वे शास्त्रज्ञ एवं एक कुशल शिल्पी थे। स्थापत्य के क्षेत्र में इनकी अप्रतिहत गति थी। गुराजत वासी होने के कारण उन्हें गुजरात की शिल्प-परम्परा का समुचित ज्ञान था।

सूत्रधारमण्डन का महाराणा कुम्भा के स्थपतियों में विशेष स्थान था।[२] महाराणा कुम्भा ने (१४५८ ई०) सूत्रधारमण्डन से ही कुम्भलगढ़ के दुर्ग का निर्माण करवाया था। उदयपुर के समीप स्थिति विष्णुमन्दिर भी इनके वास्तु-कौशल का परिचायक है।[३] उन्होंने शास्त्र और लोक में वास्तु एवं शिल्प-सम्बन्धी जो स्वस्थ एवं उपयोगी परम्परा और मान्यता थी उनका सम्यक्-आलोडन करके अपने उचित दृष्टिकोण और प्रयोगात्मक अनुभूतियों के आधार पर वास्तु एवं शिल्पविषयक अनेक ग्रन्थों का प्रणयन किया। इनकी कृतियों मे मत्स्यपुराण से लेकर अपराजितपृच्छा, तथा हेमाद्रि के चतुर्वर्ग चिन्तामणि एवं गोपलभट्ट के सङ्कलनों[४] एवं मूर्तिशिल्प के सन्दर्भ में मयमत[५] आदि ग्रन्थों का प्रभाव परिलक्षित होता है। काशी के कवीन्द्राचार्य (१७ वीं शताब्दी) की १९२१ ई० में प्रकाशित सूची में सूत्रधारमण्डन द्वारा रचित ग्रन्थों में १. राजवल्लभ, २. वास्तुमण्डन, ३. प्रासादमण्डन, ४. रूपमण्डन, ५. राजवल्लभशिल्प और ६. वास्तुशास्त्रशिल्प हैं।[६]

---

१. (क) महाराजधिराज महाराणा श्रीमोकल आदेशात सूत्रधार।
 (ख) मण्डन वेतराकस्य थने गुजराज थी बलायो अठे दरबार मे।
 (ग) सोलप सास्र भरायो थका सुथार हो नहीं जीसु थने गुजरात।
 (घ) थी बुलायो बहुत मेनतसु ८ मस १ प्रत रु ३०-ताम्रलेख
 राजवल्लभमण्डन (डॉ० शैलजा पाण्डेय),प्ररोचना पृष्ठ १० से उद्धृत।

२. श्रीभेदपाटे नृपकुम्भकर्णस्तदङ्घ्रिराजीवपरागसेवी।
 स मण्डनाख्यो भुवि सूत्रधारः कृतोऽमुना भूपतिवल्लभोऽयम्।। -वही, अध्याय १४.४४

३. वही (डॉ० शैलजा पाण्डेय), प्ररोचना, पृष्ठ १०

४. रूपमण्डन (बलराम श्रीवास्तव), भूमिकाभाग, पृष्ठ १४

५. रूपमण्डन (बलराम श्रीवास्तव), भूमिकाभाग, पृष्ठ ५

६. कवीन्द्राचार्य-सूचीपत्र, गायकवाड़ ऑरिएन्टल् सीरिज, अङ्क १७.१९२१, पृष्ठ ३३; हिस्टॉरिकल् क्वार्टली, खण्ड १६.१९४०, पृष्ठ ३०८ -वही (बलराम श्रीवास्तव), भूमिकाभाग, पृष्ठ १४

इसी प्रकार हरिदास मित्र ने १९३६ ई० में प्रकाशित 'देवतामूर्ति-प्रकरण' की भूमिका में सूत्रधारमण्डन-विरचित ग्रन्थों की सूची दी है, जो निम्नलिखित है-

१. देवतामूर्तिप्रकरण, २. प्रासादमण्डन, ३. राजवल्लभवास्तुशास्त्र, ४. रूपमण्डन, ५. वास्तुमण्डन, ६. वास्तुशास्त्र, ७. वास्तुसार, ८. वास्तुमञ्जरी एवं ९. आयतत्त्व।[1]

वासुदेवशरण अग्रवाल के अनुसार सूत्रधारमण्डन की रचनाएँ निम्नलिखित हैं -

१. प्रासादमण्डन, २. वास्तुमण्डन, ३. रूपमण्डन, ४. राजवल्लभमण्डन, ५. देवतामूर्तिप्रकरण;, ६. रूपावतार, ७. वास्तुसार एवं वास्तुशास्त्र।[2]

इन ग्रन्थों में से शिल्पशास्त्र, वास्तुशास्त्र एवं प्रासादमण्डन के वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थ होने का उल्लेख उपलब्ध होता है।[3]

डॉ० प्रसन्नकुमार आचार्य के अनुसार इन सभी ग्रन्थों का अन्तिम सङ्कलित रूप 'राजवल्लभमण्डन' या 'राजवल्लभ' अथवा 'सूत्रधारमण्डन' के नाम से प्रचलित हुआ।[4] कवीन्द्राचार्य द्वारा प्रस्तुत सूची में 'राजवल्लभ' तथा 'राजवल्लभशिल्प' संज्ञक दो स्वतन्त्र ग्रन्थों का उल्लेख है। हरिदास मित्र के अनुसार सम्भवतः ये दोनों ग्रन्थ क्रमशः 'वास्तुशास्त्र' एवं 'शिल्पशास्त्र' अर्थात् मूर्तिशास्त्र के ग्रन्थ थे।[5]

'राजवल्लभमण्डन' सूत्रधारमण्डन की अन्यतम रचना है। इसका उल्लेख 'राजवल्लभवास्तुशास्त्र' तथा 'वास्तुराजवल्लभ' आदि नामों से भी प्राप्त होता है। सम्पूर्ण ग्रन्थ १४ अध्यायों में विभक्त है। विषयवस्तु की दृष्टि से इसे दो भागों में विभाजित किया जा सकता है-प्रथमतः वास्तुशिल्प एवं द्वितीय-वास्तु में निवास करने वाले सभी प्राणियों के रक्षण, पोषण एवं परिवर्धन के उपायों का चिन्तन।[6] सम्पूर्ण ग्रन्थ के विभिन्न अध्यायों में प्रतिपाद्य विषयवस्तु निम्न रूप में है-

**प्रथम अध्याय : मिश्रकलक्षण :**

'मिश्रकलक्षण' संज्ञक प्रथम अध्याय में यथानाम गृह-प्रशंसा अथवा गृह-रचना

---

१. कॅटलॉग् ऑफ् मॅन्युस्क्रिप्टस् इन् द लायब्रेरि ऑफ् इण्डिया ऑफिस्, ग्रन्थ संख्या ३१४२, १२९१, ३१४७, २२५३-रूपमण्डन (बलराम श्रीवास्तव), भूमिकाभाग, पृष्ठ १४
२. राजवल्लभमण्डन (डॉ० शैलजा पाण्डेय), प्ररोचना, पृष्ठ १२
३. रूपमण्डन (बलराम श्रीवास्तव), भूमिकाभाग, पृष्ठ १४
४. इण्डियन् आर्किटेक्चर, ऑक्कार्डिङ्ग टू मानसार शिल्पशास्त्र, पृष्ठ १०३
५. देवतामूर्तिप्रकरण,भूमिका, पृष्ठ ४-रूपमण्डन (बलराम श्रीवास्तव), भूमिकाभाग, पृष्ठ १४
६. राजवल्लभमण्डन (डॉ० शैलजा पाण्डेय), पृष्ठ २१

की अनिवार्यता, तदर्थ प्रशस्तकाल अर्थात् अनुकूल मास, नक्षत्र, वास्तु के मुख अर्थात् प्रवेशद्वार का विचार, प्रशस्त-भूमिलक्षण एवं उसकी परीक्षा-विधि, प्लव-विचार, कीलस्थापन एवं सूत्रपात, शल्यज्ञान, नागमुख-ज्ञान, भूमिखनन, शिलान्यास एवं स्तम्भ-स्थापन, भित्ति-प्रकल्पन एवं गृह के समीप त्याज्य वृक्षों का नामोल्लेख है। अध्याय का समापन हस्त-प्रकल्पन अथवा माप-विषयक विवेचन एवं सूत्रधार के लक्षणोल्लेख के साथ हुआ है।

**द्वितीय अध्याय : वास्तुलक्षण :**

द्वितीय अध्याय में वास्तुपुरुषोद्भव तथा प्रासाद या देवालय एवं भवनरचनारम्भ में; तडाग, कूप, वापी आदि के खनन में; वृक्षारोपण, पुरातन भवन के जीर्णोद्धार एवं यागभवन आदि के कार्यारम्भ तथा कार्यसमापन-काल में पूजा; ग्राम, राजभवन, नगर, कूप, तालाब आदि विभिन्न रचना-कार्य के अनुसार वास्तुमण्डल में विभिन्न वास्तुपदों की संख्या, वास्तुपुरुष के विविध अङ्गों में भावित देव, वास्तुमण्डल में प्रकल्पित ईश, पर्जन्य आदि विभिन्न देव प्रतिपाद्य हैं। तदनन्तर चतुष्षष्ठि पद वाले वास्तुपद से लेकर एक सहस्र पर्यन्त पद वाले वास्तुपद के वास्तुपदविन्यास की विधि, विभाजित पदों में विभिन्न देवों का अधिकार क्षेत्र एवं वास्तुपूजन के अन्तर्गत देवों के प्रिय नानाविध नैवेद्य द्वारा नाना देवों की पूजा विहित है।

**तृतीय अध्याय : आयादि लक्षण :**

'आयादि लक्षण' नामक इस अध्याय में आयादि षड्वर्ग (आय, व्यय, ऋक्षा, अंश, योनि एवं तिथिवार) की सम्यक् परिचर्चा है। इसी संदर्भ में आगे भवनादि में माप-विधि, आयप्रकल्पन, ध्वज, धूम, सिंह, श्वान, वृष, गज एवं काक संज्ञक अष्ट आयों का प्रकल्पन, आयों का स्वरूप, आय के अनुसार द्वार, आयादि का आनयन, चन्द्रस्थिति, तिथि एवं राशि, राशि एवं ग्रह, श्रवण, पुष्य, अश्विनी आदि का गण-विचार, नक्षत्र-वैर, विप्रादि चतुवर्णों की दृष्टि से राशि-विवेचन तथा राशियों के आधार पर भवन की प्रशस्ता, योनि-मैत्री, गाय, व्याघ्र, गज, सिंहादि पशुओं की स्वाभाविक शत्रुता, नाड़ी-ज्ञान तथा गृह-विनाश के कारण आदि विषयों की समीक्षा है, जो कि गृहादि निर्माण से पूर्व विचारणीय हैं।

**चतुर्थ अध्याय : नगरप्राकारयन्त्रवापीकूपतडागकुण्डलक्षण :**

इस अध्याय का प्रारम्भ दुर्ग-प्रकल्पन से हुआ है, जिसमें सामान्यतया दुर्ग की प्रशंसा तथा भूदुर्ग, जलदुर्ग, पर्वतदुर्ग में पर्वतदुर्ग की सर्वाधिक प्रशंसा की गई है।

तदनन्तर आकृति के आधार पर माहेन्द्र, सर्वतोभद्र, सिंहावलोकन, वारुण, नन्दाक्ष, नन्द्यावर्त, पुष्प, पौरुष, स्नाह, दण्ड, शक्र, कमल, धार्मिक, सौम्य एवं महाजय नामक पन्द्रह प्रकार के पुरों अथवा दुर्गों का विवेचन , पुरों के गुण एवं दोष, विस्तार एवं मार्ग-प्रकल्पन की दृष्टि से उत्तम, मध्यम तथा कनिष्ठ भेद से तीन प्रकार के पुरों का विवेचन है। इन पुरों के अतिरिक्त पुरों के अन्य भेदों का भी विवेचन है। आगे इस अध्याय में पुर के सुरक्षा-संविधान के रूप में प्राकार-प्रकल्पन, ब्रह्मा, सूर्य, विष्णु आदि देव-प्रतिमा की स्थापना, पुर से लेकर खर्वट-पर्यन्त वसति-विन्यास में मार्ग-विन्यास, प्रकारालङ्करण एवं युद्ध-सम्बन्धी स्थान का निर्माण, जाति एवं आजीविका के अनुरूप वसति-विन्यास, पुर में प्रवेश एवं निकास के लिए द्वार-विन्यास तथा पुर-रक्षार्थ प्रयुक्त होने वाले अष्टविध भैरवयन्त्रों (नालयन्त्रों) का वर्णन है जिनके माध्यम से अग्नि, जल एवं वायु का प्रक्षेपण किया जाता है। अध्याय के अन्त में ग्रन्थकार ने जलाशयों के रूप में चार प्रकार की वापी, दस प्रकार के कूप एवं कूपिका, चार प्रकार के कुण्ड तथा छः प्रकार के तडागों का वर्णन उनके प्रमाण, लक्षण एवं भेदादि के साथ किया है।

**पञ्चम अध्याय : राजगृहादिलक्षण :**

'राजगृहादिलक्षण' संज्ञक पञ्चम अध्याय में चक्रवर्ती, नृनाथ,महामण्डलिक, नृपमण्डलिक,सामन्तमुख्य, सामन्त, सामन्त तृतीय, चतुरांशिक, स्वल्पराष्ट्र एवं सैनिक संज्ञक विभिन्न श्रेणी के राजाओं, मन्त्रियों, अधिकारियों एवं जन-सामान्य के भवनों का प्रमाण सहित वर्णन है। इसी प्रसङ्ग में भूमि-मान, भित्ति-मान तथा उसके निर्माण में प्रयुक्त होने वाली शिलाओं का प्रमाण, गृहद्वार की ऊँचाई एवं विस्तार, प्रतोली-रचना तथा वास्तुकार्य में त्याज्य एवं ग्राह्य वृक्षों का नामोल्लेख है। तदनन्तर गेहोदय अर्थात् गृह के अङ्गों- स्तम्भ-आभरण, कुम्भी, उदुम्बरादि का मान एवं स्थिति, अलिन्द (बरामदा), दीपस्थान, द्वारस्थान एवं उसकी स्थापना, द्वारों की अशुभ स्थिति, द्वारवेध, दस प्रकार के द्वार, द्वारादोष, स्तम्भ-प्रकल्पन, गृह-आच्छादन, गृह में ऊपर जाने के लिए सोपान-निर्माण, गृह-प्रवेश, गृहवृद्धि की उचित-विधि, जन-साधारण के गृह एवं राजगृह में धनकक्ष, वस्त्रागार, देवगृह, धातुकक्षादि विविध कक्षों की स्थिति तथा गोपुर-संरचना का विवेचन है।

**षष्ठ अध्याय : एकशालद्विशालगृहलक्षण :**

इस अध्याय की संज्ञा 'एकशालद्विशालगृहलक्षण' है, जिसमें शालगृह (विभिन्न

कक्ष वाले गृह) रचना की परिचर्चा है। कोई भी गृह एक कक्ष से लेकर अनेक कक्षों वाला हो सकता है। शालगृहों में एकशाल से चतुश्शाल पर्यन्त ही मौलिक है और अन्य शालगृह इन्हीं के पारस्परिक सहयोग से निष्पन्न होते हैं। इन कक्षों के संयोग से अनेक शालगृहों की रचना होती है। प्रस्तुत प्रकरण में सूत्रधारमण्डन द्वारा राजाओं एवं अन्य जन-सामान्य के गृह-सन्निवेश वर्णित है। ग्रन्थकार ने गुरु-लघु (ऽ,।) की प्रस्तार-विधि का विवेचन किया है, जो कि क्रमशः 'शाला' एवं 'अलिन्द' के बोधक हैं। इसमें प्रथमतः चार गुरु (ssss) की स्थापना, तदनन्तर गुरु के नीचे लघु ( ।) एवं शेष पूर्ववत् ही रहता है। इसके पश्चात् लघु के स्थान पर गुरु रखते हुए ऐसा तब तक करने का विधान है जब तक कि सभी लघु न हो जाएँ। इस प्रकार इस प्रस्तार-विधि के आधर पर लघु के स्थान पर अलिन्द (बरामदा) एवं गुरु के स्थान पर शाला-रचना करने पर ध्रुव, धान्य, जय, नन्द, खर, कान्त, मनोरम, सुवक्त्र, दुर्मुख,क्रूर, विपक्ष, धनद, क्षय, आक्रन्द,विपुल एवं विजय नामक सोलह प्रकार के शालभेद निष्पन्न होते हैं। आगे धान्य संज्ञक शालगृह से लेकर विजय पर्यन्त गृहों में एक-एक छोड़कर आठ गृहों के मुख में अलिन्द-संयोजन के आधार पर रम्यादि अष्टगृह, उपर्युक्त सभी ध्रुवादि षोडश गृहों में षड्-दारुयोजना (स्तम्भ एवं पाटन) से सुन्दरादि षोडश गृह, अलिन्द एवं शाला के मध्य पट्ट-रचना से हंसादि षोडश गृह, गृह-मध्य में अपवर्ग (छोटी कोठरी) के निर्माण से अलङ्कृतादि षोडश गृह, अपवर्ग और षड्दारु एवं अपवर्ग निर्माण से चूड़ामणि आदि षोडश गृह-भेद प्रकल्पित हैं। इस प्रकार एकशालगृह के कुल एक सौ चार (१०४) भेद निष्पन्न होते हैं।

'द्विशाल' अर्थात् दो कक्षों से निर्मित गृहों के संदर्भ में मण्डनसूत्रधार ने प्रथमतः करिणी (उत्तराभिमुखी), महिषी (पूर्वमुखी), गावी (दक्षिणाभिमुखी) और छागी (पश्चिमाभिमुखी) शालाओं का वर्णन किया है, जिनके परस्पर संयोजन से अन्य नाना भेद-विभेद निष्पन्न होते हैं। इन चारों शालाओं में दो-दो के संयोजन (जैसे-हस्तिनी एवं महिषी; गावी एवं महिषी) से सिद्धार्थ, यमसूर्य, दण्ड, काच, धनहर, चुल्ली संज्ञक छः प्रकार के द्विशाल गृह वर्णित हैं। पुनः दो हस्तिनी शालाओं के संयोजन से 'सन्तत', दो महिषी शालाओं के संयोग से 'शान्तिद', दो गावी शालाओं के संयोजन से 'वर्धमान' एवं दो छागी शालाओं के मिलने पर 'कुक्कुट' संज्ञक द्विशालगृह निष्पन्न होते हैं। इसी प्रकार इन चारों द्विशाल गृहों में अलिन्द एवं षड्दारु की स्थिति और संख्याओं के आधार पर तथा मण्डप की स्थिति की दृष्टि से नानाविध द्विशालगृह वर्णित हैं।

**सप्तम अध्याय : द्विशाल-त्रिशालचतुश्शालगृहलक्षण :**

प्रस्तुत अध्याय में, इससे पूर्व अध्याय में विवेचित विषय को ही आगे बढ़ाया गया है। इसके प्रारम्भ में अलिन्द, षड्दारु एवं मण्डप आदि की स्थिति के आधार पर 'सूर्य' आदि द्विशाल गृहों का वर्णन है। इसके अनन्तर ग्रन्थकार ने 'त्रिदश', 'त्रिदिशावास', 'सुरूप' एवं 'कुमुद' आदि नामक तथा 'सोम' आदि संज्ञक षोडश-षोडशविध त्रिशाल भवनों का विवेचन किया है, जो कि अलिन्द, भद्र, षड्दारु एवं मण्डप आदि के संयोजन से निष्पन्न होते हैं।

त्रिशाल भवनों की ही भाँति चतुश्शाल भवनों के भी अलिन्द एवं षड्दारुयोजना आदि की संख्याओं एवं स्थितियों के आधार पर चन्द्र, मलय, शोभन, सुकर्ण, नागेन्द्र, चक्र, जयावट, मकरध्वज तथा कामद संज्ञक नौ भेदों का विवेचन हुआ है।

**अष्टम अध्याय : शयनसिंहासनछत्रगवाक्षसभाष्टकवेदिकादीपस्तम्भ प्रमाणलक्षण :**

यह अध्याय गृहोपयोगी उपस्करों को समर्पित है। ग्रन्थकार ने इसके प्रारम्भ में राजा तथा अन्य राजपुरुषों के पद एवं वर्णानुसार शय्या के विभिन्न प्रमाणों का कथन किया है। इसके साथ ही इनकी रचना के लिए श्रीपर्णी, तिन्दुकी, शीशम, सागौन, शाल, पद्मक, चन्दन एवं शिरीष-वृक्ष के काष्ठ को प्रशस्त बताया है। इसके अनन्तर आगे सात प्रकार के सिंहासनों का वर्णन एवं भद्र, पीठ, कोण, ग्रासपट्टी, गजथर, अश्वथर, नरथर, तोरण, छाद्य तथा स्तम्भ आदि उसके अन्य विविध अङ्गों का वर्णन सप्रमाण हुआ है। इसके साथ ही राजभवन के अनुकूल पन्द्रह प्रकार के वातायनों का विवेचन हुआ है, जिनमें से प्रथम पांच भेद लुम्बिकाओं की संख्या के अनुसार; द्वितीय पाँच भेद छाद्य के अनुसार तथा ११, १२ एवं १३ वाँ भेद वातायन के आयाम और विस्तार के आधार पर एवं अन्तिम दो भेद द्वार-भेद पर आधारित हैं। राजभवन-निवेश के ही प्रसङ्ग में मण्डनसूत्रधार ने नन्दा, भद्रा, जया, पूर्णा, दिव्या, यक्षी, रत्नोद्भवना और उत्पला नामक अष्टविध सभाभवनों का रचना-सम्बन्धी वर्णन किया गया है। इनमें पारस्परिक विभेदक तत्त्व के रूप में इनके अलिन्द, भद्र और कोष्ठ आदि की संख्याएँ हैं। स्तम्भ, तोरण, मदला, निर्यूह, वितान, रङ्गभूमि एवं वेदिका आदि सभाभवन की सहायक रचनाएँ हैं, जिन्हें गज, सिंह, अश्व एवं नृत्यादि अङ्कन तथा स्फटिक आदि मणियों से सुसज्जित करने का निर्देश है।

गृहोपयोगी उपकरणों में वेदिकाओं का प्रयोग राजा से लेकर सामान्य जन एवं

जनालय से लेकर देवालय तक प्रचलित रहा है। यहाँ पर स्थान एवं अवसर विशेष के अनुरूप स्वस्तिका, भद्रिका, श्रीधरिका एवं पद्मिनी संज्ञक विशिष्ट वेदिकाओं का प्रकल्पन है। इस सन्दर्भ में ग्रन्थकार ने चारों वर्णों के लिए वेदिकाओं के पृथक्-पृथक् परिमाण दिये हैं। इसके साथ ही पुन: राजा के 'माड' संज्ञक आसन का वर्णन है, जिसे चार स्तम्भों पर निर्मित एवं स्वर्ण, मोती, पट्टकूल तथा मणियों से सुशोभित बताया गया है। गृहोपयोगी सामग्रियों के विवेचन-क्रम में इस अध्याय का समापन ऊँचाई की दृष्टि से आठ प्रकार के दीपस्तम्भों के वर्णन के साथ हुआ है और पीठ, कुम्भ एवं कङ्कणयुक्त स्वर्णकलश इनके रचनाङ्ग हैं।

**नवम अध्याय : राजगृहादि लक्षण :**

इस अध्याय में राजाओं के अनुकूल भवन-विन्यास के सन्दर्भ में श्रीधर, राजवर्धिनी, प्रतापवर्धिनी, लक्ष्मीनिवास, श्रीनिवास तथा कमलोद्भव संज्ञक विभिन्न राजप्रासादों का विवेचन है। इनकी पृथक्-पृथक् संज्ञाओं का आधार इनका रचना-वैशिष्ट्य है। ग्रन्थकार ने राजगृह-प्रकल्पन के उपादान स्वरूप पाषाण, सुधा (गारा), इष्टका, शर्करा आदि का भी वर्णन किया है। इसी क्रम में शुद्ध, माड, मौड, शेखर, तङ्गार, सिंहकर्ण संज्ञक राजभन के छ: भेदों का उल्लेख हुआ है। इनकी विविधता के मूल में भी रचनागत विशेषता है। इसके साथ ही छाद्य की दृष्टि से छ: प्रकार के गृहों का विवेचन, जो निम्न रूप में हैं–तृणमय, पर्णमय, पट्टमय, वंशमय, कटमय, मृत्तिकामय और प्रस्तरमय या प्रस्तरनिर्मित।

सूत्रधारमण्डन ने राजगृह-निवेश के अन्तर्गत उसके अन्य विविध सहायक अङ्गों-क्रीडावाटिका, आस्थानमण्डप, अश्वशाला,सिंहद्वार एवं गजशाला आदि का भी वर्णन राजगृह-परिसर में रचना की दृष्टि से उपयुक्त स्थल एवं उनके परिमाण आदि के साथ किया है। ग्रन्थकार ने राजपरिवार के आमोद-प्रमोद-हेतु प्रकल्पित क्रीडावाटिका में धारामण्डप-प्रकल्पन एवं वहाँ पर आरोपित किये जाने वाले विभिन्न प्रकार के पुष्पों एवं अन्य उपयोगी तथा सौंदर्य अभिवृद्धि के निमित्त नाना प्रकार के वृक्षों का भी नाम परिगणन किया है। इसके अतिरिक्त अश्वशाला में अश्वों को बांधने की उचित-दिशा तथा ऊँचाई की दृष्टि से विभिन्न प्रकार के अश्वों एवं गजों का भी वर्णन है। ग्रन्थकार ने इसके अनन्तर विभिन्न श्रेणी के राजाओं, राजपुत्रों, सेनापतियों, मन्त्रियों, सामन्त आदि राजाओं, ज्योतिषियों, सभासदों, गुरुओं, पुरोहितों, वैश्याओं, कञ्चुकियों, शिल्पियों एवं दूतों के विभिन्न प्रकार के गृहों तथा ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वैश्यों और शूद्रों के गृहों का वर्णन उनके परिमाण आदि के साथ किया है। अध्याय के अन्त में गृह की विभिन्न दिशाओं में द्वार-प्रकल्पन-संख्या के आधार पर उसकी प्रशस्ता विवेचित है।

**दशम अध्याय : गणितक्षेत्राद्भुतलक्षण :**

यह अध्याय वास्तुपरक गणित एवं विभिन्न अनहोनी घटनाओं का विवेचन करता है। ग्रन्थकार ने अध्याय के आरम्भिक पद्य में माप-विषयक विवेचन किया है तदनन्तर अग्रिम पद्यों में चतुरस्र, वृत्त, गोलक अष्टकोण, षड्भुज, विषमकोण आदि विभिन्न आकृतियों वाली भूमियों के क्षेत्रफल निकालने की विधि का वर्णन किया है। इसके आगे जनावास के समीप घटित होने वाले पशु-पक्षियों आदि के विविध क्रियाकलापों अथवा अद्भुत लक्षणों और उनसे आपतित फलों का कथन करते हुए शांति-विधि का विवेचन किया है।

**एकादश अध्याय : दिनशुद्धिगृहनिवेशगृहप्रवेशविवाहमुहूर्तलक्षण :**

यह अध्याय ज्योतिर्विद्या-परक है। मण्डनसूत्रधार ने इसमें शुद्ध एवं अनुकूल, वार, तिथि, नक्षत्र, चन्द्रबल एवं शकुनबल आदि का समुचित विचार किया है और गृहनिर्माणारम्भ के समय विभिन्न गृहों की स्थिति के आधार पर गृह की दीर्घायु की भविष्यवाणी की है। इसी प्रकार आगे गृहप्रवेश के काल में भी शुभ योगों का विचार किया गया है। ग्रन्थकार ने इस अवसर पर कुल-देवता, गणेश, क्षेत्रपति, वास्तुदिक्पति, आचार्य, द्विज एवं शिल्पियों का विधिवत् सत्कार करने के उपरान्त वस्त्र एवं अलङ्कारों से सुसज्जित होकर गृहस्वामी को गृह में प्रवेश करने का निर्देश दिया है। गृहविषयक-विवेचन के साथ-साथ ग्रन्थकार ने गृहिणी के चयन एवं पाणिग्रहण के लिए उपयुक्त काल की परिचर्चा की है।

**द्वादश अध्याय : गोचरदिनरात्रिस्वरोदयचक्रमातृकाशकुनलक्षण :**

इस अध्याय के प्रारम्भ में गोचर एवं दिन-रात्रि के मान पर विचार किया गया है। एतदनन्तर शरीरस्वरोदय की परिचर्चा करते हुए स्वरोदय-शकुन-ज्ञान के लिए यन्त्र-निर्माण अथवा स्वरचक्र-निर्माण की विधि बताई गई है। इस अध्याय में आगे प्राकार-चक्र अथवा कोटचक्र की चर्चा है। इसके द्वारा सुरक्षित दुर्ग शत्रुओं के लिए दुर्जेय हो जाता है। प्राकारचक्र-प्रकल्पन के अन्तर्गत ग्रन्थकार ने दुर्ग के प्रवेशद्वार, उसके बाह्य एवं आन्तरिक भाग तथा मध्यभाग में विभिन्न नक्षत्रों और ग्रहस्थिति के अङ्कन करने के निर्देश के साथ-साथ उसका शुभाशुभ फलकथन भी किया है। इसके अनन्तर लग्न एवं मातृका-शकुन पर विचार किया गया है। ग्रन्थकार ने मातृका-शकुन के अन्तर्गत अक्षरों के शुभाशुभ भाव का चिन्तन किया है।

**त्रयोदश अध्याय : ज्योतिषप्रकरण :**

'ज्योतिषप्रकरण' संज्ञक यह अध्याय यथार्थनामा है। इससे पूर्व के अध्यायों में आवासीय भवन-सम्बन्धी विवेचन है और मण्डनसूत्रधार ने इस अध्याय में समस्त गृहस्थ के सुख-सौभाग्य की दृष्टि से समुचित चिन्तन किया है। ग्रन्थकार ने इसके प्रारम्भ में भूमि को खोदकर उसमें निधि रखना तथा वाहन, यन्त्र, हल, प्राकार, देवालय आदि का कार्य करने के लिए अनुकूल नक्षत्रादि का विचार किया है। तदुपरान्त सीमन्तोन्नयन, अन्नप्राशन, कर्णवेध, मौञ्जीबन्ध एवं मोचन, विद्यारम्भ, अग्न्याधान, क्षौरकर्म, वस्त्रधारण, हेमरत्नादि-धारण, राजदर्शन एवं राज्याभिषेक, गजाश्व-पशुकर्म, रोग एवं सर्पदंश, रोगमुक्त का स्नान, प्रसूति-स्नान, पशुओं का गमनागमन, कृषिकर्म, पादपरोपण, जलाशयनिर्माण, यात्रा, धनसङ्ग्रह, देवप्रतिमा-प्रतिष्ठा आदि कृत्यों के लिए प्रशस्ताप्रशस्त दिवस, तिथि, और नक्षत्रादि का सम्यक् चिन्तन किया है।

**चतुर्दश अध्याय : शकुनलक्षण :**

'शकुनलक्षण' संज्ञक यह अन्तिम अध्याय यात्रा-प्रकरण सम्बन्धी ज्योतिष पर आधारित है। लोक में यात्रा अथवा नूतन-कार्यारम्भ के अवसर पर तिथि, वार, नक्षत्रादि की अनुकूलता होने पर भी यदि अपशकुन हो, तो कार्य रोक दिया जाता है। ग्रन्थकार ने यहाँ शकुन-प्रशंसा, दिग्दाह, शकुन-प्रकार, यात्रा-शकुनापशकुन, स्वर-शकुन, अन्य विविध शकुन, श्यामापक्षी के शकुन, पिङ्गला-शकुन, श्वान-शकुन, हिरण-शकुन, पिपीलिका-शकुन, शव एवं छींक -शकुन, स्पन्द-शकुन, उपश्रुति-शकुन आदि के आधार पर उनका शुभाशुभ फल-कथन किया है। इसके साथ ही इस अध्याय और ग्रन्थ का समापन ग्रन्थकार ने अपने आश्रय-प्रदाता राजा की प्रशंसा एवं गणित और शकुनशास्त्र को वास्तुशास्त्र का तत्त्व बताते हुए किया है।

**रूपमण्डन**

सूत्रधारमण्डन-विरचित 'रूपमण्डन' भारतीय वास्तुशास्त्र की परम्परा में एक महत्त्वपूर्ण कड़ी है। यद्यपि इसका प्रतिपाद्य विषय प्रतिमा रचना-विज्ञान है परन्तु इसके प्रणेता ने इस कृति को वास्तुशास्त्र के अन्तर्गत माना है।

**विश्वरूपं नमस्कृत्य पूर्वतन्त्रानुसारतः।**
**मण्डनस्तुनते वास्तुशास्त्रं श्रीरूपमण्डनम्।। १.१**

'रूपमण्डन' का उल्लेख अनेक सूचियों में प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ का रचना-काल

विवादित है परन्तु बहुमान्य तिथि बारहवीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध और तेरहवीं शताब्दी का पूर्वार्द्ध है। वर्तमान में उपलब्ध 'रूपमण्डन' के सम्पादक डॉ० बलराम श्रीवास्तव के अनुसार इसके रचयिता ने इस पुस्तक की रचना में 'अपराजितपृच्छा' का अच्छा उपयोग किया है।[१] इसके अधिकांश विवरण या तो 'अपराजितपृच्छा' के उद्धरण हैं या छायाग्रहण।[२] इसमें कुल छः अध्याय हैं। आगे इस ग्रन्थ के प्रत्येक अध्याय में वर्णित विषयवस्तु का विवेचन किया जा रहा है।

**प्रथम अध्याय :**

'रूपमण्डन' का प्रथम अध्याय विशेषतः तलाधिकार है, जिसके पूर्वांश में प्रतिमा-द्रव्य के रूप में प्रशस्ताप्रशस्त शिलालक्षण तथा धातुओं, रत्नों, काष्ठ और प्रवाल की उपयुक्तता का विवेचन है। तदनन्तर मूर्तियों के जीर्णोद्धार एवं तालमान से मूर्ति-निर्माण के निर्धारण आदि का वर्णन है।

**द्वितीय अध्याय :**

द्वितीय अध्याय में विविध देव-विषयक अर्थात् देव-पूजन-सम्बन्धी विधि-निषेध और ब्रह्मा, सावित्री, ऋषि, विश्वकर्मा, नवग्रहों का उनके वाहनों, भूषणों के साथ तथा सूर्य-आयतन एवं प्रतीहारों और इन्द्र, अग्नि आदि अष्टदिक्पालों का वर्णन है।

**तृतीय अध्याय :**

तृतीय अध्याय में युगभेद और वर्णभेद से विष्णु की मूर्तियों एवं शिरोभाग का आकार, वर्णभेद से शुभ फलप्रदान और उनकी चौबीस मूर्तियों एवं शालिग्राम का वर्णन है।

**चतुर्थ अध्याय :**

इस अध्याय की संज्ञा '**शिवमूर्तिशिवलिङ्गलक्षणाधिकार**' है। यह अध्याय सद्योजात, वामदेव, अघोर आदि द्वादश शिव-मूर्तियों को समर्पित है। इसके साथ ही इसमें शिवलिङ्ग-निर्माणविधि की भी चर्चा है।

**पञ्चम अध्याय :**

रूपमण्डन का पञ्चम अध्याय '**शाक्ताधिकार**' है। इसमें गौरी, उमा, पार्वती

---

१. रूपमण्डन (बलराम श्रीवास्तव), भूमिकाभाग, पृष्ठ १४

२. देवतामूर्तिप्रकरण, भूमिका, पृष्ठ ४- वही (बलराम श्रीवास्तव), पृष्ठ १४

आदि देवियों के अतिरिक्त गणेश, हरेम्ब, वक्रतुण्ड, क्षेत्रपाल और बटुकभैरव की मूर्तियों के निर्माण का वर्णन है।

**षष्ठ अध्याय :**

इस ग्रन्थ का छठा और अन्तिम अध्याय '**जैनमूर्तिलक्षणाधिकार**' है। इसमें जैन-प्रतिमा-लक्षण का सूक्ष्म और उपयोगी विवरण है, जिसमें ऋषभ से महावीर पर्यन्त चौबीस तीर्थङ्करों के साथ यक्ष और यक्षणियों की भी गणना हुई है। इसके अतिरिक्त पार्श्व, गोमुख आदि कतिपय विशिष्ट शासन-देवताओं का भी वर्णन पृथक् रूप में हुआ है।

**शिल्परत्न**

शिल्परत्न अत्यन्त समृद्ध विरासत से परिपूर्ण द्राविड़ देश की स्थापत्य-कला एवं मूर्तिकला का एक प्रकार से अन्तिम प्रतिनिधि ग्रन्थ है, जिसमें एतद्विषयक वैज्ञानिक व्याख्या एवं कलात्मक निपुणता के दर्शन होते हैं। डॉ० शुक्ल के अनुसार मानसार, मयमत तथा शिल्परत्न, ये तीनों ग्रन्थ एक ही परम्परा के पोषक हैं। यदि इनमें किसी बात की भिन्नता है, तो वह इनका रचना-काल और कला के विकास का।

यह कृति मयमत से अधिक पूर्ण और विस्तृत है परन्तु दोनों एक ही परम्परा का अनुकरण करते हैं। डॉ० शुक्ल के मत में शिल्परत्न की साम्यता 'मानसार' की अपेक्षा 'मयमत' से अधिक है परन्तु डॉ० आचार्य के अनुसार इस ग्रन्थ के अधिकांश अध्याय मानसार के शब्दशः संक्षिप्तिकरण हैं, जिसे कुछ अंश में ठीक भी कहा जा सकता है परन्तु ग्रन्थकार ने मानसार का उल्लेख कहीं भी नहीं किया है। इसके विपरीत वह मयमत के प्रति अपना आभार प्रकट करता है और (विश्वकर्मा के अस्तित्व का उल्लेख करने के बाद) मुनि मय को नमस्कार करता है–

**त्रिपुरत्रयरचना यत्करयोः कर्मचातुरी जाता।**
**शिल्पवरं तं दनुजैरर्चितचरणं मयं वन्दे।।**

अध्याय १.३

वह अन्य वास्तुशास्त्रीय आचार्यों, जैसे–मातङ्ग, भृगु तथा काश्यप आदि को भी स्मरण करता है–(ध?म) न्ये मतङ्गभृगुकाश्यपकुम्भजातमुख्या मुनीन्द्रपतयो मम सुप्रसन्नाः। – अध्याय १.५। दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि यद्यपि शिल्परत्न, मयमत का बहुत ऋणी है तथापि इसका मूल उद्गम आगम हैं, जिन्होंने साधना-स्थलों, मन्दिरों और उपासना-सामग्रियों, देवि-देवताओं की मूर्तियों को उत्कर्ष प्रदान किया

और यह भारतीय शिल्प-ग्रन्थों का एक प्रमुख विषय-वस्तु बन गया है। जिसका उल्लेख शिल्परत्न के लेखक श्रीकमार ने प्रस्तावना में किया है-

**ब्राह्मं क्षात्रं च तेजोऽप्यहमहमिकया वर्णिते यत्र वीरे**
**तस्य श्रीदेवनारायणधरणिपतेराज्ञयाज्ञाकरोऽहम्।**
**मन्दोऽप्यत्यन्तमोहादितिविपुलतरेभ्योऽथ पूर्वागमेभ्यः**
**संक्षिप्तं शिल्परत्नं प्रलिखितुमधुना प्रक्रमे तत्क्रमेण।।**

-अध्याय १.७

शिल्पविशारद श्रीकुमार केरल का ब्राह्मण था और सम्भवतः देवनारायण की राज्य-सभा में रहता था, जो कि वञ्चिराज्य के अन्तर्गत अबलप्पुल नामक नगर को राजधानी बनाकर किसी भू-भाग में शासन करता था। वह स्वभाव से ही विद्वत्प्रिय और विविध विद्याओं का पोषक था। उसके आश्रय में ही प्रक्रिया सर्वस्व और नारायणीय आदि ग्रन्थों के प्रणेता प्रसिद्ध महाकवि एवं वैयाकरण श्री नारायण भट्ट रहता था, जिसका समय १६ वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जाता है। शिल्परत्न के सुयोग्य सम्पादक महामहिम टी० गणपति शास्त्री के अनुसार शिल्परत्न के लेखक श्री कुमार का भी यही समय रहा है, अतः यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि यह रचना १६वीं शताब्दी की है।

यह सम्पूर्ण ग्रन्थ भगद्वयात्मक है। इसका पूर्वभाग, जिसमें ४६ अध्याय हैं, स्थापत्य-कला अर्थात् गृहग्रामादि-निर्माण-विधिपरक है और उत्तरभाग जिसमें ३५ अध्याय हैं, प्रतिमा-निर्माण से सम्बन्धित है। चित्रकला का वर्णन प्रथम-भाग के अन्तिम अध्याय में है, जिसका सम्बन्ध विमान और गोपुर आदि को विविध प्रकार के चित्रों में अलङ्कृत करने से है-

**एवं सर्वविमानानि गोपुरादीनि वा पुनः।**
**मनोहरतरं कुर्यान्नानाचित्रैर्विचित्रितम्।।-अध्याय ४६.१**

इस प्रकार इस ग्रन्थ के द्वितीय भाग के अन्त में मनुष्यों के निवास-स्थान से सम्बन्धित पांच अध्यायों को रखा गया है,जो कि प्रथम-भाग के ही अङ्ग प्रतीत होते हैं। जैसे- मनुष्यालय (अध्याय ३१), जल को एकत्र रखने के स्थान-जलाशय, कूप, बावली आदि (अध्याय ३२), घर में रखे जाने वाली, चल-सामग्री (Furnitures) तथा उपयोगी यन्त्र-आसनादिच्छद (अध्याय ३३), श्रमिकों की मजदूरी- कर्मकार-वेतनाकल्प (अध्याय ३४) एवं आयुधादि-शास्त्र-लक्षण (अध्याय ३५)।

यहाँ पर पूर्वभाग के विविध अध्यायों में प्रतिपादित विषयवस्तु का उल्लेख किया जा रहा है।

**प्रथम अध्याय :**

जैसा कि पहले ही इस बात का उल्लेख किया जा चुका है कि इस ग्रन्थ के प्रथम भाग में स्थापत्य-कला एवं चित्रकला का प्रतिपादन हुआ है। इसके प्रथम अध्याय में तीन प्राथमिक शीर्षकों पर चर्चा की गई है, जिनमें से प्रथम-'मङ्गलाचरण', द्वितीय-'अनुकम्रणी' अर्थात् ग्रन्थ में प्रतिपादित विषयों का क्रमबद्ध दिग्दर्शन और तृतीय-'योग्यता' से सम्बन्धित है जिसमें '**आचार्य-लक्षण**' और '**शिल्पि-लक्षण**' का उल्लेख हुआ है।

**द्वितीय अध्याय :**

'मानसाधन' नामक द्वितीय अध्याय में माप की परम्परागत विधि का वर्णन है जिसमें परमाणु, त्रसरेण, बालाग्र, लिक्षा, यूका और यवमान का उल्लेख है। छः, सात एवं आठ यवमान से अङ्गुलमान तथा शालीमान से अङ्गुलमान की चर्चा की गई है। मात्राङ्गुल से मुष्टि, वितस्ति, किष्कु, कर; प्राजापत्य, धनुमुष्टि, चापग्रह, वैदेहक, वैपुल्य आदि करभेद, दण्ड, क्रोश, योजन, वंश, रज्जुगजदण्ड, अरत्नि, अरणि, प्रादेश, ताल, गोकर्ण आदि मानों का विवेचन है।

**तृतीय अध्याय :**

तृतीय अध्याय में भवन-निर्माण के लिए भूमि की श्रेष्ठता एवं अपकृष्टता की चर्चा करते हुए उसके परिग्रह का निर्देश दिया गया है। इसमे प्रथम-पूर्णा, सुपा (सुपद्मा), भद्रा एवं धूम्रा संज्ञक चार प्रकार की भूमियों का वर्णन है। द्वितीय-वारुणी आदि चतुर्विध भूमियों के लक्षण बताये गये हैं, जिनसे जलाशयों की समीपता और वनस्पति की वृद्धि के लिए उपजाऊ भूमि का ज्ञान मिलता है। भू-खण्ड के चयन में वृक्षों का होना बहुत महत्त्व रखता है, अतः प्रशस्त वृक्षों में न्यग्रोध, उदुम्बर, प्लक्ष, अश्वत्थ, केसर, आम, पुन्नाग और अनार आदि का नामोल्लेख हुआ है। इस अध्याय के अन्त में भूमि के झुकाव के सम्बन्ध में चर्चा की गई है, जिसे तक़नीकी शब्द में '**पल्वविचार**' कहा गया है।

**चतुर्थ अध्याय :**

चतुर्थ अध्याय की संज्ञा 'भूमिपरिग्रहण' है, जिसमें शूद्रपरिगृहप्राकार-'**शङ्कु-स्थापन**' और '**हललक्षण**' इन विषयों की चर्चा की गई है। ये दोनों ही विषय क्रमशः 'दिङ्ग-निर्णय' और 'भूमि की उत्तमता-उर्वराशक्ति' के ज्ञान के लिए अत्यन्त उपयोगी एवं अल्पव्ययी है।

**पञ्चम अध्याय :**

प्रस्तुत अध्याय में पर्वत, वन, जल, एरण, दैवक, धावन तथा कृतक संज्ञक सात प्रकार के दुर्गों की चर्चा की गई है। इसके पश्चात् 'ग्रामादिलक्षण' के अन्तर्गत मनुष्यों के भिन्न-भिन्न निवास-स्थानों का उल्लेख हुआ है। जैसे-काकिणी, वर्तनका, खाटी, ग्राम, पुर एवं मठ आदि। इसके पश्चात् पुनः ग्राम, खेटक, नगर, राजधानी आदि चौदह प्रकार के मनुष्यों के निवास-स्थानों के लक्षण तथा भू-व्यवस्था की चर्चा की गई है। जैसे-

**स्थानीय –राष्ट्रस्यान्तकपालाय तत् स्थानीयं विदुर्बुधाः।** –अध्याय ५.३२

**विडम्बक –कृषीवलादिकावासो ग्रामोपान्ते विडम्बकम्।।**–अध्याय, ५.३२

आगे पूर्वोक्त ग्राम, खेट, खर्वटादि की विस्तार-योजना तथा विन्यास-भेद, जिसमें इनके मार्गों का मानदण्ड और उन मानदण्डों के आधार पर दण्डक, स्वस्तिक आदि आठ प्रकार के ग्रामों का विस्तृत वर्णन हुआ है। तदनन्तर उद्यानों, पुष्पवाटिकाओं एवं जल-सञ्चित रखने के स्थानों- वापी आदि तथा संक्षेप में भिन्न-भिन्न वर्णों एवं व्यवसाय-जीवियों की निवेश-व्यवस्था-विषयक योजना प्रस्तुत की गई है और अन्त में राजधानी में सम्बन्धित अर्थात् राजवेश्म के विभिन्न उपाङ्गों, जैसे-पाकशाला, शय्यासद्म, अस्त्रशाला,भोजनशाला आदि के निवेश-हेतु उपयुक्त स्थानों का उल्लेख हुआ है।

**षष्ठ अध्याय :**

यह अध्याय अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है और पूर्वोक्त ग्राम, खेट, पत्तन, एवं उद्यान आदि के निर्माण में विशिष्ट महत्त्व रखता है। इसमें सकल, पेचक, पीठ, महापीठ, उपपीठ, उग्रपीठ, स्थण्डिल, मण्डूक, परमशायिक, आसन, स्थानीय, देशीय आदि नाम से बत्तीस प्रकार के पद-विभाजन की विधि का वर्णन है, जिसमें विभाजित पदों की संख्या एक से लेकर चौबीस हजार तक है।

**सप्तम अध्याय :**

सप्तम अध्याय की संज्ञा '**वास्तुपूजा-विधान**' है, जिसमें वास्तुपूजा के अतिरिक्त प्रसङ्गवश शुक्राचार्य के याग से वास्तुदेवता की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है, जिसे पौराणिक परम्परा में छागासुर आदि कहा जाता है।

**अष्टम-नवम अध्याय :**

आठवें अध्याय में पुनः ग्राम-निवेश की चर्चा की गई है, जिसमें विशेषतः ग्राम-द्वारों के निर्माण से सम्बन्धित वर्णन है। अग्रिम अध्याय में ग्रामों में निर्माण किये जाने वाले पूजा-स्थलों- देवालयों के स्थान-नियमों का उल्लेख है और '**विमानकरणे खातविधिः**' नामक दसवें अध्याय में आधारशिला और उसके ऊपर कूर्म तथा कुम्भादि (निधिकुम्भादि) को रखने से सम्बन्धित वर्णन है।

**एकादश अध्याय :**

ग्यारहवें अध्याय में पूर्वादि प्रमुख दिशाओं को शङ्कु के द्वारा निश्चय करने की भारतीय तकनीक का वर्णन किया गया है। इसी क्रम में शङ्कु की स्थापना के लिए भूमि को समतल करने का भी वर्णन है, जिसे तकनीकी भाषा में '**चतुरश्रीकरण**' कहा गया है।

**द्वादश अध्याय :**

इस अध्याय में पुनः आधारशिला रखने का विस्तृत वर्णन है, जिसे '**गर्भन्यास**' कहा गया है। यहाँ पर स्थानीय, द्रोणमुख, ग्राम, उद्यान, खेट, वापी, कूप, तटाक, प्रासाद, मण्डप तथा गोपुर आदि सभी प्रकार के निर्माण में आधारशिला के रूप में '**प्रथमेष्टका**' रखने का निर्देश दिया गया है। जिसका उद्देश्य ग्रामादि की रक्षा और सर्वविध कामनाओं की अभिवृद्धि बताया गया है।

**स्थापयेद् ग्रामरक्षार्थं सर्वकामाभिवृद्धये।** -अध्याय १२.३

**त्रयोदश अध्याय :**

तेरहवें अध्याय की संज्ञा '**अवास्तुकार्मणज्ञानम्**' है, जिसमें पुनः 'वास्तुपद' की चर्चा की गई है। इसमें विशेषतः वास्तुपुरुष के विभिन्न अङ्गों , जैसे-शीर्ष, नाड़ी आदि का उल्लेख करते हुए गृह-निर्माण में कहां-कहां पर गृह-भाग का निर्माण निषिद्ध है और निषिद्ध भागों के निर्माण करने पर उसके परिणामस्वरूप कौन-कौन से दुःख प्राप्त हो सकते हैं, इस विषय की चर्चा की गई है।

**चतुर्दश अध्याय : मन्दिर-स्थापत्य :**

इस ग्रन्थ में आगे प्रासाद-निर्माण का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। चौदहवें अध्याय में मन्दिर आदि के निर्माण में प्रयुक्त होने वाले द्रव्यों, जैसे-शिला, इष्टका, सुधा तथा अयस् आदि का उल्लेख हुआ है। यहाँ पर इन्हें बहुत व्यवस्थित एवं

विधिपूर्वक प्रस्तुत किया गया है, जो कि अन्य शिल्पशास्त्रों में कम ही दिखाई देता है। उपयुक्त शिला-संग्रह के सन्दर्भ में ग्राह्य एवं अग्राह्य शिलाओं के लक्षण, इष्टका-निर्माण के लिए ग्राह्य मृत्तिका तथा मृत्तिका को इष्टका-निर्माण के योग्य बनाने की विधि और सुधा (लेप) की कराल,मुद्‌गी, गुल्मास, कल्क और चिक्कण संज्ञक पाँच प्रकृतियों का अत्यन्त विस्तृत विवेचन हुआ है।

**पञ्चदश अध्याय :**

पन्द्रहवां अध्याय भारतीय भवन-निर्माण के प्रारम्भिक सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है। इसके प्रारम्भ में तीन मौलिक सूत्रों-मान, विन्यास और अवसान (अवसानाभिधं सूत्रमेवं सूत्रत्रयं स्मृतम्। -अध्याय १५.७) का उल्लेख करते हुए आय, व्ययादि का वर्णन किया गया है।

**षोडश अध्याय :**

प्रस्तुत अध्याय में प्रासाद-विषयक वर्णन है। इस ग्रन्थ में प्रासाद से सम्बन्धित चर्चा दो स्थानों में की गई है-१. इस सोलहवें अध्याय में और २. सैंतीसवें अध्याय में। इन दोनों ही अध्यायों में द्राविड़ देशीय विमानों का वर्णन है, जो कि एक से अधिक (१२ या १६) तलों तक के होते हैं।

इस अध्याय में आगे ऊँचाई से सम्बन्धित माप का विवरण दिया गया है, जिसमें तलों की संख्या (१-१२) तथा विभिन्न श्रेणियाँ हैं। जैसे-अल्पप्रासाद, नागरादि (नागर, द्राविड़, वेसर), महाप्रासाद, पद्‌मप्रासाद आदि। तदनन्तर भवन के विभिन्न तलों का आबंटन देवों की श्रेणी और उनके स्वामित्व के आधार पर पृथक्-पृथक् श्रेणी में किया गया है। इसके आगे मन्दिर के विभिन्न अङ्गभूत भागों, जैसे-स्तम्भ, आधार एवं पीठिका आदि का वर्णन है।

**सप्तदश अध्याय :**

सत्रहवें अध्याय में '**पादाधिष्ठान**' (गर्भविन्यास) का वर्णन समुचित रूप से हुआ है, जो कि मन्दिर का आधार है। इसी प्रकार इसमें स्तम्भ के नीचे की चौकी, जिसे '**उपपीठ**' कहा गया है और इसके साथ स्तम्भों का भी विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है।

**अष्टादश अध्याय :**

इस अध्याय में '**उपपीठ**' के विभिन्न अङ्गों का वर्णन है, जो कि अनेक प्रकार के

हैं। जैसे–वेदिभद्र, प्रतिभद्र, सुभद्रक आदि। ग्रन्थकार ने अधिष्ठान एवं उपपीठ की रचना भवनादि की आवश्यकता के अनुसार मृत्तिका, इष्टका, शिला अथवा काष्ठ से बताई है।

### एकोनविंश अध्याय :

प्रस्तुत अध्याय में **'अधिष्ठान'** का वर्णन विस्तार से किया गया है। अधिष्ठान-विवेचन-क्रम में श्रीकुमार ने मयमत में वर्णित चौदह प्रकार के तथा पराशर के मत में विवेचित दो प्रकार एवं अन्य शिल्पविज्ञों के मतानुसार विवेचित मञ्चक, पादबन्ध और प्रतिबन्ध नामक तीन प्रकार के अधिष्ठानों का उल्लेख किया है।

### विंश अध्याय :

इस अध्याय में नींव और स्तम्भों के सहयोगी अङ्ग के रूप में **'नाल'** के विषय में जानकारी दी गई है। यह जल के बहिर्गमन का साधन है।

### एकविंश अध्याय

यह अध्याय बहुत महत्त्वपूर्ण है, जिसमें भित्तियों वेदिकाओं और स्तम्भों का वर्णन किया गया है। यहाँ पर पांच प्रकार की भित्तियों का उल्लेख हुआ है–**शिलामय**–पत्थरों से निर्मित, **इष्टिकामय**–ईंटों से निर्मित, **जालकामय**–जालकनिर्मित, **फलकामय**–काष्ठों से युक्त तथा **मृण्मय**–मिट्टी से निर्मित। इसके साथ ही इन भित्तियों के लेप और उनके अलङ्करण आदि का भी वर्णन किया गया है। इसके आगे पुष्पखण्ड आदि वेदियों एवं उनके अलङ्करण के प्रमुख तत्त्वों का भी वर्णन है।

इस अध्याय में आगे ब्रह्मकान्त, विष्णुकान्त, इन्द्रकान्त या स्कन्दकान्त, भानुकान्त, चन्द्रकान्त, ईशकान्त और रुद्रकान्त स्तम्भों तथा उनके भेदों का विवेचन है। ये स्तम्भ क्रमशः चतुष्कोण, अष्टकोण, षट्कोण, द्वादशकोण, षोडशकोण, वर्तुलाकार, मूल में चौकोर एवं मध्य में अष्टकोण वाले होते हैं। आगे इन स्तम्भों की सहायक रचनाएँ तथा अलङ्करण के रूप में कलश, पोतिका आदि विस्तृत रूप से वर्णित हैं।

### द्वाविंश अध्याय :

बाईसवें अध्याय में द्वारों, उनके परिमाण तथा सहायक अङ्ग–वृत्त, त्रिखण्ड, शङ्खमण्डल, अर्धगोमूत्र, वल्लीमण्डल सोपानों एवं उनके ऊपर बनाये जाने वाले द्वारों का वर्णन किया गया है।

आगे चौदह अध्यायों में अलङ्करण से सम्बन्धित रचनाओं तथा साँचे से निर्मित वस्तुओं एवं कक्षों, अधिरचनाओं (छतों) और विमान-मन्दिर के शिखर का वर्णन है।

**त्रयोविंश अध्याय :**

तेईसवें अध्याय में तीन प्रकार के तोरणों (वृत्तखण्डों)-पत्र-तोरण, मकर-तोरण तथा चित्र-तोरण का वर्णन है। यहाँ पर स्तम्भ-तोरण का भी उल्लेख हुआ है और अन्त में विशेषतः द्वारों में लगाये जाने वाले मङ्गलदायक अलङ्करणों की गणना की गई है। इन्हें प्रायः **'अष्टमङ्गलक'** नाम से जाना जाता है। जैसे-दर्पण, पूर्णघट, वृषभ, चामरद्वय, श्रीवत्स, स्वस्तिक, शङ्ख तथा दीपक आदि।

**चतुर्विंश से त्रिंश अध्याय :**

चौबीसवें अध्याय में **जालकों** (खिड़कियों) के लक्षण, पच्चीसवें अध्याय में **कूटकोष्ठादि** (Toprooms) तथा छब्बीसवें अध्याय में पञ्जरों का बहुत विस्तृत वर्णन हुआ है। सताईसवें अध्याय में **वृत्तस्फुटित**-आभूषण, अठाईसवें अध्याय में **कुम्भलता**-एक अन्य प्रकार का अलङ्कार, उनतीसवें अध्याय में **उत्तर** अर्थात् स्तम्भों के अलङ्करण का विवेचन है। यह स्तम्भों के उत्तर में रखा जाने वाला फलक होता है, जो तीन प्रकार का होता है-खण्डोत्तर, पत्रोत्तर एवं रूपोत्तर। इसके साथ ही उत्तर से सम्बन्धित **वाजन** का भी विवेचन है, जिसकी संरचना उत्तर संज्ञक फलक के ऊपर होती है। तीसवें अध्याय में **प्रस्तर** अर्थात् स्तम्भ के ऊपरी भाग (कँगूरा) का वर्णन है। ग्रन्थकार के अनुसार इसका प्रमाण स्तम्भ की ऊँचाई का आधा या अधिष्ठान की ऊँचाई के मान के आधार पर रखना चाहिए।

**एकत्रिंश-द्वात्रिंश अध्याय :**

इकतीसवें अध्याय में गल अर्थात् विमान विशेष का ग्रीवा-विन्यास-लक्षण और बत्तीसवें अध्याय में **शिखर**-गोलाकार छत का वर्णन है। इसके विविध प्रकार हैं, जैसे-पाञ्चाल, वैदेह, मागध, कौरव, कोसल, शैरसेन, गान्धार और आवन्तिक। ऊँचाई के आधार पर इनका सप्तविध विभाजन है। जैसे-कालिङ्ग, काश्य, वाराट, कौल्लक, शौण्डिक, काश्मीर और गाङ्गेय।

**त्रयस्त्रिंश से षट्त्रिंश अध्याय :**

तैंतीसवें अध्याय की संज्ञा **'लुपालक्षण'** है, जिसमें लुपा अर्थात् ढालुआ छत के बारे मे विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। यहाँ पर फलक पर लुपाओं की स्थिति

अङ्कित करने की भी चर्चा है। अगले अध्याय में **'मूर्ध्नेष्टका'**–सबसे ऊपर का आभूषण, स्तूपिका-कील, स्तूपिका कील की आकृति, पैंतीसवें अध्याय में नासिका-लक्षण तथा मूर्तिन्यास –प्रासादों या विमानों में प्रतिमाओं को स्थापित करने एवं छत्तीसवें अध्याय में स्थूपिका या स्तूपिका अर्थात् गुम्बद में कलश को स्थापित करने से सम्बन्धित वर्णन है।

**सप्तत्रिंश अध्याय :**

जैसा कि इस बात का उल्लेख पहले ही किया जा चुका है कि इस ग्रन्थ में प्रासाद-विषयक उल्लेख दो स्थानों में हुआ है। यहाँ पर एक विशेष शीर्षक **'शान्तिकादि-नियम'** के अन्तर्गत विभिन्न तलों वाले सदनों की विशेषता का उल्लेख हुआ है, जो निम्नलिखित हैं–शान्तिक, पौष्टिक, जयद, अद्भुत और सार्वकालिक। ये एक से ग्यारह तलों तक होते हैं।

**अष्टात्रिंश अध्याय :**

**'वृत्तषडश्रादिप्रासाद-लक्षण'** नामक अड़तीसवें अध्याय में पुनः एक बार 'प्रासाद' शब्द का प्रयोग हुआ है, जो कि प्रासाद-स्थापत्य और विमान-स्थापत्य, इन दोनों परम्पराओं में अनिश्चितता उत्पन्न करता है। इसे विमान-स्थापत्य के अन्तर्गत पूर्वोक्त शान्तिकादि भवनों और उनकी ऊँचाई आदि से सम्बन्धित समझा जा सकता है तथा प्रासाद-स्थापत्य में प्रासादों के आकार एवं मापादि के अनुपात से भी सम्बन्धित जाना जा सकता है।

**नवत्रिंश अध्याय :**

प्रस्तुत अध्याय में मण्डपों का वर्णन किया गया है, जिसमें उनके विविध प्रकार, जैसे–मुखमण्डप, अर्चनामण्डप, नाट्यमण्डप, नन्द्यावर्तमण्डप, स्वस्तिमण्डप, श्रीप्रतिष्ठि मण्डप, जयभद्रमण्डप, माणिभद्रमण्डप, प्रतिमामण्डप, स्नानमण्डप, नृत्तमण्डप, ब्रह्मासनमण्डप, सिद्धमण्डप, श्रीकरमण्डप, विजयमण्डप, भद्रमण्डप, सभारङ्गमण्डप, अधिवासमण्डप, नाट्यमण्डप आदि विविध मण्डपों एवं उनके रचनागत वैशिष्ट्य का उल्लेख है।

**चत्वारिंश अध्याय :**

चालीसवें अध्याय में प्राकारों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। ये अन्तर्मण्डल, अन्तहारा, मध्यहारा, बाह्यहारा और मर्यादा नाम से पांच प्रकार के हैं। इसके अनन्तर इस अध्याय के अन्त में दीपमाला की भी चर्चा की गई है। यह तद्युगीन प्रकाश-व्यवस्था का साधन था।

**एकचत्वारिंश अध्याय :**

इस अध्याय में गोपुर-स्थापत्य का वर्णन हुआ है। ये द्वारशोभा, द्वारशाला, द्वारप्रासाद, द्वारहर्म्य, तथा द्वारगोपुर नाम से पांच प्रकार के हैं। इनका नियोजन वप्रों एवं प्राकारों में निर्मित द्वारों में किया जाता है। प्रमाणभेद की दृष्टि से इन्हें श्रेष्ठ, मध्यम तथा कन्यस कहा गया है। ग्रन्थकार ने गोपुरों के तलविधान के साथ इनके अलङ्करणादि का भी विवेचन किया है।

**द्विचत्वारिंश अध्याय :**

बयालीसवें अध्याय की संज्ञा **'परिवार-विधान'** है, जिसमें ८ से ३२ संख्या वाले पारिवारिक देवों एवं उन्हें स्थापित करने के स्थानों का वर्णन है। इसके साथ ही प्रकाराश्रित स्थान भी वर्णित हैं।

**त्रिचत्वारिंश-चतुश्चत्वारिंश अध्याय :**

**'बलिपीठलक्षण'** नामक तेंतालीसवें अध्याय में बलिपीठ के निर्माण से सम्बन्धित चर्चा है, जिनके साधनरूप लोह, पाषाण, सुधा और इष्टकाएँ हैं–

**भवन्ति लोहपाषाणसुधा वा मृत्तिकाथवा।।**
**इष्टका वा साधनानि बलिपीठविधाविति।**

–अध्याय ४३.२४-२५

चौवांलीसवें अध्याय में ध्वज तथा इसके स्तम्भ एवं दण्ड आदि का वर्णन है। यहाँ पर ध्वज-स्तम्भ को शिला अथवा लकड़ी से गोलाकार या षोडशकोण वाला अथवा अष्टकोण वाला बनाने का उल्लेख हुआ है। इंसी प्रकार ध्वज-दण्ड की लम्बाई पांच हाथ या सात हाथ अथवा इक्कीस हाथ बताई गई है।

**पञ्चचत्वारिंश-षट्चत्वारिंश अध्याय :**

पैतालीसवें अध्याय में सन्धि-लक्षण का वर्णन किया गया है, जिसका उद्देश्य काष्ठादि द्रव्यों की दृढ़ता और विस्तार आदि की वृद्धि बताया गया है। इस ग्रन्थ के अन्तिम अध्याय में चित्रकला-विषयक चर्चा बहुत विस्तारपूर्वक की गई है, जिसका संक्षिप्त उल्लेख पहले किया जा चुका है।

इस अध्याय की प्रारम्भिक पंक्तियों में यह सङ्केत किया जा चुका है कि भारत में वास्तुशास्त्र के उद्भव से लेकर विकास तक की परम्परा में अनेक ग्रन्थों की रचना हुई, जिनमें से कितने ही ग्रन्थ विदेशी आक्रान्ताओं के द्वारा नष्ट हो गए? और कितने

अन्य ग्रन्थ अन्य परिस्थितियों में लुप्त हो गए? इसकी समुचित जानकारी नहीं है परन्तु फिर भी वर्तमान समय में एतद्विषयक जितने ग्रन्थ संस्कृत में मिलते हैं, वे इस शास्त्र के उद्‌भव और विकास के साथ-साथ प्राचीन भारत में इसके प्रचुर प्रचार को रेखाङ्कित करते हैं।

प्राचीन भारत में इस शास्त्र का महत्त्व बहुत अधिक था, फलस्वरूप तत्कालीन विविध प्रकार की निर्मिति में, यथा–साधरणजन-भवन, राजभवन, देव-प्रासाद, वापी, कूप, तालाब, नगर, तथा उनमें बनाये जाने वाले मार्गादि में वास्तुशास्त्रीय सिद्धान्तों का पूर्णतः पालन किया जाता था, जिसके कारण भारतीय जनता का जीवन जितना समृद्ध और शांति-युक्त था उतना अन्यत्र नहीं था। कालान्तर में पाश्चात्य स्थापत्य-कला या भवन-निर्माण-कला का अन्धानुकरण होने लगा, परिणामतः मानव-जीवन कष्टतर होता गया और आज भौतिक दृष्टि से जीवन की समस्त सुविधाओं से सम्पन्न होने पर भी उसका जीवन अनेक प्रकार की समस्याओं से ग्रसित है। यह ध्यातव्य है कि भारतीय दृष्टिकोण से वास्तु-निर्माण न केवल निर्मिति मात्र अथवा भवन-मात्र है अपितु यह धर्मार्थकाममोक्ष-रूप पुरुषार्थ चतुष्टय के सम्पादन में और ऐहिक एवं पारलौकिक अभ्युदय की सिद्धि में महत्त्वपूर्ण साधन है। अतः यह विद्या एक ओर जहाँ सौन्दर्य-सम्पन्न स्थिरता, वह भी न केवल भवन अथवा गृहादि की, अपितु समस्त परिवार की आयु, आरोग्य, ऐश्वर्य, शान्ति, समृद्धि और वंशवर्धिनी है, वहीं दूसरी ओर श्रौत एवं स्मार्त कर्मफल की साधिका है, जो कि इस प्रकार की विशेषता की कल्पना आधुनिक निर्माण में नहीं की जा सकती है। अतएव सम्प्रति पाश्चात्य देशीय वास्तु-विद्या-विशारद भी भारतीय वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों के अध्ययन में अभिमुख हैं। आज अनेक भारतीय वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों का विदेशी भाषाओं में अनुवाद हो चुका है और आधुनिक युग के कतिपय वैज्ञानिक दृष्टिकोण वाले जन भी भूमिक्रय एवं आवास-निर्माण आदि के लिए यथासम्भव वास्तुशास्त्रीय निर्देशों का पालन करने लगे हैं। अतः यह कहा जा सकता है कि पुनः इस प्राच्य-विद्या की ओर लोगों की प्रवृत्ति बढ़ने लगी है।

वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्रतिपादित विषयों के अवलोकन से इसकी महत्ता और विषय की व्यापकता का बोध और अधिक सहज गम्य हो जाता है। यह सर्वविदित है कि मानव-जन्म के साथ भवन की अनिवार्यता जुड़ी हुई है। जिस प्रकार प्राणमय शरीर के लिए पोषक तत्त्व एवं तन को ढकने और सौंदर्य-श्री के लिए वस्त्र अनिवार्य हैं ठीक उसी प्रकार वैयक्तिक एवं पारिवारिक जीवन के लिए गृह का होना अनिवार्य

है। गृह मानव की सुख-सम्पदा का आधार है, अतः सभी वर्षा, सर्दी, ताप आदि प्राकृतिक आपदाओं से सुरक्षित रहने एवं सुखावाप्ति के निमित्त इसका आश्रय लेते हैं। वस्तुतः गृह, जीवन के सभी अङ्गों का आश्रय है और गृह अथवा भवन का आधार भूमि है, अतः भवनादि के निवेश-हेतु प्रथम भवनोचित देश, प्रदेश, जनपद, सीमा, क्षेत्र, वन, उपवन एवं भूमि आदि की परीक्षा आवश्यक है और स्थापत्य-ग्रन्थों में भूमि-चयन, भू-परीक्षा एवं दिङ्-निर्णय आदि को अत्यन्त महत्त्व प्रदान किया गया है। यह विषय अत्यन्त गम्भीर एवं वैज्ञानिक है परन्तु आजकल प्रायः इन तथ्यों पर बिना विचार किये ही अपनी सुविधा के अनुसार भवनादि का निवेश किया जाता है। भवन का दिक्-साम्मुख्य किस ओर होना चाहिए, किस देवपद पर कौन सा भवनाङ्ग निवेश्य है और कौन से देवपद वर्ज्य हैं, यह ज्ञान-विज्ञान तभी सम्पन्न हो सकता है जब भारतीय स्थापत्य के प्रमुख एवं प्रथम अङ्ग वास्तुपद-विन्यास अथवा वास्तु-पुरुष-मण्डल के मर्म को समुचित रूप से जाना जाये परन्तु वास्तुपद-विन्यास का ज्ञान भी बिना दिक्-साधन के सम्पन्न नहीं होता। प्रकृति में दिशाएँ-विदिशाएँ अपना महत्त्वपूर्ण स्थान रखती हैं। इनके अपने-अपने विशिष्ट गुणधर्म होते हैं, अतः प्राचीन स्थापत्य में दिक्-साधन भवनादि के निवेश में एक अनिवार्य परम्परा है। दूसरे शब्दों मे दिशाएँ प्राचीन भारतीय स्थापत्य-विज्ञान का आधार है। भारतीय स्थापत्य में दिशाओं का ज्ञान न होने का अर्थ है-अन्धकार-व्याप्त स्थल में किसी वस्तु को ढूँढने का प्रयास करना। दिशा-निर्धारण के द्वारा भवनादि के मुख को उपयुक्त दिशा में रखने में सहायता मिल सकती है, जिससे प्रकाश, वायु आदि की अनुकूलता हो सके। इसके अतिरिक्त सभी देशों में परम्परा के अनुसार दिशाएँ शुभाशुभ मानी जाती हैं। भारत सनातन से ही प्राची-दिशा का उपासक रहा है, क्योंकि प्राची में ही भगवान् भास्कर का उदय होता है। भारतीय विश्वास में प्रातःकालीन सूर्य के रश्मि-जाल का उपभोग अत्यन्त स्वास्थ्यकारक है, अतः भवन-विन्यास ऐसा होना चाहिए, जिससे सूर्य की रश्मियों का उद्दाम उपभोग भवन-सम्मुखीन अलिन्द-प्रकोष्ठ में अनायास ही सम्पन्न हो सके और यह व्यवहारिक निरूपण है। इसी प्रकार इन ग्रन्थों में प्रतिपादित ग्राम-निवेश, नगर-निवेश और दुर्ग-निवेश विषयक नियम या सिद्धान्त भी आधुनिक युग में उपादेय हैं। भवनों, प्रासादों में स्तम्भ-रचना और उनके अलङ्करणों की व्याख्या सविस्तार हुई है, जिसके अनुसार स्तम्भों का निर्माण करने पर वास्तव में वे सुन्दर प्रतीत होंगे। भवनों एवं मन्दिरों के निर्माण के लिए एक से बारह तल तक के भवनों को बनाने के लिए जो ऊँचाई आदि के अनुपात एवं उनके भेद-प्रभेद दिये गये है, वे कुछ अस्पष्ट हैं

परन्तु इतना अवश्य प्रमाणित होता है कि प्राचीन काल में भारत में बारह तलों तक के भवनों का निर्माण होता था। इन ग्रन्थों में उपलब्ध राज-प्रासाद-सम्बन्धी वर्णनों से ज्ञात होता है कि राजाओं के हर्म्य सुविधा सम्पन्न होते थे। इनका निवेश विलास की आवश्यकता के अनुसार किया जाता था।

आजकल के निर्माण की दृष्टि से ये वास्तुशास्त्र पूर्णत: उपयोगी तो नहीं हो सकते तथापि भारतीय इंजीनियरी संस्थाओं में प्राचीन भारतीय स्थापत्य-शास्त्रों का संक्षिप्त इतिहास की अध्यापन-व्यवस्था होनी चाहिए जिससे भारतीय अभियन्ता इस देश के स्थापत्य-शास्त्रों पर गौरव अनुभव कर सकें। यह उल्लेखनीय है कि उत्तर-भारत की तुलना में दक्षिण-भारत में स्थापत्य-ग्रन्थों या उनमें प्रतिपादित सिद्धातों को अधिक महत्त्व प्रदान किया गया और उनकी उपयुक्तता पर बल दिया गया । दक्षिण-भारत में अनेक स्थलों पर स्थापत्य-विज्ञान के सिद्धान्तों के अनुसार किये गये निर्माण-कार्य आज भी देखे जा सकते हैं, जो कि प्राचीन भारतीय स्थापत्य-विज्ञान की महत्ता एवं विलक्षणता के प्रतीक हैं।

## तृतीय अध्याय

# प्राचीन भारत के प्रमुख नगर

प्राचीन भारत में नगरों का निवेश जीवन को सुव्यवस्थित, सुरक्षित एवं सुविधामय बनाने के लिए किया जाता था। मनुष्य की भिन्न-भिन्न आवश्यकताएँ दूर-दूर ग्रामों में स्थित पृथक्-पृथक् कार्यों से सम्बद्ध व्यक्तियों को एक स्थान पर एकत्र रहने के लिए प्रेरित करती थीं। सभ्यता के विकास को साथ-साथ आवश्यकताएँ बढ़ने लगीं और उन आवश्यकताओं की सहज पूर्ति सुदूर ग्रामों में रहने वाले व्यापारी, कारीगर और अन्यान्य उपकराणों एवं साधनों को एकत्रित करने वाले व्यक्ति पूर्ण करने में असमर्थ थे, फलतः ग्राम या नगर अथवा समाज के प्रमुख जन इनको एकत्र करने लगे। शासक अपने यहाँ विद्वानों, शिल्पियों तथा गुणवानों को स्थान देने लगे और इस प्रकार छोटे ग्राम, बड़े ग्रामों में और बड़े ग्राम, नगरों में परिवर्तित होने लगे। साथ ही नूतन नगरों का निवेश भी योजना-बद्ध रूप से होने लगा।

पुरनिवेश या नगरनिवेश से सम्बद्ध सैद्धान्तिक पक्ष का ज्ञान तो वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों से प्राप्त हो जाता है परन्तु प्राचीन काल में इन शास्त्रों में एतद्विषयक प्रतिपादित सिद्धान्तों अथवा नियमों का पालन किया जाता था या नहीं, इसकी जिज्ञासा में प्राचीन भारतीय नगरों का समीक्षात्मक अवलोकन आवश्यक हो जाता है, अतः इस अध्याय में प्राचीन भारत के कतिपय प्रमुख नगरों का ऐतिहासिक, सांस्कृतिक, धार्मिक एवं विशेषतः वास्तुशास्त्रीय दृष्टिकोण से समीक्षात्मक अध्ययन प्रस्तुत किया जा रहा है।

### उत्तर-पश्चिम भारत के प्रमुख नगर

**शाकल**—यह उत्तर-पश्चिम भारत का एक प्रमुख नगर था। ब्राह्मण-ग्रन्थों में इसे '**शाकल**', बौद्ध साहित्य में '**सांगल**' और यूनानी लेखों में '**सङ्गल**' कहा गया है। शाकल मद्र देश की राजधानी थी।[१] यह रावी या इरावती के पश्चिम में **आपगा नदी के किनारे** (वर्तमान अयक) स्थित थी। महाभारत में इसे शमीपीलु और करीलों

---

१. कनिंघम : एन्शेन्ट् जिऑग्रफि ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ २६८

के वन के मध्य में स्थित बताया गया है।[१] ह्वेन्सांग (६३० ई०) ने भी शाकल के पास पो-लो-श का वर्णन किया है, जो कनिंघम के मत से पीलु ही हैं। कनिंघम ने पर्याप्त अनुसन्धान के पश्चात् शांगलवाला टिवा नामक पहाड़ी पर स्थित ध्वंसावशेषों को ही शाकल माना है।[२] ई०पू० ३२६ में सिकन्दर ने इस पर आक्रमण करके अपने अधिकार में कर लिया।[३] कर्टियस के अनुसार उस समय इसके चारों ओर एक **ऊँची दीवाल** तथा **गहरी खाई** थी। यूनानी सैनिकों से जान बचाने के लिए कुछ नागरिकों ने इसे तैर कर पार किया था।[४] इससे यह स्पष्ट है कि **तीन प्रकार की परिखाओं** में से यह **उदक- परिखा** थी। एरियन ने इस परिखा को झील कहा है।[५]

कालान्तर में यहाँ के शाक यवनराज मिलिन्द हुआ। मिलिन्दपञ्हो के अनुसार उस समय यहाँ **आराम, उद्यान** तथा **तड़ाग** आदि निर्मित थे। **नदी** तथा **पर्वत** आदि के कारण यह नगर अत्यन्त शोभायमान था। इस नगर की चतुर्दिक् **प्राकार** और **परिखा** का निर्माण किया गया था। **प्राकार में बुर्ज** बने हुए थे। नगर के भीतर **राजमार्ग, नालियाँ** और **चौराहों** का भी निर्माण किया गया था। इसके भीतर श्रेष्ठ **ऊँचे प्रासाद सहस्त्रों की संख्या में पंक्तिबद्ध** थे। इस ग्रन्थ के अनुसार यह व्यापार का भी केन्द्र था।[६]

य्वान् च्वांग ने अपने यात्रा-विवरण में इस नगर के सम्बन्ध में उल्लेख किया है। उसके आगमन के समय यह नगर उजड़ चुका था। नगर-प्राकार के भग्नावशेष स्पष्ट दिखाई दे रहे थ। इसकी नींव २० ली (३.$\frac{१}{३}$ मील) के घेरे में फैली हुई थी। उस समय यह नगर बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र बन चुका था। वहाँ पर स्थित मठ में हीनयान मलावलम्बी एक सौ भिक्षु रहते थे।[७] शाकल नगर वर्तमान में स्यालकोट (पाकिस्तान) के रूप में जाना जा सकता है।[८]

---

१. "शमीपीलु करीराणां वनेषु सुखवर्त्मसु।"- पतञ्जलिकालीन भारत,पृष्ठ ११७ से उद्धृत।
२. कनिंघम : एन्शेन्ट् जिऑग्रफि ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ २०६-२१९
३. कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ् इण्डिया, भाग १, पृष्ठ ५४९-५५०
पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ ११८ से उद्धृत।
४. कनिंघम : एन्शेन्ट् जिऑग्रफि आफ् इण्डिया, पृष्ठ ३६९
५. वही, पृष्ठ ३७०
६. मिलिन्दो नाम सो राजा, सागलायं पुरुतमे। आरामुय्यानोपवनतळागपोक्खरणिसम्पन्नम्। नदीपब्बतवनरामणेय्यकम्। अट्टालकोट्ठकं वरप-गोपुरतोरणं गम्भीरपरिखापण्डरपाकार-परिक्खित्तन्तेपुरम्। सुविभक्त वीथिचच्चरचतुक्कसिंघाटकम्। हिमगिरिसिखरसंकासवर-भवनसतसहस्सप्पटि-मण्डितम्। -मिलिन्दपञ्हो, पृष्ठ १-२
७. य्वान् च्वांग : वाटर्स, १. २९०
८. वही, २. ३३७

**पुष्कलावती**–पुष्कलावती का दूसरा नाम पुष्करावती भी था। यह आधुनिक पेशावर (पाकिस्तान) से लगभग ३० कि०मी० की दूरी पर **सिन्धु नदी के पश्चिम में** स्थित था। इसकी स्थापना भरत ने अपने पुत्र पुष्कल के नाम पर की थी।[१] यह पश्चिमी गान्धार की द्वितीय राजधानी थी। कहा जाता है कि यह नगर प्रसिद्ध **व्यापारिक मार्गों** पर स्थित था, फलस्वरूप राजनीतिक, व्यापापरिक एवं सांस्कृतिक दृष्टि से इसे विशेष महत्त्व प्राप्त हो गया था। इस नगर को भी सिकन्दर के आक्रमण ने क्षति पहुँचाई। समय-समय पर अनेक आक्रमणों के काराण इसकी प्राचीन समृद्धि विलुप्त हो गई। कालान्तर में इसका पुनरुत्थान हुआ। य्वान् च्वांग के यात्रा-विवरण से यह ज्ञात होता है कि उसके आगमन के समय यह नगर पुनः एक समृद्ध नगर का रूप धारण कर चुका था। यहाँ के नागरिक सुखी एवं सम्पन्न थे। इस चीनी यात्री के विवरणानुसार इस नगर की परिधि लगभग ३ मील थी। इसके उपकण्ठ पर अशोक ने एक स्तूप का निर्माण करवाया था।[२] डॉ० अग्रवाल के अनुसार इस नगर की पहचान आधुनिक चारसद्दा (चाषद्दा) से की जा सकती है, जो कि सुवास्तु एवं कुभा के संगम पर स्थित है।[३]

**तक्षशिला**–तक्षशिला **सिन्धु नदी** के पूर्व में बसा हुआ उत्तर-पश्चिम भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। यहाँ पर गांधार की प्राचीन राजधानी थी। रामायण के अनुसार इस नगर की स्थापना भरत ने की थी,[४] जिसका राजा उन्हीं का पुत्र तक्ष था।[५] अनुश्रुति के अनुसार इसके नाम का सम्बन्ध सिन्धु तथा चेनाव नदियों के मध्य में निवास करने वाली तक्क जाति से था।[६] फाह्यान ने अपने यात्रा-विवरण में इस नगर को 'चु-शु-शि-लो' कहा है, जिसका अभिप्राय 'कटा-सिर' होता है।[७]

बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार इस नगर की बौद्धिक क्षेत्र में विशेष ख्याति थी। यह

---

१. "..........पुष्कलं पुष्कलावते।"

–वाल्मीकि रामायण (सम्पादक : शास्त्री), उत्तरकाण्ड, सर्ग १०१.११

२. य्वान् च्वांग : वाटर्स, १. २१५

३. पणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ५५

४. "निवेशयामास तदासमृकद्धे द्वे पुरोत्तमे।"

–वाल्मीकि रामायण (सम्पादक : शास्त्री), उत्तरकाण्ड, सर्ग १०१.१०

५. "तक्षं तक्षशिलायाम्......।" –वही, उत्तरकाण्ड, सर्ग १०१.११

६. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ६७

७. वही, पृष्ठ ६७

शिक्षा-जगत् का सिरमौर समझा जाता था। देश-विदेश के सुदुर भागों से छात्र यहाँ शिक्षा-प्राप्ति-हेतु आते थे।[१] भारत के काशी, कौशाम्बी, राजगृह,[२] कौशल, मिथिला,[३] तथा उज्जयिनी[४] के नागरिक भी विद्याध्ययन के लिए यहाँ एकत्र होते थे। व्याकरण के विश्वविख्यात आचार्य पाणिनि, राजनीति और अर्थशास्त्र के विश्व विश्रुत प्रकाण्ड विद्वान् चाणक्य की शिक्षा सम्भवत: तक्षशिला में ही सम्पन्न हुई थी।[५] आयुर्वेद के आचार्य जीवक के विद्योपार्जन का केन्द्र यही था।[६] उन्होंने यहाँ पर चिकित्साशास्त्र का अध्ययन सात वर्षों तक किया था।[७] यहाँ पर वेद-वेदाङ्ग, अर्थशास्त्र, राजनीति, कृषि, नृत्य-संगीत तथा चित्रकला आदि सभी विषयों की शिक्षा दी जाती थी।[८] इस संस्था ने ई०पू० सातवीं शताब्दी में विश्वविद्यालय का रूप ग्रहण कर लिया था। यहाँ शिक्षा में सदैव नवीन प्रयोग होते थे। परीक्षा व्यावहारिक रूप में वाद-विवाद तथा सभा-गोष्ठियों के द्वारा होती थी।[९]

यहाँ का रहन-सहन सादा जीवन और उच्च विचार से अनुप्राणित था। आचरण की शुद्धता यहाँ की शिक्षा का मूल मन्त्र था। शिक्षा की समाप्ति पर गुरु-दक्षिणा भी दी जाती थी। काशी के राजकुमार ने तक्षशिला में अपने आचार्य को एक हजार मुद्राओं की थैली भेंट की थी।[१०] छात्र अनुशासित और संयमित जीवन व्यतीत करते थे। ई०पू० चौथी सदी में सिकन्दर ने इस नगर पर आक्रमण किया। इस समय यहाँ पर आम्भि का शासन था। आम्भि का राज्य सिन्धु तथा झेलम नदियों के बीच में फैला हुआ था।[११] इस काल में यह नगर उन्नति पर था। एरियन ने इसे समृद्धशाली तथा जनाकीर्ण नगर कहा है।[१२] बिन्दुसार के राज्यकाल में अशोक तक्षशिला का राज्यपाल था। इस स्थान से प्राप्त लेख के अनुसार अशोक का नाम प्रियदर्शि था।[१३] नगरवासियों में अशोक

---

१. जातक, २. १९३
२. वही, ३. ३७८
३. वही, ४. ४८९
४. वही, ३. ३३६
५. अल्तेकर : एज्युकेशन् इन् एन्शेन्ट् इण्डिया, पृष्ठ ११०
६. जातक, ४. ४९८
७. अल्तेकर : एज्युकेशन् इन् एन्शेन्ट् इण्डिया, पृष्ठ १११
८. जातक, २.१११
९. भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ३३२
१०. जातक, ४. ४५६
११. पोस्ट हिस्ट्री ऑफ् एन्शेट् इण्डिया, पृष्ठ १०८
१२. कनिंघम : एन्शेन्ट् जिऑग्रफि ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ १०५
१३. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ६९

अत्यन्त प्रिय था। सम्भवतः इसी कारण उसे प्रियदर्शि कहा जाता था। यवनों के शासन-काल में एक सुनिश्चित योजना के अनुसार इस नगर का पुनर्निर्माण किया गया।[१]

कालान्तर में इस नगर का शासक शक तथा पह्लव राजा हुए। पह्लव सम्राट् फ्राओट्स के शासन काल में ४४ ई० ऐपोलोनियस उसके दरबार में आया था। उसके अनुसार उस समय यह नगर 'निनवेह' के सामन विशाल था। यूनानी नगरों की तरह इसकी **किलेबन्दी** की गई थी। सड़कों की बनावट एंथेंस की सड़कों की तरह थी। नागरिकों के अधिकांश भवन एक मञ्जिले ही थे और नगर के भीतर एक **सूर्यमन्दिर** स्थित था।[२]

चतुर्थ शताब्दी के अन्तिम भाग में फाह्यान का आगमन तक्षशिला में हुआ। उसके अनुसार यहाँ पर कई स्तूप बने हुए थे।[३] सातवीं शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में जब य्वान् च्वांग यहाँ पर आया तो उस समय इस नगर की शोभा क्षीण हो चुकी थी। इसके अनुसार इस नगर की परिधि १०ली (लगभग २ मील) थी। यहाँ पर स्थित अधिकांश मठ ध्वस्त हो चुके थे और यहाँ का स्थानीय शासक कश्मीर-नरेश के अधीन था। यहाँ की जलवायु बहुत उत्तम थी। उसके कथनानुसार नगर की उत्तर-पश्चिम दिशा में कुछ दूरी पर '**एलापत्र का सरोवर**' था जिसमें विभिन्न रंग के **कमल** विकसित थे।[४] आज रावलपिण्डी के उत्तर-पश्चिम में लगभग २० मील की दूरी पर तक्षशिला के अवशेष स्थित हैं। इसे देख कर अनुमान होता है कि इसकी प्राकृतिक स्थिति बहुत अनुकूल थी।[५] तक्षशिला के भग्नावशेष भिरमाउण्ड, सरकप तथा सिरमुख, इन तीन स्थानों पर एक-दूसरे से लगभग ३$\frac{१}{२}$ मील की दूरी पर उपलब्ध हुए हैं। स्थानीय परम्परा के अनुसार तक्षशिला नगर सर्वप्रथम भिरमाउण्ड पर ही बसा था और उत्खनन के द्वारा भी इस बात की पुष्टि हुई है।[६] यहाँ पर इसकी स्थापना वैज्ञानिक ढंग से की गई थी। बाद में ई०पू० द्वितीय शताब्दी के प्रारम्भिक भाग में इण्डो-बैक्ट्रियन राजाओं ने सरकप नामक स्थान पर तक्षशिला के नूतन नगर की स्थापना की और प्रथम शताब्दी ई० के अन्त तक यह नगर यहीं पर स्थित रहा।[७] इस नगर के **चारों ओर मिट्टी की एक**

---

१. मार्शल : गाइड तक्सिला, पृष्ठ १२
२. वही, पृष्ठ १५
३. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ३२
४. य्वान् च्वांग : वाटर्स, १, २७०
५. मार्शल : गाइड तक्सिला, पृष्ठ ४१
६. वही, पृष्ठ ३
७. वही, पृष्ठ ६५

**दीवार** थी, जिसे स्थानीय लोग **धूलकोट** कहते हैं।[१] कालान्तर में (ई०पू० ५०) इसके चारों ओर एक **पक्की दीवार** खड़ी की गई। इसमें पत्थर चुनकर लगाये गये। इसकी लम्बाई लगभग ३$\frac{१}{२}$ मील तथा चौड़ाई १५ फीट से लेकर २१$\frac{१}{२}$ फीट तक थी। दीवार में यथास्थान **तीन मञ्जिलों वाले बुर्ज (अट्टालक)** बने हुए थे। बुर्ज़ की दूसरी और तीसरी मञ्जिल पर **नगर की सुरक्षा के लिए सैनिक** रहा करते थे।[२] बुर्ज पर चढ़ने के लिए सीढ़ियाँ बनी हुई थी। **दीवार में प्रत्येक दिशा में एक बड़ा द्वार** बना हुआ था। इन द्वारों में उत्तर-दिशा में स्थित द्वार, निर्माण की दृष्टि से अत्यन्त महत्त्वपूर्ण था। इसका निर्माण ऐसे स्थान पर किया गया था, जहाँ से किसी आकस्मिक आक्रमण को सरलता से रोका जा सके। इसमें द्वार-मार्ग एक विशाल कमरे के आकार का था, जिसकी लम्बाई ६२ फीट तथा चौड़ाई ३५ फीट थी। इसमें रक्षकों के लिए ४ कमरे भी बने थे, जिनमें से २ कमरे द्वार के अत्यन्त समीप थे तथा २ कुछ दूरी पर स्थित थे।[३] सरकप के प्राचीन अवशेषों में यहाँ का राजमहल अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है, जो कि बहुत विशाल तथा **नगर के मध्य** में स्थित था। इसकी दीवारों तथा स्तम्भों का निर्माण पत्थरों से किया गया था।[४]

अन्त में यह नगर सिरमुख में बसाया गया, जिसका निर्माण कुषाण-काल (प्रथम शताब्दी) में किया गया। इसके **चारों ओर पत्थरों की एक दीवार** का निर्माण किया गया था, जिसकी चौड़ाई **१८ फीट** थी।[५] सरकप तथा सिरमुख के दुर्गों के निर्माण में कई दृष्टियों से अन्तर था। सरकप के दुर्ग में चिने हुए पत्थर खुरदरे थे, जबकि सिरमुख के दुर्ग में चिकने पत्थरों का प्रयोग किया गया था। इसकी **दीवार में छिद्र** बने हुए थे, जिनसे **सैनिक बाहर की शत्रु सेना पर बाण** फेंका करते थे। सरकप के बुर्ज आयताकारा एवं अन्दर से ठोस बने हुए थे, लेकिन सिरमुख के बुर्ज अर्द्धवृत्ताकार थे तथा इनका भीतर भाग ठोस नहीं था। सिरमुख का नगर **आयताकार** होने के साथ-साथ सुरक्षा के **प्राकृतिक** एवं **कृत्रिम साधनों** से भी युक्त था।[६]

**प्रवरपुर**—प्रवरपुर नगर की पहचान आधुनिक श्रीनगर (जम्मू-कश्मीर की ग्रीष्मकालीन राजधानी) से की जाती है। इसका निर्माण प्रवरसेन द्वितीय ने करवाया था।[७] अतः इसे प्रवरसेनपुर कहा जाता था।[८] प्रवरसेन द्वितीय का समय छठी शताब्दी

१. मार्शल : गाइड तक्सिला, पृष्ठ ५-६
२. वही, पृष्ठ ६५
३. वही, पृष्ठ ६६
४. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ७४
५. मार्शल : गाइड तक्सिला, पृष्ठ ९४
६. वही, पृष्ठ ९५-९६
७. राजतरङ्गिणी (भाष्यकार : रघुनाथ सिंह), भाग १, पृष्ठ १३९
८. वही, भाग १, पृष्ठ ३४

का उत्तरार्द्ध माना जाता है, अतएव इस नगर का इतिहास इसी काल से प्रारम्भ होता है। चीनी यात्री युवान् च्वांग ने अपने यात्रा-विवरण में इसे 'नवनगर' कहा है। इससे प्रतीत होता है कि कश्मीर की राजधानी इसी नगर में स्थित थी। उसने कश्मीर की पुरानी राजधानी पाण्डेरथन* अर्थात् पुराधिष्ठानपुर+ से इसकी भिन्नता स्थापित करते हुए इसके अचिराधिष्ठित पुर होने की ओर सङ्केत किया है।[१]

बरनीयर के अनुसार-"कश्मीर प्रदेश तथा उसकी राजधानी दोनों का नाम कश्मीर है।" वस्तुतः पहले श्रीनगर को श्रीनगर न कहकर उसे भी कश्मीर कहा जाता था। सिखों ने सन् १९६१ ई० में जब कश्मीर पर विजय प्राप्त की तो उन्होंने पुनः कश्मीर की राजधानी का नाम श्रीनगर प्रचलित किया। बरनीयर तथा मुसलमान उन्नीसवीं शताब्दी तक श्रीनगर को 'कश्मीर' या 'कशूर' कहा करते थे।[२]

बरनीयर ने श्रीनगर का वर्णन करते हुए लिखा है कि-"नगर के चारों ओर चहारदीवारी नहीं है। यह तीन चौथाई लीग्**(League) लम्बा तथा आधा लीग् चौड़ा शहर है। यह मैदान के अर्द्धचन्द्राकार पर्वत से २ लीग् की दूरी पर बसा हुआ है। यह नगर ताजे पानी वाले सरोवर (Lake) के तट पर स्थित है। यह सरोवर ४ से ५ लीग् होगा। नगर के भवन अधिकतर दो तथा तिमञ्जले हैं, जो कि लकड़ी के बने हैं। कुछ पुराने भवन तथा प्रायः पत्थरों से निर्मित मन्दिर टूटे हुए हैं। **नगर के बीच** से एक नदी (झेलम या वितस्ता) बहती है। नदी के किनारे पर स्थित प्रायः **सभी घरों के साथ वाटिकाएँ हैं** अर्थात् नगर में वाटिका-गृहों की अधिकता है। वे गर्मी तथा वसन्त ऋतु में अत्यन्त रुचिकर लगते हैं। नगर के भीतर भाग के बहुत से **घरों में वाटिकाएँ हैं।**"[३]

---

१. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ७६

२. राजतरङ्गिणी (भाष्यकार : रघुनाथ सिंह), भाग १, पृष्ठ १४० से उद्धृत।

३. वही (भाष्यकार : रघुनाथ सिंह), भाग १, पृष्ठ १४०

* जनरल कनिंघम ने वर्तमान ग्राम पाण्डेरथन अर्थात् पुराधिष्ठानपुर को अशोक-निर्मित श्रीनगरी की संज्ञा दी है। उन्होंने इसका निर्धारण कल्हण के राजतरङ्गिणी १.१२ तथा ३.९९ के आधार पर किया है। श्रीनगरी का अर्थ संपदा, वृद्धि, या कीर्ति तथा सरस्वती की नगरी है। यह श्रीनगरी वर्तमान श्रीनगर से २ मील ऊपर श्रीनगर-अनन्तनाग मार्ग पर तथा वितस्ता के वाम तट पर स्थित है। -(राजतरङ्गिणी, भाष्यकार : रघुनाथ सिंह, भाग १, पृष्ठ १३८)

\+ पुराधिष्ठान शब्द का अर्थ पुरानी राजधनी है। वस्तुतः नगर का नाम अधिष्ठान था। नगर प्राचीन होने पर उसमें पुरा अर्थात् प्राचीन शब्द विशेषण की तरह जोड़ दिया गया था।
-(राजतरङ्गिणी, भाष्यकार : रघुनाथ सिंह, भाग १, पृष्ठ १३९)

** (लीग्) : क्रोशः, क्रोशयुगम्। (इंग्लिश तथा संस्कृत शब्दकोश, मोनियर विलियम्स, पृष्ठ ४४३)

राजतरिङ्गिणी से यह भी विदित होता है कि प्रवरपुर में भट्टारक तथा सङ्ग्रामकक्षेत्र आदि कुछ मठ बने हुए थे। दिद्दा ने अपने पुत्र को भट्टारक मठ में भेजा था।[१] सङ्ग्रामकक्षेत्र मठ का निर्माण कश्मीराधिपति अनन्तदेव ने करवाया था।[२] इस प्रकार इस नगर में यहाँ के सम्राट् हलधर ने भी वितस्ता तथा सिन्धु नदी के सङ्गम पर एक मठ बनवाया था।[३]

विक्रमाङ्कदेवचरित में बिल्हण ने प्रवरपुर को कश्मीर का प्रमुख नगर बताया है।[४] नगर के पास में बहने वाली वितस्ता नदी की कुटिल तरङ्गों के कारण इसकी शोभा द्विगुणित हो जाती थी।[५] इसके उद्यानों की शोभा रमणीय थी।[६] नगर में अत्यन्त तेजस्वी ब्राह्मण निवास करते थे।[७] यहाँ के विद्वान् लोग शास्त्र-व्याख्यान की शोभा से प्रणय करने वाले तथा जगत् भर में दुर्लभ अर्थात् बृहस्पति से भी अधिक प्रतिभाशाली थे।[८] यहाँ की निवासिनी स्त्रियाँ भी मातृभाषा के समान ही संस्कृत तथा प्राकृत में वार्तालाप करती थीं।[९]

## मध्यदेश के प्रमुख नगर

**थानेश्वर**—इस नगर का प्राचीन नाम स्थाण्वीश्वर था। यह आधुनिक दिल्ली तथा प्राचीन इन्द्रप्रस्थ नगर के उत्तर में अम्बाला तथा करनाल के मध्य में स्थित था। महाभारत मे इसे **सरस्वती** तथा **दृषद्वती** नामक **नदियों के बीच** में स्थित बताया गया है।[१०] बाणभट्ट ने हर्षचरित में इस नगर का भव्य वर्णन किया है। इस ग्रन्थ के अनुसार नगर के सौन्दर्य को देखकर ऐसा आभास होता था, मानो वह स्वर्ग का एक भाग हो।[११]

१. प्रविष्टेषु ततः कोपात्पुरं शुभधरादिषु।
भट्टारकमठे दिद्दा भूयः पुत्रं व्यसर्जयत्।। –राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ६.२४०
२. वही, तरङ्ग ७.१८५
३. तेनायासहृता नीतः कचत्स्वर्णैः सुरास्पदैः।
शोभा मठाग्रहारेश्च वितस्तासिन्धुसङ्गमः।। –वही, तरङ्ग ७. २१४
४. "काश्मीरेषु प्रवरपुरमित्यस्ति मुख्यं पुराणाम्।" –विक्रमाङ्कदेवचरित, सर्ग १८, पृष्ठ १७७
५. "यस्यायान्ति प्रकृतिकुटिलास्ते वितस्तातरङ्गाः।" –वही, सर्ग १८, पृष्ठ १७७
६. "उद्यानेभ्यः सकलभुवनाश्चर्यमाधुर्यधुर्यम्
पीत्वा द्राक्षारसमिव करैर्जातसन्तापशान्तिः।" –वही, सर्ग १८, पृष्ठ १७८
७. "यस्मादुच्चैः स्फुरितमहसां ब्राह्मणानां निवासाः।" –वही, सर्ग १८, पृष्ठ १७९
८. "व्याख्याभिख्याप्रणयिनि जगद्दुर्लभे सूरिचक्रे।" –वही, सर्ग १८, पृष्ठ १८०
९. "यत्र स्त्रीणामपि किमपरं जन्मभाषावदेव
प्रत्यावासं विलसति वचः संस्कृतं प्राकृतं च।" –वही, सर्ग १८, पृष्ठ १८१
१०. दक्षिणे सरस्वत्या उत्तरेण दृषद्वतीम्।
ये वसन्ति कुरुक्षेत्रे ते वसन्ति त्रिविष्टपे।। –महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८१.१७५
११. "एकदेश इव सुरराज्यस्य।" –हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ ७१

इसका वैभव कुबेर की नगरी अलका के समान था।[१] यूवान च्वांग ने अपने यात्रा-विवरण में इस नगर का नाम स-त-नी-शी-फ-लो बताया है।[२] ह्वेनसांग के अनुसार इस नगर में अनेक शिक्षा-संस्थान, सङ्गीतशाला, मठ एवं मन्दिर विद्यमान थे।[३] अल्बरूनी के अनुसार कुरुक्षेत्र के समीप स्थित होने के कारण यह नगर धर्म का एक प्रतिष्ठित केन्द्र था। इसके दर्शनार्थ बहुसंख्या में लोग एकत्रित होते थे। इसकी पवित्रता का कारण महाभारत के युद्ध में वासुदेव की कृतियों के साथ इसका सम्बन्ध होना था।[४]

थानेश्वर नगर छठी शताब्दी के अन्त में पुष्यभूति वंश की राजधानी बन गया था। इसके शासक प्रभाकरवर्धन ने इसे एक विशाल साम्राज्य का केन्द्रीय नगर बनाया, जिसके अन्तर्गत मालवा, उत्तर-पश्चिमी पञ्जाब तथा राजपूताना का कुछ भाग आता था।[५] हर्ष ने जब अपने साम्राज्य की राजधानी कन्नौज को बनाया तब से निरन्तर इसका महत्त्व कम होता गया। सातवीं-आठवीं शताब्दी में हूणों के आक्रमण के कारण इस नगर का पतन हो गया। १०१४ ई० में सुलतान महमूद ने इस पर आक्रमण करके इसे गजनवी साम्राज्य का अङ्ग बना लिया। इसके समीपस्थ भू-भाग पर तराइन के दो तथा पानीपत के तीन युद्ध हुए, जो इसके महत्त्व के सूचक हैं।

**इन्द्रप्रस्थ**–इस नगर का निर्माण पाण्डवों ने खाण्डववन को जलाकर किया था। यह कुरुजनपद की राजधानी थी। महाभारतकाल में यह एक भव्य, सुव्यवस्थित और वैभव-सम्पन्न नगर था। इन्द्रप्रस्थ का क्षेत्रफल २१ मील था।[६] महाभारत में इस नगर का विस्तृत विवरण उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ के अनुसार यह नगर **कई परिखाओं से घिरा हुआ** था।[७] इसके **चारों ओर उच्च प्राकार विद्यमान** थे।[८] **प्राकार में अट्टालक** तथा **द्वार (गोपुर)** बने हुए थे। **प्राकार पर विध्वंसकारी शस्त्र एकत्रित** थे।[९] **धवल एवं उत्तुङ्ग भवनों के कारण** इसकी शोभा अन्वेक्षणीय थी।[१०]

१. हर्षचरित, तृतीय उच्छ्वास, पृष्ठ ७१-७२
२. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.३३७
३. भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ३३३
४. सखाऊ, २. १४७
५. भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ३३३
६. जातक, ५.५३७ तथा बोधिसत्त्वावदानकल्पलता, पल्लव ३ तथा ६४
७. "सागरप्रतिरूपाभिः परिखाभिरलङ्कृतम्।" –महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९. २९
८. "प्राकारेण च सम्पन्नम्...........।" –वही, आदिपर्व अध्याय १९९.२९
९. विविधैरतिनिर्विद्धैः शस्त्रोपतैः सुसंवृतैः।
   शक्तिभिश्चावृतं तद्धि द्विजिह्वैरिव पन्नगैः।
   तल्पैश्चाभ्यासिकैर्युक्तं शुशुभे योधरिक्षतम्।।
   तीक्ष्णाङ्कुशशतघ्नीभिर्यन्त्रजालैश्च शोभितम्।
   आयसैश्च महाचकैः शुशुभे तत्पुरोत्तमम्।। –वही, आदिपर्व, अध्याय १९९. ३२-३३
१०. सुविभक्तमहारथ्यं देवताबाधवर्जितम्।
   विरोचमानं विविधैः पाण्डुरैर्भवनोत्तमैः।। –वही, आदिपर्व, अध्याय १९९.१३४

इस नगर में सभी भाषाओं के बोलने वाले लोग रहा करते थे।[१] यहाँ पर सभी प्रकार के कारीगर भी रहते थे।[२] नगर के विभिन्न भागों में यथास्थान **मनोहर चित्रशालाएँ** बनी हुई थीं।[३] यहाँ **कई वाटिकाएँ** भी थीं, जिनमें आम्र, आम्रातक (अमरे), कदम्ब, अशोक, चम्पक, नागकेशर, कटहल तथा बडहर आदि **तरह-तरह के वृक्षारोपित थे।**[४] यहाँ पर **स्थित सरोवरों का जल विकसित कमलों से सुगंधित** हो गया था। हंस, कारण्डव तथा चक्रवाक आदि पक्षियों के कारण उनकी शोभा द्विगुणित हो रही थी।[५] नगर के नागरिक सुशिक्षित, सभ्य तथा धार्मिक प्रवृत्ति वाले थे।[६] नाना प्रकार के वृक्षों, फूलों तथा पक्षियों आदि के द्वारा यह नगर अमरावती की शोभा की याद दिला रहा था।[७] लगभग छठीं शताब्दी ई०पू० यह नगर वैभवहीन हो गया।

**हस्तिनापुर**—हस्तिनापुर की स्थापना महाभारत के युद्ध से पूर्व की गई थी। यह प्राचीन भारतवर्ष का एक प्रतिष्ठित नगर तथा पाण्डवों की राजधानी थी। पाणिनि ने अष्टाध्यायी में इसे हास्तिनपुर कहा है।[८] पतञ्जलि के अनुसार यह नगर **गङ्गा-तट** पर बसा हुआ था।[९] कनिंघम ने इसे मेरठ की मवाना का एक पुराना कस्बा माना है।[१०] महाभारत में प्राप्त विवरणानुसार हस्तिन् नामक व्यक्ति ने इस नगर की नींव डाली थी।[११] पुराणों [१२] तथा विविध तीर्थकल्प में भी इसकी स्थापना के सम्बन्ध में कहा

---

१. निवासं रोचयन्ति स्म सर्वभाषाविदस्तथा।। –महाभारत, आदिपर्व, अध्याय १९९.३७

२. सर्वशिल्पविदश्चैव वासायाम्यागमंस्तदा।।–वही, आदिपर्व, अध्याय १९९.३८

३. "मनोहरैश्चित्रगृहैस्तथा...................।" –वही, आदिपर्व, अध्याय १९९.४४

४. उद्यानानि च रम्याणि नगरस्य समन्ततः।
पुंनागैर्नागपुष्पैश्च लकुचैः पनसैस्तथा।
शालतालकदम्बैश्च बकुलैश्च सकेतकैः।
मनोहरैः पुष्पितैश्च फलभारावनामितैः।
प्राचीनामलकैर्लोध्रैरङ्कोलैश्च सुपुष्पितैः।।
जम्बूभिः पाटलाभिश्च कुब्जकैरतिमुक्तकैः।
करवीरैः परिजातैरन्यैश्च विविधैर्द्रुमैः।। –वही, आदिपर्व, अध्याय १९९.३९–४२

५. सरोभिरतिरम्यैश्च पद्मोत्पलसुगन्धिभिः।
हंसकारण्डवयुतैश्चक्रवाकोपशोभितैः।। –वही, आदिपर्व, अध्याय १९९.४५

६. नित्यमार्यजनोपेतं नरनारीगणैर्युतम्। –वही, आदिपर्व, अध्याय १९९

७. शुशुभे तत्पुरश्रेष्ठं नागैर्भोगवती यथा।। –वही, आदिपर्व, अध्याय १९९. १३०

८. पाणिनिकालीन भारतवर्ष, पृष्ठ ८६

९. अनुगङ्गं हास्तिनपुरम्। –महाभाष्य, २.१.१५, पृष्ठ ३६४

१०. कनिंघम : एन्शेन्ट् जिऑग्रफि ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ७०२

११. "जज्ञे हस्ती। य इदं पुरं हास्तिनपुरं मापयामास। एतदस्य हास्तिनपुरत्वम्।।"
–महाभारत, आदिपर्व, अध्याय ९०. ३६

१२. (क) भागीरथ्यां क्षिपामयाशु नगरं नागसाह्वयम्। -विष्णुपुराण, ५, अध्याय ३५. ३०
(ख) "हास्तिनपुरम्" –वही, ५, अध्याय ३५, पृष्ठ ८५५

गया है कि–इसे हस्तिन् ने **भागीरथी के तट** पर बसाया था।[१] महाभारत के अनुसार यह नगर **अनेक प्रकार के शस्त्रों से युक्त** था, अतः इसके भीतर शत्रुओं का प्रवेश करना दुष्कर था।[२] इसके **प्राकार में गोपुर** बने हुए थे, जो कि **बहुत ऊँचे** थे।[३] नगर का **आन्तरिक भाग राजमार्गों के द्वारा विभक्त** था।[४] **मार्गों के दोनों ओर हर्म्य, प्रासाद** तथा **दुकानें** सुशोभित थीं।[५] नगर के **मध्यभाग में राजहमहल का निर्माण** किया गया था।[६] यहाँ पर अनेक **सरोवर** तथा **उद्यान** भी विद्यमान थे।[७] यहाँ के नागरिक होमपरायण तथा यज्ञादि में श्रद्धा रखते थे।[८] धन-धान्य से सम्पन्न तथा धर्मनिरत लोगों से युक्त इस नगर की शोभा इन्द्रलोक के समान थी।[९] पुराणों के अनुसार इस नगर के विनाश का कारण गङ्गा की बाढ़ थी।[१०] जब यह महानगर गङ्गा से कटकर बह गया, उस समय यहाँ के शासक अधिसीम कृष्ण के पुत्र निकक्षु थे। नगर के विनाश के पश्चात् यहाँ के राजा कौशाम्बी में जाकर रहने लगे।[११]

**मथुरा**–पुराणों में मथुरा नगरी को भारत की सात मोक्षप्रदायिका नगरियों में गौरवपूर्ण स्थान प्राप्त है।[१२] इसकी स्थापना का श्रेय शत्रुघ्न को दिया जाता है। शत्रुघ्न ने मधुवन के निवासी मधु नामक राक्षस को मारकर तथा उस सघन वन को काटकर इस नगर को बसाया था।[१३] पार्जिटर ने शत्रुघ्न द्वारा लवणासुर को मारकर एवं मधुवन नामक अरण्य को काटकर मथुरा को बसाने का उल्लेख किया है।[१४] मधुवन को

---

१. पतञ्जलिकालीन भारत, पृ० ११८
२. "शतघ्नीचक्रयन्त्रैश्च गुप्तामन्यैर्दुरासदाम्।" –महाभारत, आदिपर्व, परिशिष्ट, ४८.८
३. "कैलासशिखराकारैर्गोपुरैः समलङ्कृताम्।" –वही, आदिपर्व, परिशिष्ट, ३८.१२
४. "राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिताम्।" –वही, आदिपर्व, परिशिष्ट, ४८.११
५. "हर्म्यप्रासादसम्बाधां नानापण्यभूषिताम्।"–वही, आदिपर्व, परिशिष्ट, ४८.९
६. "तस्मिन्नगरमध्ये तु राजवेश्मप्रतिष्ठिम्।" –वही, आदिपर्व, परिशिष्ट, ४८.२२
७. "सर्वपुष्पकरणीभिश्च उद्यानैश्च समावृताम्।" –वही, आदिपर्व, परिशिष्ट ४८, १५
८. "कृतयुक्तैश्च विद्वद्भिरग्निहोत्रपरैः सदा।"–वही, आदिपर्व, परिशिष्ट ४८, १८
९. "एवंविधजनोपेतं इन्द्रलोकमिवापरम्।" –वही, आदिपर्व,परिशिष्ट, ४८, २१
१०. "गङ्गायापहते हस्तिनापुरे।" –विष्णुपुराण ४, अध्याय २१.३, पृष्ठ ६१५
११. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ ११८
१२. अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
    पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः।।
    –गरुडपुराण, उत्तरखण्ड (प्रेतकल्प) अध्याय २८. ३
१३. तस्मिन्मधुवनस्थाने मधुरा नाम सा पुरी।
    शत्रुघ्नेन पुरा सृष्टा हत्वा तं दानवं रणे।। –हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय ५८. ५६
१४. (क) पतञ्जलिकानीन भारत, पृष्ठ ११९ से उद्धृत।
    (ख) निवेशनं च शत्रुघ्नः श्रावणेन समारभत्।। –वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ७०.८

काटकर बसाये जाने के कारण मथुरा का प्राचीनतम नाम मधुरा था। रघुवंश में भी इसका यही नाम प्राप्त होता है।[१] महाभाष्यकार पतञ्जलि ने भी इसे मधुरा कहा है।[२] कालान्तर में यह नगर मथुरा के नाम से प्रसिद्ध हो गया। विदेशी इतिहासकारों ने इस नगर को मेथोरा[३], म-त-औ-लो[४] तथा मो-तु-लो[५] कहा है। हरिवंश में मथुरा को **अर्द्धचन्द्राकार** एवं **यमुना के तट पर स्थित** बताया गया है।[६] मत्स्यपुराण में अर्द्धचन्द्राकार नगर की प्रशंसा की गई है[७] परन्तु अग्निपुराण में इस प्रकार के नगर को अप्रशस्त बताया गया है।[८] हरिवंश के अनुसार मथुरा नगरी के **चारों ओर गहरी परिखा, अट्टालकों से युक्त प्राकार** तथा **उपवन** आदि स्थित थे। वहाँ के नागरिक सम्पन्न थे।[९] कालिदास ने रघुवंश में मथुरा नगरी के सम्बन्ध में लिखा है कि-पौरुषयुक्त शत्रुघ्न द्वारा निर्मित कालिन्दीतटवर्तिनी मथुरा परमाकर्षक थी।[१०]

मथुरा ने अनेक राजनीतिक उत्थान और पतन देखे हैं। इसका सम्बन्ध कृष्ण के जीवन के साथ रहा है, अतः प्राचीन ग्रन्थों में अनेक स्थानों पर इसका वर्णन प्राप्त होता है। रामायण के अनुसार शत्रुघ्न ने यहाँ शासन किया।[११] शत्रुघ्न-द्वारा शासित इस पुरी के निवासी भयमुक्त, दिव्य सुख-सुविधा-सम्पन्न, नीरोग एवं वीर थे। यमुनातट पर अर्धचन्द्राकार रूप में निवेशित इस पुरी में अनेक सुन्दर **गृह, चौराहे, बाजार, उद्यान**

---

१. ..........मथुरां मधुराकृतिः।" रघुवंश, १५. २८

२. मधुरापञ्चालाः। महाभाष्य, १. २. ५१, पृष्ठ ६२

३. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ८४

४. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ४२

५. व्यान् च्वांग : वाटर्स , १.३०१

६. अर्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीरशोभिता। हरिवंशपुराण, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४.६०

७. "अर्द्धचन्द्रं प्रशंसन्ति नदीतीरेषु तद्वसन्।" -मत्स्यपुराण, अध्याय २१७.१४

८. " .....चन्द्रार्धाभ पुरं न हि।" -अग्निपुराण, अध्याय १०६.४

९. सा पुरी परमोदारा साट्टप्राकारतोरणा।
स्फीता राष्ट्रसमाकीर्णा समृद्धबलवाहना।।
उद्यानवनसम्पन्ना सुसीमा सुप्रतिष्ठिता।
प्रांशुप्राकारवसना परिखाकुलमेखला।।
चाट्टालकेयूरा प्रासादवरकुण्डला।
सुसंवृतद्वारवती चत्वरोद्गारहासिनी।। -हरिवंशपुराण, हरिवंशपर्व, अध्याय ५४.५७-५९

१०. उपकूलं स कलिन्द्याः पुरीं पौरुषभूषणः।
निर्ममे निर्ममोऽर्थेषु मधुरां मधुराकृतिः।। -रघुवंश, सर्ग १५.२८

११. वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग ६०-७२

और **विहार-स्थल** सुशोभित थे।[१] इस नगरी में चारों वर्णों के लोग निवास करते थे तथा विविध प्रकार के वाणिज्य और व्यवसाय इसकी शोभा को बढ़ाते थे। यहाँ पर वस्तुओं के क्रय-विक्रय के उद्देश्य से अनेक देशों के वणिग्जनों का आगमन होता था।[२] महाभारत एवं पुराणों से विदित होता है कि यहाँ पर यादवों का भी शासन रहा हैं।[३] पाणिनि ने अष्टाध्यायी में 'अन्धक-वृष्णि' का उल्लेख किया है।[४] यहाँ पहले अन्धक और वृष्णि निवास करते थे।[५] बाद में वे राक्षसों के भय से यहाँ से चले गये और द्वारवती को राजधानी बनाया।[६] अन्धकों के शासन-काल में मथुरानगरी उग्रसेन के अधिकार में थी।[७] महाभारत में भी वृष्णिगण का उल्लेख प्राप्त होता है। वृष्णि-वंशी कृष्ण इसके प्रधान थे।[८] इस गण के सदस्य यादव, भोज और अंधक-वृष्णि थे, जो उनके अधीन थे।[९]

मथुरा का सम्बन्ध राजगृह, वैशाली, कौशाम्बी, वाराणसी तथा श्रावस्ती आदि उत्तरी भारत के तत्कालीन महानगरों से था। उज्जयिनी एवं भृगु कच्छ आदि के साथ भी इसका सांस्कृतिक सम्बन्ध था। युद्धकाल में मथुरा के शासक को मातृपक्ष द्वारा उज्जयिनी से सम्बन्ध होने के कारण अवन्तिपुत्र कहते थे।[१०] सम्भवतः युद्धकाल में

---

१. स पुरा दिव्यसंकाशो वर्षे द्वादशमे शुभे।
निविष्टः शूरसेनानां विषयश्चकुतोभयः।।
अरोगवीरपुरुषा शत्रुघ्नभुजपालिता।
अर्धचन्द्रप्रतीकाशा यमुनातीरशोभिता।
शोभिता गृहमुख्यैश्च चत्वरापणवीथिकैः।।
आरामैश्च विहारैश्च शोभयानां समन्ततः।-वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड,सर्ग ७०.९-११, १३

२. चातुर्वर्ण्यसमायुक्ता नानावाणिज्यशोभिता।।
तां पुरीं दिव्यसंकाशां नानापण्योपशोभिताम्।
नानादेशगतैश्चापि वाणिग्भिरुपशोभिताम्।। -वही, उत्तरकाण्ड, सर्ग ७०.११, १४

३. विष्णुपुराण, ४, अध्याय १२-१३ तथा वायुपुराण, अध्याय ९६

४. राजन्यबहुवचनद्वन्देऽन्धकवृष्णिपु। -अष्टाध्यायी, ६.२.३४

५. ब्रह्मपुराण, अध्याय ३४

६. हरिवंशपुराण, हरिवंशपर्व, अध्याय ३९

७. पतञ्जलिकालीन भारत,पृष्ठ १२० से उद्धृत।

८. भेदाद्विनाशः संघानां संघमुख्योऽसिकेशव।
यथा त्वं प्राप्य नोत्सीदेदयं संघस्तथा कुरू।। -महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ८१.२५

९. माधवाः कुकुरा भोजाः सर्वे चान्धकवृष्णयः।
त्वय्यासत्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ये। -वही, शांतिपर्व, अध्याय ८१.२९

१०. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२० से उद्धृत।

मथुरा में बौद्ध-धर्म का विशेष प्रभाव न होने के कारण अङ्गुत्तर निकाय में इसका वर्णन दोषयुक्त एवं घृणित रूप में हुआ है। इस ग्रन्थ में यहाँ की सड़कें विषम, रजोमयी, चण्डशुनका, दुर्लभपिण्डा और वालायक्खा (पशु-प्रेतों से युक्त) बताई गई है।[१] पतञ्जलि ने महाभाष्य में बहुत आत्मीयता के साथ अनेक बार मथुरा नगरी का उल्लेख किया है। उनके अनुसार मथुरा का कुरुजनपद से व्यापारिक सम्बन्ध घनिष्ठ था। बहुसंख्या में कुरु लोगों का मथुरा में गमनागमन होते रहता था। कुरु के साथ मथुरा के मधुर सम्बन्ध थे।[२] मथुरा के निवासी स्वास्थ्य और सौंदर्य के लिए प्रसिद्ध थे। पतञ्जलि ने इनकी प्रशंसा करते हुए लिखा है कि साङ्काश्य और पाटलिपुत्र निवासियों से माथुर लोग अधिक सुन्दर एवं सुसंस्कृत थे।[३]

गुप्त साम्राज्य के उत्थान से पूर्व मथुरा नगरी शकों, कुषाणों और नागवंशी राजाओं के अधीनस्थ रही। नागवंशी राजाओं के शासन मथुरा पर लगभग डेढ़ सौ वर्षों (१८० ई० से ३३५ ई०) तक रहा। गुप्तकाल में मथुरा में शैव, जैन, बौद्ध आदि विभिन्न धर्मों का विकास स्वाभाविक रूप से हुआ। मथुरा से प्राप्त गुप्त-कालीन कृष्ण, शिव, विष्णु, बुद्ध, जैन आदि मूर्तियाँ इस तथ्य की पुष्टि करती हैं कि-गुप्तकाल में नागरिकों को पूर्ण स्वतन्त्रता थी। गुप्तकालीन चीनी यात्री फाह्यान ने मथुरा-वासियों की समृद्धि और शिष्टता की प्रशंसा की है। उसके अनुसार मथुरा में अनेक बौद्ध मठ स्थित थे, जो कि भिक्षुओं से भरे रहते थे। इस काल में यहाँ पर बौद्ध धर्म का बहुत प्रभाव था।[४]

गुप्त-साम्राज्य के पतन के बाद मथुरा कान्यकुब्ज साम्राज्य का अङ्ग बन गया और इसमें विशेषतः मौखरि, पुष्यभूति, प्रतीहार एवं गाहड़वाड़ आदि राजवंशों ने राज्य किया। हर्षकाल में ह्वेनसांग का मथुरा आगमन हुआ था। उसने लिखा है कि-वहाँ के नागरिक सम्पन्न और सभ्य थे। नगर के बौद्धमठ बहुसंख्या में थे, जिनमें रहने वाले भिक्षुओं का जीवन सरल और पवित्र था।[५] बाद में यहाँ मुस्लिम साम्राज्य स्थापित हो गया।

प्राचीन मथुरा नगरी इन्द्रप्रस्थ और कौशाम्बी के मध्य एवं **यमुना के दक्षिण तट**

---

१. अङ्गुत्तर-निकाय, ३. २५६
२. "बहुकुरुचरा मथुरा प्रियकुरुचरा मथुरा।"-महाभाष्य, ४.१.१४, पृष्ठ ४२
३. "साङ्काश्यकेभ्यश्च पाटलिपुत्रकेभ्यश्च माथुरा अभिरूपतरा इति।" -वही, १. १. ५७
४. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ४२
५. य्वान् च्वांग : वाटर्स, १.३०१

पर स्थित थी। यहाँ से गङ्गा-तट पर अवस्थित सांकाश्यनगर की दूरी चार योजन थी।[१] वर्तमान मथुरा यमुना के कटाव के कारण उत्तर की ओर हट गई है। पतञ्जलि ने पाटलिपुत्र को इससे पूर्व-दिशा में स्थित बताया है।[२]

**कान्यकुब्ज**–कान्यकुब्ज भारतवर्ष का एक प्राचीन नगर था। इसके कन्यकुब्ज[३], कन्याकुब्ज[४] तथा कन्याकुब्जा[५] आदि नाम प्राप्त होते हैं, परन्तु अधिक प्रचलति नाम कान्यकुब्ज ही था। इसके अन्य नामों में महोदय या महोदया[६], गाधिपुर[७], गाधिनगर[८] एवं कुशस्थल[९] आदि भी थे। गाधिपुर तथा गाधिनगर नाम का सम्बन्ध इसके गाधि नामक शासक से था, जो कि यहाँ का एक प्रतापी सम्राट् था।[१०] इस नगर का संस्थापक कुश का पुत्र कुशनाभ था।[११] सम्भवतः इसके पिता कुश के कारण इसे कुशस्थल कहा जाता था। इसे कभी-कभी कौश भी कहा जाता था।[१२] रामायण के अनुसार कान्यकुब्ज विश्वामित्र की जन्मभूमि थी।[१३] भागवतपुराण में इसे अजामिल की नगरी कहा गया है।[१४] चीनी यात्री फाह्यान के विवरणानुसार यह नगर गङ्गा के तट पर अवस्थित था। इसमें केवल दो सङ्घाराम स्थित थे, जिसमें हीनयान मलावलम्बी रहते थे।[१५]

छठी शताब्दी के उत्तरार्ध मे मौखरि वंश के राजाओं ने उत्तरी भारत की राजधानी

---

१. कच्चायन : पाली ग्रामार, भाग ३, अध्याय १
२. पूर्वं मथुरायाः पाटलिपुत्रमिति। –महाभाष्य, १.१.५७ पृष्ठ ४७२
३. राजतरङ्गिणी, तरङ्ग १. ११७
४. एपिग्राफिआ इण्डिका, १, पृष्ठ २१९
५. काव्यमीमांसा, अध्याय १७, पृष्ठ २३८
६. "कान्यकुब्जा महोदया।" –वही, अध्याय १७, पृष्ठ २३८
७. (क) "गाधिपुरम्"–शब्दकल्पद्रुम, भाग-२, पृष्ठ ८५
(ख) राजतरङ्गिणी, पादटिप्पणी, पृष्ठ १७३
(ग) अभिधानराजेन्द्र कोष, ४. ३९
८. इण्डियन् ऐण्टिक्वैरी, १५. ४१
९. "कुशस्थलम् कान्यकुब्जम्"। –अभिधान-संग्रह, २. १९३
१०. हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृष्ठ ४
११. "कुशनाभस्तु धर्मात्मा पुरं चक्रे महोदयम्।"
–वाल्मीकि रामायण (सम्पादक : शास्त्री), बालकाण्ड, सर्ग ३२.६
१२. "कान्यकुब्जम् गाधिपुरम् कौशम् कुशस्थलम् च तत्।" –अभिधान-चिन्तामणि, पृष्ठ १६६
१३. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२१
१४. कान्यकुब्जे द्विजः कश्चिद्दासीत्पतिरजामिलः। –श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ६, अध्याय १. २१
१५. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ५४

पाटलिपुत्र से हटाकर कान्यकुब्ज में स्थापित की। मौखरि-नरेश विद्या के प्रेमी थे, जिसके फलस्वरूप इसकी ख्याति बौद्धिक क्षेत्र में विशेष रूप से थी। कहा जाता है कि मौखरि-राजकुमार सूर्यवर्मा में लक्ष्मी और सरस्वती एक दूसरे से प्रतिस्पर्द्धा करती हुई निवास करती थीं।[१] यहाँ के शासक ईशान वर्मा थे। इनके शासनकाल में चारों वेदों का अध्ययन-अध्यापन हुआ करता था।[२] इस प्रकार हर्ष के राज्यकाल तक यह नगर राजधानी के गौरवपूर्ण पद को प्राप्त किये रहा। सम्राट् हर्ष ने अपने दरबार में बाणभट्ट, मयूर, मातङ्गदिवाकर तथा धावक आदि कवियों को संरक्षण प्रदान किया था, जिसके कारण कान्यकुब्ज का वायुमण्डल पूर्ण रूप से बौद्धिक हो गया था।

हर्ष द्वारा संरक्षित दरबारी कवियों में बाणभट्ट प्रमुख थे। बाणभट्ट को हर्ष ने उनसे प्रसन्न होकर प्रचूर सम्पत्ति दान में दिया था।[३] राजशेखर के वर्णन से यह ज्ञात होता है कि मातङ्गादिवाकर को वाग्देवी का वरदान प्राप्त था, फलस्वरूप उसे भी हर्ष की सभा में बाण एवं मयूर की भाँति सम्मान प्राप्त था।[४] सम्राट् हर्ष के काल में चीनी यात्री य्वान् च्वांग कान्यकुब्ज आया था। उसके अनुसार **गङ्गा के तट** पर निर्मित यह नगर तीन मील लम्बा तथा एक मील चौड़ा था। नगर के **चतुर्दिक् परिखा** एवं सुदृढ़ **प्राकार** स्थित थे और उसके भीतर अनेक **उपवन, वितान, सरोवर** एवं **अट्टालिकाएँ** विद्यमान थीं। नगर के प्रधान बाजार में सुदूर देश में विक्रय करने के लिए संख्यातीत भाण्ड केन्द्रित किये गये थे। नगर-वासियों का चरित्र-सङ्गठन उच्च कोटि का था। स्थान-स्थान पर मन्दिर सुशोभित थे।[५] इस नगर के बौद्धिक वायुमण्डल की परम्परा हर्ष के उपरान्त भी बनी रहीं। आठवीं शताब्दी में सम्राट् यशोवर्मा की सभा में भवभूति एवं वाक्पतिराज रहते थे। प्रतिहार राजाओं ने (८१६-१०९० ई०) इसे अपनी राजधानी बनाग्रा और कान्यकुब्ज पुनः उत्तर भारत का प्रधान नगर बन गया। य्वान् च्वांग के विवरणानुसार इस नगर के नागरिक विद्या-व्यसनी थे।[६] राजशेखर के अनुसार कान्यकुब्ज के सुशिक्षित नागरिक शास्त्रों का सम्मान करते थे। यहाँ रहने वाले कवि अपनी उत्कृष्ट

---

१. "लक्ष्मीकीर्तिसरस्वती प्रभृतयो यं स्पर्धयेवाश्रिता।"
– प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ६७

२. "यस्मिन्शासति च क्षिति क्षितिपतौ जातेगभूयस्त्रयी।" –वही, पृष्ठ ९८

३. "सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः।" –उदयसुन्दरीकथा, पृष्ठ २

४. अहो प्रभवो वाग्देव्या यन्मातंगदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभावत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः।। –राजशेखर : सूक्तिमुक्तावली (कविप्रशंसा)

५. य्वान् च्वांग : वाटर्स, १. ३४१

६. वही, १. ३४१

रचनाओं के द्वारा लोगों को अमृतपान कराते थे।[१] राजतरङ्गिणी में कहा गया है कि–कान्यकुब्ज के नागरिक ज्ञान में निपुण होते थे।[२]

**कौशाम्बी**–कौशाम्बी प्राचीनतम भारतीय नगर था। यह वत्स जनपद की राजधानी थी। रामायण के अनुसार कौशाम्बी की स्थापना कुश के पुत्र कुशाम्ब ने की थी।[३] महाभारत में भी इसकी उत्पत्ति के सम्बन्ध में उल्लेख प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ के अनुसार करु राजवंश के शासक उपरिकरवसु के कुशाम्ब नामक पुत्र ने इसकी नींव डाली थी।[४] काशिकाकार ने भी इसे कुशाम्ब द्वारा बसाई गई नगरी कहा है।[५] पौराणिक परम्परा के अनुसार पुरुवंशीय वत्सराज उदयन यहाँ के प्रसिद्ध राजा हुए। पुरु लोगों की राजधानी हस्तिनापुर और राज्य कुरुक्षेत्र था। जब हस्तिनापुर गङ्गा की बाढ़ से बह गया, तब परीक्षित के वंशज यहाँ चले आये।[६]

कौशाम्बी को पालि-ग्रन्थों में 'कोसम्बी' तथा चीनी ग्रन्थों में कि-आउ-शेंग-मि' कहा गया है।[७] **यमुना के तट पर** स्थित होने के कारण यहाँ पर वाणिज्य का महान् विकास हुआ। मथुरा, पाटलिपुत्र, राजगृह, चम्पा तथा वाराणसी आदि नगरों के साथ कौशाम्बी का घनिष्ठ सम्बन्ध था। कौशाम्बी साकेत को श्रावस्ती एवं प्रतिष्ठान से जोड़ने वाले व्यापार-मार्गों का केन्द्रस्थल था। इस व्यापारिक मार्ग में उज्जयिनी, माहिष्मती, विदिशा, कौशाम्बी, साकेत, कपिलवस्तु, पावा, कुशीनगर तथा वैशाली आदि नगर स्थित थे। यह गौतमकालीन उत्तरी भारत का सबसे प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था।[८] बौद्धकाल में वाणिज्य के अतिरिक्त कौशाम्बी की महत्ता धार्मिक क्षेत्र में भी विशिष्ट थी।

मौर्य-काल में यह नगर एक प्रसिद्ध राजनीतिक, धार्मिक और व्यापारिक केन्द्र के रूप में जाना जाता था। ईसा की प्रथम शताब्दी में कौशाम्बी कुषाण-राज्य में सम्मिलित

---

१. यत्रार्थे न............त्रिस्रोतसं चान्तरा।। –बालरामायण, भाग २, अङ्क १९. २७

२. जित्वोर्वीं कान्यकुब्जाद्यां तत्रयं सत्यवेशयत्।
चातुर्वर्ण्यं निजे देशे धर्म्याश्चव्यवहारिणः।। –राजतरङ्गिणी, तरङ्ग १. ११६

३. "कुशाम्बस्तु महातेजाः कौशाम्बीमकरोत्पुरीम्।"
–वाल्मीकिरामायण (सम्पादक : शास्त्री, बालकाण्ड, सर्ग ३२.६)

४. भारतवर्ष का बृहद् इतिहास, भाग २, पृष्ठ २८

५. कुशाम्बेनिर्वृता, कौशाम्बी नगरी। –काशिका, ४.२.६८

६. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२२

७. वही, पृष्ठ १२२

८. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १०२

था। १९३४ ई० में यहाँ पर गौतम बुद्ध की एक प्रतिमा उपलब्ध हुई। इस पर एक लेख मिलता है, जो कनिष्क के राज्यकाल के दूसरे वर्ष में उत्कीर्ण किया गया था।[1] कुषाणों के पश्चात् नेव नामक शासक तथा माघ वंश के भद्रमघ, वैश्रवण, भीमवर्मन, शिवमघ, शतमघ आदि राजाओं ने राज्य किया।

चतुर्थ शताब्दी में कौशाम्बी गुप्त-साम्राज्य के अधीन थी। फाह्यान के अनुसार जो कि गुप्तकाल में कौशाम्बी आया था, यह नगर सारनाथ से १३ योजन (१०४ मील) दूर उत्तर-पश्चिम में स्थित था। वहाँ पर स्थित कुक्कुटाराम, घोषिताराम, बद्रिकाराम आदि अनेक प्रसिद्ध बौद्ध विहारों में से उसने घोषिताराम के सम्बन्ध में लिखा है कि-यह उस समय अच्छी दशा में था और इसमें रहने वाले अधिकतर लोग हीन धर्मानुयायी थे।[2] गुप्त-साम्राज्य के अधः पतन के उपरान्त कौशाम्बी की विपुल समृद्धि क्षीण होने लगी। य्वान् च्वांग ने कौशाम्बी की तत्कालीन अवस्था का वर्णन करते हुए लिखा है कि-यहाँ के अधिकांश बौद्ध-विहार ध्वस्त हो चुके थे। विहारों में रहने वाले भिक्षुओं की संख्या में भी कमी आ गई थी। उसने नगर में स्थित एक बौद्ध मन्दिर का उल्लेख किया है, जिसकी ऊँचाई लगभग ६० फीट थी और इसके भीतर गौतम बुद्ध की चन्दन की एक प्रतिमा विद्यमान थी।[3]

कौशाम्बी वर्तमान में प्रयाग के दक्षिण-पश्चिम में लगभग ३० मील दूर यमुना के बाएँ तट पर कोसम नामक ग्राम में स्थित है। जैन आज भी इसे कौशाम्बी कहते हैं।[4] इसके ध्वंसावशेष मीलों फैले हुए हैं। अनुमान है कि यह नगर **अर्द्धचन्द्राकार रूप में परिखा एवं परकोटे से युक्त** था। ज्ञात होता है कि **प्राचीन-दुर्ग-विधान के सुनियोजित विन्यास पर स्थापित** यह एक **महापुर सन्निवेश** था। **मिट्टी के गारे के विशाल बंधे** के रूप में बना इसका **प्राकार** अपने **बहिरङ्ग स्वरूप में पक्की ईंटों** से बना था। पूर्वद्वार के अतिरिक्त इस प्राचीर का अधिकांश भाग आज भी विद्यमान है।[5] इलाहाबाद विश्वविद्यालय के संस्कृति पुरातत्त्व विभाग ने यहाँ खुदाई करवाई थी, जिससे यहाँ संरचनात्मक कालों तथा पाँच सांस्कृतिक युगों का पता लगा है। मेजर वास्ट ने रीवाँ, स्मिथ ने भरहुत के समीप के प्रदेश को तथा य्वान् च्वांग ने बाँदा जिले में अजयगढ़ के उत्तरी भाग को कौशाम्बी माना है।[6]

१. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १०५
२. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ७२
३. य्वान् च्वांग : वाटर्स, १. ३६८
४. कनिंघम : आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ् इण्डिया रिपोर्ट, भाग १, पृष्ठ ३०३
५. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७९
६. कनिंघम : आर्कियालॉजिकल सर्वे ऑफ् इण्डिया रिपोर्ट, भाग १, पृष्ठ ३०३ ; दि जनरल ऑफ् रॉयल् एशियाटिक सोसाइटि ऑफ् बङ्गाल, पृष्ठ २४९ ; वाटर्स २. ३३९

**प्रयाग**–प्रयाग शब्द की उत्पत्ति यज् धातु से हुई है, जिसका अर्थ 'यज्ञ करना' है। प्रयाग का वर्णन रामायण[१], महाभारत तथा पुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों में उपलब्ध होता है। महाभारत के अनुसार यहाँ पर ब्रह्मा ने यज्ञ किया था, अतः इसका नाम प्रयाग पड़ा।[२] कोशग्रन्थों में प्रयाग शब्द की व्याख्या करते हुए कहा गया है कि यहाँ पर बहुसंख्या में यज्ञ सम्पन्न होते थे।[३] महाभारतकार ने प्रयाग को लोकत्रय में सर्वश्रेष्ठ तीर्थ कहा है। सभी देव मिलकर इस तीर्थ की वंदना करते हैं और यहाँ पर स्वल्प मात्रा में दिया हुआ दान भी महान् फल को देने वाला होता है।[४] कूर्मपुराण में भी प्रयाग की भूमि को देवभूमि कहा गया है और इस तीर्थ की रक्षा ब्रह्मा तथा अन्य देव साथ मिलकर करते हैं।[५]

प्राचीन भारतीय ग्रन्थों में प्रयाग की सीमाओं को प्रयाग-मण्डल कहा गया है। मत्स्यपुराण के अनुसार प्रयाग-मण्डल पाँच योजन तक विस्तीर्ण था।[६] इस ग्रन्थ के अनुसार प्रयाग-मण्डल प्रतिष्ठान से लेकर वासुकि-ह्रद तक होता हुआ कम्बलनाग, अश्वतरनाग तथा बहुमूलकनाग तक फैला हुआ था।[७] कूर्मपुराण में भी प्रयाग-मण्डल की सीमा पाँच योजन बताई गई है।[८] प्रतिष्ठान प्रयाग-मण्डल की पूर्वी सीमा का निर्धारण करता था। यह गङ्गा के पूर्वी तट पर स्थित था। इस स्थान पर वर्तमान में झूँसी स्थित है। इसे समुद्र-कूप भी कहा जाता था और यह प्रयाग का एक महत्त्वपूर्ण उपतीर्थ था।[९] वासुकि-ह्रद उत्तरी सीमा का निर्माण करता था और पश्चिमी सीमा का

---

१. वाल्मीकि रामायण, अयोध्याकाण्ड, सर्ग ५४

२. यत्रायजत् भूतात्मा पूर्वमेव पितामहः।
प्रयागमिति विख्यातं तस्माद्भरतसत्तम।। –महाभारत, वनपर्व अध्याय ८५. १४

३. (क) प्रकृष्टो यागो यत्र। यत्र यज्ञः प्रकर्षेण भवतीत्यर्थः (प्रकृष्टो यागः)।
(प्रकृष्टा यागाः यज्ञा यस्य यस्माद्वा)। –शब्दकल्पद्रुम, भाग ३, पृष्ठ २८७

४. ततः पुण्यतमं नाम त्रिषु लोकेषु भारत।
प्रयागः सर्वतीर्थेभ्यो प्रभवत्यधिकं विभो।।
एषा यजनभूमिर्हि देवानामभिसत्कृता।
तत्र दत्तं सूक्ष्ममपि महद्भवति भारत।। –महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८३.७४-७७

५. "तत्र ब्रह्मादयो देवा रक्षां कुर्वन्ति सङ्गताः।" –कूर्मपुराण, १ अध्याय ३४.२१

६. "पञ्चयोजनविस्तीर्णः प्रयागस्य तु मण्डलम्।" –मत्स्यपुराण, अध्याय १०८.९

७. आप्रयागप्रतिष्ठानादापुराद्वासकेह्रदात्।।
कम्बलाश्वतरौ नागौ नागश्च बहुमूलकः।। –वही, अध्याय १०४.५

८. "पञ्चयोजनविस्तीर्णः ब्रह्मणः परमेष्ठिनः।"–कूर्मपुराण, २, अध्याय ३४.४

९. पूर्व-पार्श्वे तु गङ्गायास्त्रिषु लोकेषु भारत।
कूपं चैव तु सामुद्रं प्रतिष्ठानं च विश्रुतम्।।–मत्स्यपुराण, अध्याय १०६.३०

प्रतिनिधित्व कम्बलनाग तथा अश्वतरनाग करते थे। ये दोनों यमुना के तट पर स्थित थे।[१] बहुमूलकनाग दक्षिणी सीमा का निर्माण करता था।[२]

प्राचीन समय में प्रयाग में जाकर दान देने की परम्परा बहुत प्रसिद्ध थी। यहाँ पर आकर राजवर्ग-द्वारा भी दान देने का उल्लेख प्राप्त होता है। युवान् च्वांग के यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि-राजा हर्ष ने निरन्तर एक मास तक ब्राह्मणों, निर्धनों, श्रमणों एवं अनाथों को दान में सोना-चाँदी, इन्द्रनील जैसी बहुमूल्य वस्तुएँ एवं रेशमी तथा सूती वस्त्र आदि दान में दिये थे। जब वहाँ पर रखा हुआ कोष समाप्त हो गया, तभी उन्होंने दान वितरण की क्रिया समाप्त की।[३] राजतरङ्गिणी से भी यह सूचना मिलती है कि कश्मीर के शासक जयापीड ने प्रयाग में जाकर ब्राह्मणों को एक कम एक लाख अश्व दान में दिये थे।[४]

प्रयाग को गङ्गा, यमुना और सरस्वती का सङ्गम मानने के कारण त्रिवेणी कहा जाता है। महाकवि कालिदास ने रघुवंश के तेरहवें सर्ग में सङ्गम का मनोहारी वर्णन किया है।[५] कूर्मपुराण के अनुसार सङ्गम में स्नान करने वाले व्यक्ति स्वर्गलोक को प्राप्त करते हैं और उनका पुनर्जन्म नहीं होता है।[६] पुराणों के अनुशीलन से ज्ञात होता है कि प्रयाग में जाकर लोगों द्वारा आत्महत्या करने की भी परम्परा थी और यह परम्परा धर्मसङ्गत मानी जाती थी। युवान् च्वांग ने वट-वृक्ष से कूदकर प्राण त्यागने का उल्लेख किया है।[७] पुराणों में भी वट-वृक्ष से कूदकर प्राण त्यागने का वर्णन प्राप्त होता है।[८] सन् १५८३ ई० में अकबर ने प्रयाग का नाम 'अल्लाबाद' रखा जो वर्तमान में 'इलाहाबाद' के नाम से जाना जाता है।

**अयोध्या**–अयोध्या कोशल राज्य के इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं की राजधानी एवं भारत का एक बहुत प्राचीन नगरी थी। वाल्मीकीय रामायण के अनुसार यह नगरी

---

१. "विपुले यमुनातटे।" -मत्स्यपुराण, अध्याय १०६, पृष्ठ ९८
२. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ११०
३. य्वान् च्वांग: वाटर्स, १. ३६६
४. राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ४.३१४-१८
५. रघुवंश, सर्ग १३.५४-५७
६. "तत्र स्नात्वा दिवं यान्ति ये मृतास्तेऽपुनर्भवा:।" -कूर्मपुराण १, अध्याय ३७. ४
७. य्वान् च्वांग: वाटर्स, २. ३७०
८. वटमूलं समाश्रित्य यस्तु प्राणन्परित्यजेत्। सर्वलोकानतिक्रम्य रुद्रलोकं स गच्छति।।
-कूर्मपुराण १, अध्याय ३५.८; पद्मपुराण, अध्याय ४४.११

बारह योजन लम्बी तथा तीन योजन चौड़ी था। इसके **चतुर्दिक् एक गहरी परिखा** भी स्थित थी और **सुदृढ़ किलेबन्दी** के कारण यह **शत्रुओं के लिए अगम्य** थी।[१] इसके चारों ओर सालवृक्षों की एक चहारदीवारी थी। नगर के **प्राकार में कपाटयुक्त तोरणद्वार** एवं **अग्रिम सुरक्षा** की दृष्टि से इसकी ऊँचाई पर **यन्त्र**, **अस्त्र-शस्त्र** और **प्रक्षेपास्त्र** रखे गये थे।[२] इसके **भीतरी भाग** में **चौड़े राजमार्ग** एक-दूसरे को **समकोण** पर काटते थे। नगर के **हाट पृथक्-पृथक्** थे और **प्रतिदिन उन पर जल से छिड़काव** किया जाता था तथा **पुष्प भी बिखेरे** जाते थे।[३] इससे यह ज्ञात होता है कि नगर की स्वच्छता का पर्याप्त ध्यान दिया जाता था। नगरी में स्थित विभिन्न प्रकार के रत्नों से निर्मित एवं पर्वतों की भाँति उन्नत **अट्टालिकाएँ, कूटागार** और **विभिन्न प्रकार की चित्रकारियों से युक्त भवन** जिन पर सोने का पानी चढ़ाया गया था, इसकी शोभा को द्विगुणित कर देते थे। यहाँ पर **गजशाला, अश्वशाला, गोशाला आदि**[४] एवं सभी प्रकार के **शिल्पियों की प्रयोगशालाएँ** विद्यमान थी।[५] नगर-प्राकार के बाहर **नागरिकों के मनोरञ्जन के लिए पुष्पोद्यान** तथा **आम्रोद्यान** था।[६] नगर-विषयक इस प्रकार का वर्णन उसके समृद्ध होने का परिचायक है।

---

१. अयोध्या नाम नगरी तत्रासील्लाकेविश्रुता।
मनुना मानवेन्द्रेण या पुरी निर्मिता स्वयम्।।
आयता दश च द्वे च योजनानि महापुरी।
श्रीमती त्रीणि विस्तीर्णा सुविभक्तमहापथा।।
.................. महतीं सालेखलाम्।
दुर्गगम्भीरपरिखां दुर्गामन्यैर्दुरासदाम्। –वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ५.६-७, १२-१३

२. कपाटतोरणवतीं सुविभक्तान्तरापणाम्।
सर्वयन्त्रायुधवतीमुषिता................।।
"..............शतघ्नीशतसंकुलाम्।।" –वही, बालकाण्ड, सर्ग ५.१०-११

३. राजमार्गेण महता सुविभक्तेन शोभिता।
मुक्तपुष्पावकीर्णेन जलसिक्तेन नित्यशः।। –वही, बालकाण्ड, सर्ग ५.८

४. प्रासादै रत्नविकृतैः पर्वतैरिव शोभिताम्।
कूटागारैश्च सम्पूर्णामिन्द्रस्येवामरावतीम्।।
चित्रामष्टापदाकाराम्.........................।
सर्वरत्नसमाकीर्णां विमानगृहशोभिताम्।।
वाजिवारणसम्पूर्णं गोभिरुष्ट्रैः खरैस्तथा।। –वही, बालकाण्ड, सर्ग, ५.१५-१६, १३

५. "..............सर्वशिल्पिभिः।" –वही, बालकाण्ड, सर्ग ५.१०

६. "उद्यानाम्रवणोपेताम्................।।" –वही, बालकाण्ड, सर्ग ५.१२

अधिकांश विद्वान् अयोध्या और साकेत को एक ही मानते हैं, परन्तु प्रो० रीज डेविड्स ने यह सिद्ध किया है कि बुद्ध के समय में अयोध्या और साकेत दोनों पृथक्-पृथक् नगर थे।[१] विल्सन के संस्कृत कोष में साकेत का अर्थ अयोध्या दिया गया है।[२] रघुवंश[३] एवं रामायण में साकेत को दशरथ की राजधानी बताई गई है। इन आधारों पर कनिंघम ने अयोध्या एवं साकेत को एक ही नगर कहा है।[४] सांख्यायन श्रौतसूत्र के अनुसार भी अयोध्या एवं साकेत एक ही नगर थे।[५] पतञ्जलि ने भी अयोध्या को साकेत कहा है। उनके अनुसार यवनों ने साकेत पर घेरा डाला था।[६] कुछ इतिहासकारों के अनुसार यह आक्रमण डिमेट्रियस ने किया था। उसने भारत पर दो ओर से आक्रमण किया। पश्चिम में इसका सेनापतित्व स्वयं डिमेट्रियस ने और पूर्व में उसके सहायक मिनाण्डर ने किया। दोनो कैंची के फल के समान चलकर पाटलिपुत्र में मिले। टार्न ने भी इस कथन का समर्थन किया है।[७]

पालिग्रन्थों में अयोध्या के लिए अयोज्झा एवं अयुज्झनगर नाम आते हैं और इस नगर को कोशल के समद्ध नगर के रूप में देखा गया है। इसके लिए 'साकेत' नाम का प्रयोग करते हुए कहा गया है कि यह नगर कोशल की उत्तरी सीमा पर तथा भारत के छः प्रमुख नगरों में था।[८] पतञ्जलि के अनुसार साकेत पूर्व और पश्चिम भारत को जोड़ने वाले मुख्य मार्ग पर स्थित था। उन्होंने स्रुघ्न एवं साकेत जाने वाले मार्गों से अपना परिचय बताया है।[९] उन्होंने कहा है कि पाटलिपुत्र जाने वाले मार्ग पर पहले साकेत पड़ता है।[१०] पतञ्जलि ने साकेत (अयोध्या) को 'सुकोशला' कहते हुए इसके **प्राकार के आठ अवयवों** का उल्लेख किया है। इन आठ अवयवों से अभिप्राय

---

१. ला : जिऑग्राफि ऑफ् अर्लि बुद्धिष्ट, पृष्ठ ५

२. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२३

३. शत्रुघ्नप्रतिविहितोपकार्यमार्यः साकेतोपवनमुदारमध्युवास।।
प्रासादवातायनदृश्यबन्धैः साकेतनार्योऽञ्जलिभिः प्रणेमुः।।
–रघुवंश, सर्ग १३.७९ एवं सर्ग १४.१३

४. कनिंघम : एन्शेन्ट् जिगॉग्रफि ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ४६४

५. सांख्यायन श्रौतसूत्र, १५. १७. २५

६. "अरुणद्यवनः साकेतम्।" –महाभाष्य, ३. २. १११, पृष्ठ १८८

७. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२३

८. दीघनिकाय, २, महासुदस्सनसुत

९. अयं पन्थाः स्रुग्घ्नमुपतिष्ठते,अयं पन्थाः साकेतमुपतिष्ठते। –महाभाष्य, १.३.२५, पृष्ठ १६३

१०. योऽयमध्वा गत आपाटलिपुत्रात् तस्य यदवरं साकेतादिति। –वही, ३.२.१३६

**गोपुर, अट्टालक, प्रतोली, इन्द्रकोश** एवं **देवपथ** आदि **परकोटे के विविध वास्तुगत** अङ्गों से है।[1]

गुप्तकाल में चीनी यात्री फाह्यान का यहाँ आगमन हुआ था। उसके अनुसार नगर में विभिन्न मतावलम्बियों के बीच सौहार्दपूर्ण वातावरण था।[2] समुद्रगुप्त के गया ताम्रलेख के अनुसार अयोध्या में उसका सैनिक शिविर स्थित था, जो कि बहुत बड़ी नौसेना, हस्तिसेना एवं अश्वसेना द्वारा सुरक्षित थी।[3] फाह्यान के अनुसार अयोध्या (साकेत) जनपद की परिधि ५००० ली (१०० मील) तथा अयोध्यापुरी का विस्तार २०ली (३$\frac{१}{२}$मील) के लगभग था। इस जनपद की प्रशंसा करते हुए उसने लिखा है कि यहाँ की जलवायु उत्तम थी तथा फल-फूल एवं अन्न आदि की दृष्टि से यह समृद्ध और सम्पन्न था। यहाँ के नागरिक धार्मिक एवं विद्याप्रेमी थे।[4] धार्मिक केन्द्र के रूप में इसका उल्लेख होने के कारण **सरयू के तट** पर इसकी विद्यमानता एवं इक्ष्वाकु-राजाओं, विशेषतः राम के जीवन से इसका सम्बन्ध होना था। सम्भवतः इसी कारण अयोध्या को 'इक्ष्वाकु-भूमि' तथा 'रामपुरी' भी कहा जाता था। यहाँ सरयू के तट पर स्नानार्थ घाट बने हुए थे। विक्रमाङ्कदेवचरित के अनुसार बिल्हण भी सरयू के पवित्र जल में स्नानार्थ कश्मीर से अयोध्या गया था।[5]

जहाँ तक अयोध्या की पहचान का प्रश्न है–गाहड़वाल नरेश चन्द्रदेव के चन्द्रावती ताम्रलेख (११वीं शताब्दी ई०) में घाघरा एवं सरयू के सङ्गम पर स्थित स्वर्गद्वार का उल्लेख हुआ है, अतः स्पष्ट है कि इस लेख में उल्लिखित उत्तरकोशल की राजधानी अयोध्या, वर्तमान अयोध्या ही है।[6] स्कन्दपुराण में राम के जन्म-स्थान का उल्लेख किया गया है, जिसे विघ्नेश्वरतीर्थ से पूर्व एवं वशिष्ट-कुण्ड के उत्तर तथा लोमश-तीर्थ के पश्चिम में स्थित बताया गया है,[7] परन्तु फुहरर ने उन्नाव जिले के सुजनकोट के खण्डहरों को जो सई नदी के तट पर है, प्राचीन अयोध्या (साकेत) बतलाया है।[8]

---

१. पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसलेति। –महाभाष्य, ४.३.६६, पृष्ठ २१०

२. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ५४-५५

३. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ ११९

४. व्यान् च्वांग : वाटर्स, १. ३५४

५. विक्रमाङ्कदेवचरित, सर्ग १८. ९४

६. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १२३

७. विघ्नेश्वरात्पूर्वभागे वासिष्ठादुत्तरे तथा। लौमशात्पश्चिमे भागे जन्मस्थानं ततः स्मृतम्।।
–स्कन्दपुराण २, अयोध्यामाहात्म्य ८, अध्याय १०. १९

८. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२३

**अहिच्छत्र**–अहिच्छत्र उत्तर पाञ्चाल जनपद की राजधानी थी। इस बात की पुष्टि महाभारत से होती है।[१] वर्तमान बरेली, बदायूँ, फर्रुखाबाद तथा आस-पास के जिले एवं उत्तरप्रदेश का मध्यवर्त्ती दोआब पाञ्चाल-प्रदेश कहलाता था और अहिच्छत्र बरेली जिले में स्थित रामनगर का प्राचीन नाम था। अहिच्छत्र की खुदाई से प्राप्त सिक्के तथा मृण्मयी मूर्तियाँ इसकी प्राचीनता, ऐतिहासिकता एवं सांस्कृतिक महत्त्व की स्थापना करते हैं। यहाँ पर जो सिक्के उपलब्ध हुए हैं, उनसे ज्ञात होता है कि वराहमिहिर यहाँ का शासक रहा था।[२] इस नगर का महत्त्व ह्वेनसांग के समय तक बना हुआ था परन्तु आज यह स्थान खण्डहरों के रूप में परिवर्तित हो गया है। प्राचीन किले के ध्वंसावशेष, जो मीलों में बिखरे पड़े हैं, पाण्डु का किला कहलाते हैं और इसे देखने से पता चलता है कि इस किले में ३४ **बुर्ज ( अट्टलक )** थे।[३]

## पूर्वी भारत के प्रमुख नगर

**श्रावस्ती**–श्रावस्ती कोसल राज्य का एक प्रमुख नगर था।[४] यह **अचिरावती नदी के तट** पर बसा हुआ था, जिसकी पहचान वर्तमान राप्ती से की जाती है। प्राचीन ग्रन्थों में इसके सावत्थी[५], चन्द्रपुरी[६] तथा चन्द्रिकापुरी[७] आदि नाम भी प्राप्त होते हैं। बौद्ध ग्रन्थों के अनुसार प्राचीन समय में यहाँ पर सवत्थ नामक ऋषि रहते थे, अत: इस नगर का नाम श्रावस्ती पड़ा।[८] किसी व्यक्ति विशेष के निवास के आधार पर स्थान के नामकरण का उल्लेख पाणिनि ने भी किया है।[९] हरिवंश के अध्ययन से ज्ञात होता है कि–श्रावस्तक नामक राजा ने इस नगर को बसाया था, अत: इसका नाम श्रावस्ती रखा गया।[१०] मत्स्यपुराण में इस नगर के संस्थापक का नाम श्रावस्तक के स्थान पर श्रावस्त बताया गया है।[११]

---

१. दक्षिणांश्चैव पाञ्चालान्यावच्चर्मण्वती नदी।।
अहिच्छत्रं च विषयं द्रोण: समभिपद्यत।।
एवं रजन्नहिच्छत्रा पुरी जनपदायुता।
युधि निर्जित्य पार्थेन द्रोणाय प्रतिपादिता।। –महाभारत, आदिपर्व,अध्याय १२८. १५, १७-१८

२. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२१

३. वही, पृष्ठ १२१

४. ललितविस्तर, अध्याय १

५. पपञ्चसूदनी, १, पृष्ठ ५९

६. जैन हरिवंशपुराण, पृष्ठ ७१७

७. वही, पृष्ठ ७१७

८. पपञ्चसूदनी, १, पृष्ठ ५९

९. 'तस्य निवास:।' –अष्टाध्यायी, ४.२.६८

१०. जज्ञे श्रावस्तको राजा श्रावस्ती येन निर्मिता। –हरिवंशपुराण, हरिवंशपर्व अध्याय ११.२२

११. श्रावस्तश्च महातेजा वत्सकस्तत्सुतोऽभवत्। निर्मिता येन श्रावसती गौडदेशे द्विजोत्तम:।।
–मत्स्यपुराण अध्याय १२. ३०

रामायण-काल में कोसल महाजनपद का विशेष महत्त्व था, परन्तु राम के बाद यह उत्तर-कोसल एवं दक्षिण-कोसल के रूप में दो विभागों में विभक्त हो गया।[१] रामायण[२] एवं वायुपुराण[३] से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती उत्तर-कोसल की राजधानी थी, जिसका शासक राम का कनिष्ठ पुत्र लव था। कुश का राज्य दक्षिण-कोसल था और उसने विन्ध्यमाला में कुशावती अथवा कुशस्थली को अपनी राजधानी बनाई थी। इस नगर का संस्थापक भी स्वयं कुश ही था, जिसके नाम के आधार पर नगर का नामकरण किया गया था।

दीघनिकाय के महासुदस्सनसुत्त से विदित होता है कि-श्रावस्ती की गणना तत्कालीन छः सुप्रसिद्ध नगरों में होती थी। इसमें धनिक ब्राह्मण, क्षत्रिय एवं वैश्य रहते थे, जिनकी बौद्ध-धर्म में असीम आस्था थी।[४] प्राचीन ग्रन्थों में इस नगर के **परिखा, प्राकार** तथा **नगरद्वार** आदि के यत्र-तत्र उल्लेख प्राप्त होते हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि **नगर के द्वार बहुत चौड़े थे।** यथा-मज्झिम-निकाय में कोसल-नरेश प्रसेनजित को पुण्डरीक नामक गज-पृष्ठ पर बैठकर बाहर निकलते हुए प्रदर्शित किया गया है।[५] संयुक्तनिकाय के अनुसार यहाँ के नागरिक हाथी, घोड़े तथा पालकी पर सवार होकर राजमार्गों पर निकलते थे।[६] इस ग्रन्थ में प्रसेनजित के प्रासाद का भी उल्लेख मिलता है। यहाँ **प्रधान नगर-द्वारों** की ओर **चौड़े राजमार्ग** जाते थे।[७]

श्रावस्ती का धार्मिक वायुमण्डल बौद्ध-धर्म से बहुत प्रभावित था। यहाँ पर तीन

---

१. इमौ कुशीलवौ राजन्नभिषिच्य नराधिप।
कोशलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु तथा लवम्।।
कोशलेषु कुशं वीरमुत्तरेषु तथा लवम्। अभिषिच्य महात्मानावुभौ रामः कुशीलवौ।।
कुशस्य नगरी रम्या विन्ध्यपर्वतरोधसि। कुशावतीति नाम्ना सा कृता रामेण धीमता।।
–वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग १०७. ७, १७; सर्ग १०८.४

२. श्रावस्तीति पुरी रम्या श्राविता च लवस्य ह। –वही, उत्तरकाण्ड, सर्ग १०८.५

३. कुशस्य कोसलो राज्यं पुरी वापि कुशस्थली। रम्या निर्मिता तेन विन्ध्यपर्वतसानुषु।।
उत्तरकोसले राज्ये लवस्य महात्मनः। श्रावस्ती लोकविख्यता कुशावंश निबोधत।।
–वायुपुराण, अध्याय ८८.१९७-९८

४. "चम्पा राजगृहं सावत्थि साकेतं कोसम्बी वारणसी......। एत्थ बहु खत्तियमहासाला....... अभिप्पसन्ना।" –दीघनिकाय, २. २४१

५. मज्झिमनिकाय, १. ११२

६. संयुक्तनिकाय, १. ६५

७. वही, १. ११५

स्थान अत्यधिक प्रसिद्ध थे–जेतवन, पूर्वाराम और मल्लिकाराम। जेतवन एक उद्यान था। जो स्थान राजगृह में वेणुवन तथा वैशाली में महावन का था, वही स्थान श्रावस्ती में जेतवन का था। इसका आरोपण, संवर्धन तथा परिपालन जेत नामक एक राजकुमार ने किया था।[१] जेतवन के शान्तिमय वातावरण से प्रभावित होकर अनाथपिण्डिक नामक नगर-श्रेष्ठि ने इसे खरीदकर बौद्ध संघ को दान कर दिया था। उसने इस उपवन में एक **विहार** का भी निर्माण करवाया था, जिसे अनाथ पिण्डिक-आराम कहा जाता था।[२] जेतवन के अन्दर इस नगर-श्रेष्ठि ने **विश्राम-गृह, कुठार, कूप, तालाब** तथा **चबूतरे** आदि का निर्माण करवाया था।

पूर्वाराम का निर्माण विशाखा ने करवाया था, जो कि नगर के धनिक सेठ मिगार की पुत्रवधू थी। मिगार पहले आजीविकों का भक्त था परन्तु बाद में वह विशाखा के प्रभाव के कारण बौद्ध-धर्म का अनुयायी बन गया था। बौद्ध-ग्रन्थों में उसे मिगार-माता कहा गया है। अत: पूर्वाराम को मिगार-मातु-प्रासाद कहा जाता था। पूर्वाराम का **अलिन्द** हाथी के नाखून जैसे आकार का था। अत: इसे **हस्तिनख प्रासाद** भी कहा जाता था।[३] पूर्वाराम श्रावस्ती नगर के पूर्वी द्वार पर स्थित था।[४] सम्भवत: इसीलिए इसे **'पूर्वाराम'** कहा जाता था।

मल्लिकाराम का निर्माण मल्लिका नामक एक साम्राज्ञी ने करवाया था। यह एक विशाल भवन था, जिसमें अनेक कमरों के होने का उल्लेख पाया जाता है।[५] श्रावस्ती नगर में आने वाले ब्राह्मण; संन्यासी, बौद्ध-भिक्षु आदि यहाँ पर विश्राम-हेतु आते थे।[६]

कोसल-साम्राज्य के अध:पतन के साथ ही श्रावस्ती का भी अध:पतन हो गया। चीनी यात्री फाह्यान के विवरणानुसार यहाँ के नागरिकों की संख्या पहले की अपेक्षा बहुत कम थी। यहाँ पर स्थित जेतवन, पूर्वाराम तथा नगर के अनेक विशाल भवन भग्नावशेष को प्राप्त हो चुके थे।[७] अन्य चीनी यात्री य्वान् च्वांग के अनुसार सातवीं

१. "तंहि जेतेन राजकुमारेन रोपितम्............तस्मा जेतवने ति वुच्चति।"
–पपञ्चसूदनी, १.६०

२. "सावत्थियं विहरति जेतवने अनाथपिण्डिकस्स आरामे।"
–खुद्दकनिकाय, सुत्तनिपात, उरगवग्गो, वसलसुत, पृष्ठ १०३

३. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७७

४. धम्मपद : टीका, १.३८४

५. "बहुसालाकता।"–सुमङ्गलविलासिनी, २, पृष्ठ ३६५

६. वही, २, पृष्ठ ३६५

७. फाह्यान : लेग्गे, प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १३९ से उद्धृत।

शताब्दी में इस नगर का केवल नाम मात्र ही शेष रह गया था। उसके यात्रा-विवरण से ज्ञात होता है कि यह नगर अपने समृद्धि काल में लगभग ३ मील की परिधि में बसा था।[१]

**वाराणसी**–आधुनिक काल में काशी और वाराणसी एक दूसरे के पर्याय बन चुके हैं, परन्तु प्राचीन काल में दोनों पृथक्-पृथक् रूप में जाने जाते थे। काशी कोसल की तरह एक महा-जनपद थी[२] और वाराणसी इसकी राजधानी थी।[३] जातक ग्रन्थों में वाराणसी के सुरुन्धन, सुदस्सन, बह्मावर्द्धन (ब्रह्मवड्ढज), पुष्पवती, रम्म (रम्यगनर) तथा मोलिनी आदि नाम उपलब्ध होते हैं।[४] पतञ्जलि के अनुसार व्यापारी-वर्ग में वाराणसी जित्वरी के नाम से प्रसिद्ध थी।[५] इन्होंने वाराणसी को **गङ्गा-तट** पर बसा हुआ बताया है,[६] परन्तु वाराणसी नाम पड़ने का कारण वरना एवं अस्सी नदियों के बीच इसका विद्यमान होना बताया जाता है।[७] कनिंघम ने भी इसके समर्थन में आइने अकबरी से उद्धरण देते हुए लिखा है कि "वाराणसी एक विशाल नगर है, जो कि **वरना** तथा **अस्सी नदियों के बीच** में स्थित है।"[८] मललसेकर के अनुसार भी वाराणसी नाम पड़ने का कारण वरना तथा अस्सी नदियों के बीच इसकी स्थिति है।[९]

वाराणसी के चारों ओर सुरक्षा के लिए एक **परिखा** निर्मित थी।[१०] इसके अतिरिक्त यह नगर एक **उच्च प्राकार** से परिवेष्टित था। **प्राकार के चतुर्दिक् चार दरवाजे** लगे हुए थे। यदि यात्री रात्रि-काल में देर से आते थे, तो उन्हें दरवाजों के सामने अन्दर प्रवेश करने के लिए प्रातःकाल तक प्रतीक्षा करनी पड़ती थी।[११] स्थापत्य-ग्रन्थों के निर्देशानुसार **नगर के भीतर विभिन्न भागों में अलग-अलग जातियों** एवं **व्यवसाय**

---

१. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २. ३७७
२. अङ्गुतरनिकाय, १. २१३; ४.२५२
३. "कासीरट्ठे बारानसियम्।"–जातक, १.४
४. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२४ एवं प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १३१ से उद्धृत।
५. "वणिजो वाराणसीं जित्वरीत्युपाचरन्ति।"–महाभाष्य, ४.३.८४, पृष्ठ २१२
६. "अनुगङ्गं वाराणसी गङ्गा चाप्यायता वाराणस्यप्यायता।" –वही, २.१.१५, पृष्ठ ३६४
७. "वरणायास्तथा च अस्या मध्ये वाराणसी पुरी।" –कूर्मपुराण, अध्याय ३०. ६३
८. कनिंघम : एन्शेन्ट् जिऑग्रफि ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ५०१
९. मललसेकर : डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रॉपर नेम्स्, २.२७७
१०. जातक, २. १६८
११. वही, २. १५५

**करने वाले लोगों के निवास की उत्तम व्यवस्था** थी। जातकों के अनुसार वाराणसी नगर का विस्तार १२ योजन था।[१] गुटिटल-जातक में इसे भारत का सर्वश्रेष्ठ नगर कहा गया है।[२] लगभग छठी शताब्दी ईसा पूर्व यह नगर कोसल-साम्राज्य तथा बाद में मगध-साम्राज्य का अङ्ग बन गया। यहाँ नन्दों एवं मौर्यों ने भी शासन किया। मौर्यों के उपरान्त यह नगर क्रमशः शुङ्गों, कण्वों तथा कुषाणों आदि के राज्य में सम्मिलित था। सप्तम शताब्दी प्रथमार्द्ध में इस नगर पर वर्द्धनों का आधिपत्य रहा। हर्षवर्द्धन के शासन-काल में चीनी यात्री यु्वान् च्वांग यहाँ आया था। यहाँ के निवासी ऐश्वर्य-सम्पन्न थे।[३]

वाराणसी व्यापार तथा उद्योग के लिए प्रसिद्ध थी। इसका श्रावस्ती और तक्षशिला से निकट सम्बन्ध था।[४] पतञ्जलि ने वाराणसी को वस्त्र-व्यापार का केन्द्र बताया है, जहाँ विशेष प्रकार के वस्त्र तैयार होते थे।[५] बौद्ध-साहित्य में वाराणसी में निर्मित वस्त्रों के लिए 'काशिक', 'काशीकुत्तक'[६] तथा 'कासीय'[७] शब्दों का प्रयोग मिलता है। वहाँ पर सूती, रेशमी तथा ऊनी, तीनों प्रकार के वस्त्र बनाये जाते थे। वाराणसी काष्ठ-व्यवसाय का भी केन्द्र था। इस नगर के पास के एक ग्राम में पांच सौ बढ़ई रहते थे, जो घने जंगलों में जाकर गृह-निर्माणोपयोगी लकड़ियों को काटकर लाते थे (जातक, २.११)। यह नगर गजदन्त व्यवसाय के लिए भी विख्यात था।[८]

बौद्धिक क्षेत्र में भी वाराणसी की प्रसिद्धि थी। तृतीय शताब्दी में इसके उपकण्ठ में स्थित सारनाथ के विहारों में बौद्ध साहित्य का पठन-पाठन होता था। यु्वान् च्वांग के अनुसार यहाँ पर लगभग पन्द्रह सौ बौद्ध-भिक्षु विद्योपार्जन कर रहे थे।[९] वाराणसी में उस समय शिक्षा-संस्थाएँ नहीं थी। यहाँ के विद्वान् अपने घरों में ही विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे।[१०]

वाराणसी में गङ्गा-स्नान को भी विशेष महत्व दिया जाता था।[११] जन-समुदाय

---

१. जातक, ५. ३७७ एवं ६. १६०
२. वही, २.२४३
३. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.४७
४. धम्मपद : टीका, ३. ४२९
५. "इह समाने आयामे विस्तारे पटस्यान्योऽर्घो भवन्ति काशिकस्यान्यो माथुरस्य।"
—महाभाष्य ५.३.५५, पृष्ठ ३७६
६. जातक, ६. ४७; ६. १५१; १. ३३५
७. वही, ६. ५००
८. जातक, १. ३२०
९. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २. ४७
१०. हिस्ट्री ऑफ् बनारस, पृष्ठ २४
११. स्नानात्संसेवनाद्वापि न मोक्षः प्राप्यते यतः।
इह सम्प्राप्यते येन तत् एतद्विशिष्यते।। —लिङ्गपुराण, अध्याय ९२. ४७

की अवधारणा थी कि वाराणसी में दान देने से महान् फल की प्राप्ति होती है। सम्भवतः इसीलिए यहाँ पर देश के विभिन्न भागों से प्रायः प्रत्येक वर्ग के व्यक्ति दान देने के निमित्त आते थे। राजतरङ्गिणी के अनुसार कश्मीर के हर्ष नामक राजा ने वाराणसी को अनेक मठों से विभूषित किया था।[१] प्राचीन काल में यहाँ पर वैदिक यज्ञों का भी अनुष्ठान होता था। भारशिव नरेशों ने इस नगरी में दस अश्वमेध यज्ञों का अनुष्ठान किया था।[२] निःसन्देह वाराणसी प्राचीन समय से वर्तमान तक धर्म, संस्कृति एवं ज्ञान का विशिष्ट केन्द्र रही है।

**कपिलवस्तु**–कपिलवस्तु बौद्ध काल का एक समृद्धशाली नगर था। यह महर्षि कपिल की तपोभूमि थी।[३] सम्भवतः इसी कारण इसका नाम कपिलवस्तु पड़ा।[४] इसका कपिलाह्वयपुर नाम भी उपलब्ध होता है।[५] यह नगर नदी की भाँति **विस्तृत परिखा** तथा **भव्य** एवं **सीधे राजपथ** से युक्त एवं पर्वत की तरह **ऊँचे प्राचीर** से अलङ्कृत दूसरे गिरिव्रज की तरह था।[६] यह उत्तर-प्रदेश के बस्ती जिले के उत्तर में स्थित था। हिमालय पर्वत के समीपस्थ होने के कारण इसकी सुषमा दर्शनीय थी। कपिलवस्तु के समीप ही लुम्बिनी ग्राम में गौतम बुद्ध के जन्म के कारण इस नगर ने अत्यधिक प्रसिद्धि प्राप्त की। यह नगर शाक्य-क्षत्रियों के गणराज्य की राजधानी थी और ईसा पूर्व ६०० में गौतम बुद्ध के पिता शुद्धोधन गणराज्य के प्रधान थे। पालि ग्रन्थों के अनुसार यह नगर **सात प्राकारों** से घिरा हुआ था[७] तथा इसके **प्राकार की ऊँचाई अठारह हाथ** थी।[८] नगर में एक सन्थागार था, जो सभाभवन का कार्य देता था। यहाँ पर **गणराज्य के सम्मानित सदस्य एकत्र होकर महत्त्वपूर्ण विषयों** एवं **जटिल समस्याओं पर विचार-विनियम** करते थे। कालान्तर में शाक्यों ने एक नवीन **सन्थागार** का निर्माण करवाया, जिसका उद्घाटन गौतम-बुद्ध के द्वारा हुआ था।[९]

१. "पूर्वा दिग्भूषिता तेन मठैः सुकृतकर्मठैः।" –राजतरङ्गिणी, तरङ्ग ७
२. "दशाश्वमेधावभृथस्नातकानां भागीरथ्याममलजलमूर्द्धाभिषिक्तानां भारशिवानाम्।" –एन्शेन्ट् इण्डिया, ८.२६९
३. "पुरं महर्षेः कपिलस्य वस्तुः।" –बुद्धचरित, सर्ग १.२
४. कपिलस्य च तस्यर्षेस्तस्मिन्नाश्रमवास्तुनि।
यस्मात् तत्पुरं चक्रुस्तस्मात्कपिलवास्तु तत्।। –सौन्दरनन्द, सर्ग १. ५७
५. "कपिलाह्वये पुरे"; "कपिलाह्वये शोभति जन्मभूमिः।" –ललितविस्तर, अध्याय ३.३८
६. सरिद्विस्तीर्णपरिखं स्पष्टाञ्चितमहापथाम्।
शैलकल्पमहावप्रं गिरिव्रजमिवापरम्।। –सौन्दरनन्द, सर्ग १. ४२
७. "कपिलवस्तु सप्तहि पाकारेहि परिक्षिपतो अभूषि।" –महावस्तु, २. ७५, पृष्ठ १०६
८. "अट्ठावसहट्ठुब्बेधम् पाकारम्।" –जातक, १. ६३
९. मललसेकर : डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रॉपर नेम्स, १, पृष्ठ ५१८

गौतम बुद्ध के काल में कपिलवस्तु का व्यापारिक महत्त्व बहुत अधिक था। यहाँ से पूर्व दिशा में एक मार्ग वैशाली होता हुआ राजगृह तक चला जाता था तथा इसी प्रकार दूसरा मार्ग पश्चिम में श्रावस्ती की ओर जाता था।[१] यहाँ के नागरिक वाणिज्य-प्रेमी थे।[२] गौतम बुद्ध की मृत्यु के पश्चात् यहाँ के शाक्यों ने उनके शरीरावशेष पर एक स्तूप का निर्माण किया था तथा वे इसे सम्मान की दृष्टि से देखते थे और इसकी पूजा भी करते थे।[३] ललितविस्तर के अनुसार कपिलवस्तु में सुन्दर **उद्यान, आराम** तथा **विहार** बने हुए थे।[४] यह नगर वैभव-सम्पन्न था तथा इसके नागरिक शुद्धाशय एवं धार्मिक थे।[५] नगर के भीतर सुन्दर **शालाएँ** तथा **बाजार** सुशोभित थीं। इसके **चतुर्दिक् कई उच्च प्रकार** थे तथा एक **परिखा** भी थी। यहाँ पर लोगों को युद्ध की शिक्षा दी जाती थी।[६] कुलीन नरेश शुद्धोधन के राज्यकाल में इस नगर की शोभा का बहुत बड़ा विकास हुआ था।[७] बुद्धचरित में इस नगर को 'पुराधिराज' कहा गया है।[८]

शाक्य-गणराज्य के पतन के पश्चात् कपिलवस्तु का राजनीतिक महत्त्व समाप्त हो गया। इसकी प्रसिद्धि अब केवल एक धार्मिक केन्द्र के रूप में ही रह गई थी। फाह्यान ने कपिलवस्तु का उल्लेख करते हुए कहा है कि-यहाँ की जनसंख्या बहुत कम हो गई थी।[९] सप्तम शताब्दी का चीनी यात्री य्वान् च्वांग ने इस नगर को 'किल-पि-लो-फ-स्से-ति' कहा है। इसने कपिलवस्तु का वर्णन निर्जन रूप में किया है। उसके अनुसार इसके भग्नावशेषों में जंगली जानवर रहते थे। कहीं-कहीं कुछ जीर्ण मठ एवं विहार भी विद्यमान थे, परन्तु उनमें रहने वाले भिक्षुओं की संख्या अधिक नहीं थी।[१०] भारतीय पुरातत्व सर्वेक्षण विभाग ने कपिलवस्तु की पहचान उत्तर-प्रदेश के

---

१. मललसेकर : डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रापॅर नेम्स, १, पृष्ठ ५१९

२. महावस्तु, १.१

३. मललसेकर : डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रापॅर नेम्स, १, पृष्ठ ५१९

४. "उद्यान-आराम-विहारमण्डिता।" -ललितविस्तर, अध्याय ३.३८

५. "अन्येऽपि सत्वा: कपिलाह्वयेपुरे सर्वे सशुद्धाशय धर्मयुक्ता:।" -वही, अध्याय ३.३८

६. "इष्वस्त्रशिक्षासु च पारं गता।" -वही, अध्याय ३.३९

७. शुद्धोधनो राजकुले कुलीनो नरेन्द्रवंशे सविशुद्धगोत्र:।
ऋद्धश्च स्फीश्च निराकुलश्च सगौरव: सज्जनो धार्मिकश्च।। -वही, अध्याय ३.३७

८. बुद्धचरित, सर्ग १

९. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ६४

१०. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.४

सिद्धार्थनगर जनपद के मुख्यावास नौगढ़ से २२ कि०मी० उत्तर में स्थित पिपरहवा से की है।[१]

**कुशीनगर**—कुशीनगर मल्ल गणराज्य की राजधानी थी। इसका प्राचीन नाम कुशावती थी। राजनीतिक केन्द्र होने के अतिरिक्त यह धार्मिक एवं व्यापारिक केन्द्र भी था। गौतम बुद्ध ने इस नगर के दक्षिण-पश्चिम भाग में स्थित शालवन में अपने शरीर का त्याग किया था। उनकी मृत्यु के पश्चात् यह नगर बौद्ध धर्म का महान् तीर्थस्थल बन गया। य्वान् च्वांग के अनुसार शालवन कुशीनगर के उत्तर-पश्चिम भाग में लगभग एक मील की दूरी पर अजितवती नदी के पश्चिमी तट के समीप स्थित था। शाल वृक्षों में चार बृहदाकार वाले थे। इन्हीं के द्वारा घिरे हुए स्थान में गौतम बुद्ध की मृत्यु हुई थी। वहाँ पर ईंटों से निर्मित एक बड़ा चैत्य था, जिसमें एक मूर्ति रखी हुई थी। इसमें गौतम बुद्ध को निर्वाण-प्राप्त तथा उत्तर की ओर सिर करके लेटी हुई अवस्था में दिखाया गया था। इस चैत्य के समीप अशोक निर्मित एक स्तूप था। जिसकी ऊँचाई दो सौ फीट के लगभग थी। इसके सामने एक पत्थर की लाट थी। जिस पर उनके निर्वाण की परिस्थितयों का वर्णन उत्कीर्ण किया गया था।[२]

अशोक ने कुशीनगर में अनेक स्तूप, स्तम्भ तथा मठादि बनवाये थे। जिस स्थान पर गौतम बुद्ध का अन्त्येष्टि संस्कार हुआ था, वहाँ पर भी एक स्तूप बना हुआ था। इस स्थान की मिट्टी पवित्र मानी जाती थी।[३]

फाह्यान के आगमन तक यह नगर उजड़ चुका था। उसके अनुसार शालवन हिरण्यवती नदी के तट पर स्थित था।[४] य्वान् च्वांग ने लिखा है कि यह नगर रामग्राम से एक सौ पचास मील की दूरी पर पूर्व में स्थित था। इस नगर के **प्राकार** आदि गिर चुके थे। इसके भीतर की जनसंख्या बहुत कम हो गई थी। नागरिक-भवनों के खण्डहर तथा भवन-निर्माण में प्रयुक्त ईंटों की नींव दिखाई दे रही थी। उसके अनुसार नगर की परिधि लगभग दो मील थी।[५]

प्राचीन काल में यह नगर क्रय-विक्रय का महान् केन्द्र रहा है। इस नगर की

---

१. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १४४
२. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.२८
३. वही, २.३९
४. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ७१
५. य्वान् च्वांग: वाटर्स, २. २६-२७

**दीवार, परिखा, नगर-द्वारादि** के चित्र साँची, भरहुत तथा अमरावती की कला में अङ्कित है। वस्तुतः कुशीनगर राजनीति, धर्म तथा व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था।

**वैशाली**–वैशाली भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। इक्ष्वाकुवंशीय राजा विशाल ने इस नगर को बसाया था,[१] अतः इसका नाम 'विशाल' पड़ा और बाद में विशाल से वैशाली कहा जाने लगा। विष्णुपुराण[२] तथा वायुपुराण[३] से भी यह ज्ञात होता है कि इस नगर की नींव विशाल ने ही डाली थी। रामायण[४] एवं विष्णुपुराण[५] में इस राज्य के उत्तराधिकारियों की परम्परा का उल्लेख प्राप्त होता है। रामायण के अनुसार राम ने इस नगर को मिथिला जाते समय गङ्गा के उत्तरी तट पर खड़े होकर दूर से देखा था।[६] तदनुसार यह नगर स्वर्ग के समान दिव्य एवं अत्यन्त रमणीय था।[७] इक्ष्वाकु की कृपा से इस नगर के सभी नरेश महात्मा, दीर्घायु वाले, बलवान और धार्मिक थे।[८]

वैशाली लिच्छवी गणराज्य की राजधानी थी। लिच्छवी गणराज्य विस्तृत एवं महान् था। सम्पूर्ण वज्जिसङ्घ इसे अपना नगर मानता था। इस नगर की जनसंख्या

---

१. इक्ष्वाकोस्तु नरव्याघ्रपुत्रः परमधार्मिकः।
अलम्बुषायामुत्पन्नो विशाल इतिविश्रुतः।।
तेन चासीदिह स्थाने विशालेति पुरी कृता। –वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४७. ११-१२

२. तच्चालम्बुषा नाम वराप्सरातृणविन्दुं भेजे।
तस्यामस्य विशालो जज्ञे यः पुरीं वैशालीं निर्म्ममे।। –विष्णुपराुण ४, अध्याय १. १८

३. "विशालस्य समुत्पन्ना विशाला नयनिर्मिता।" –वायुपुराण, अध्याय ८६. १७

४. विशालस्य सुतो राम हेमचन्द्रो महाबलः।
सुचन्द्र इति विख्यातो हेमचन्द्रादनन्तरः।।
सुचन्द्रतनयो राम धूम्राश्व इति विश्रुतः।
धूम्राश्वतनयश्चापि सृञ्जयः समपद्यत।।
सृञ्जयस्य सुतः श्रीमान् सहदेवः प्रतापवान्।
कुशाश्वः सहेदवस्य पुत्रः परमधार्मिकः।।
कुशाश्वस्य महातेजाः सोमदत्तः प्रतापवान्।
सोमदत्तस्य पुत्रस्तु काकुत्स्थ इति विश्रुतः।।
तस्य पुत्रो महातेजाः सम्प्रत्येष पुरीमिमाम्।
आवसत् परमप्रख्यः सुमतिर्नाम दुर्जयः।। –वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४७.१३-१७

५. मरुत्तश्चक्रवर्त्ती...........एते वैशालका भूभृतः।" –विष्णुपराुण, ४, अध्याय १.१८

६. उत्तरं तीरमासाद्या सम्पूज्यर्षिगणं ततः।
गङ्गाकूले निविष्टास्ते विशाला ददृशुः पुरीम्।। –वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ४५.९

७. "विशालां नगरीं रम्यां दिव्यां स्वर्गोपमां तदा।" –वही, बालकाण्ड, सर्ग ४५.१०

८. "दीर्घायुषो महात्मानो वीर्यवन्तः सुधार्मिकाः।" –वही, बालकाण्ड, सर्ग ४७.२८

बहुत थी। इसके **चारों ओर** नगरसुरक्षा की दृष्टि से **एक दूसरे से एक गव्यूति** ***की दूरी पर तीन दीवारें** थीं। **एक मिट्टी** की, **दूसरी ईंट** की और **तीसरी** सम्भवतः **पत्थर** की रही होगी। इन **दीवारों पर गोपुर ( द्वार )** बने हुए थे। जिनके ऊपर **अट्टालकों** का निर्माण किया गया था। यह नगर **परिखाओं** से भी घिरा हुआ था।[१] ललितविस्तर में वैशाली को महानगर बताते हुए कहा गया है कि यह अत्यन्त रमणीय, बहुत से जनों से आकीर्ण तथा **पुष्पवाटिकाओं** एवं **सरोवरों** से युक्त था। इसमें **हर्म्य, कूटागार** तथा **गवाक्ष-युक्त प्रासाद** विद्यमान थे।[२] इस नगर के **बाह्यभाग में एक प्राकृतिक वन** अवस्थित था, जिसे इसकी विशालता के कारण महावन कहा जाता था। इसमें एक बहुत बड़ा विहार का निर्माण किया गया था, जिसका आकार कूटागार के समान था। अतः इसे **'कूटागार शाला'** भी कहा जाता था।[३]

इस नगर का सम्बन्ध जैन एवं बौद्ध धर्म के साथ भी विशेष रूप से था। जैन धर्म के प्रवर्तक महावीर स्वामी का जन्म इसी नगर में हुआ था। अतः जैन धर्म के अनुयायी इसे अपना महत्त्वपूर्ण तीर्थस्थल मानते थे। लिच्छवियों के राज्यकाल में जितने भी महत्त्वपूर्ण शासन एवं विजय-सम्बन्धी कार्य सम्पन्न हुए, उनका केन्द्रबिन्दु यही नगर था। नगर में एक विशाल सार्वजनिक भवन का निर्माण किया गया था, जिसमें **लिच्छिवियों की सभा** होती थी और **राजनीति-सम्बन्धी समस्याओं** का समाधान किया जाता था। यहाँ पर लिच्छवियों का अष्टकुलक नामक एक न्यायालय भी था जिसमें छोटे न्यायालयों के निर्णय में परिवर्तन के लिए याचिका प्रस्तुत की जाती थी। लिच्छवी विद्या के व्यसनी थे। वे विद्याध्ययन-हेतु दूर-दूर तक चले जाते थे। यहाँ के निवासी कला के भी उपासक थे। ललितविस्तर के अनुसार इस नगर में विशेषतः **वास्तुकला** का पर्याप्त विकास हुआ।[४]

---

१. वेसालीनगरम् गावुतगावुतन्तरे तिहि पाकारेहि परिक्खितम्, तिस स्थानेषु गोपुराट्टालोकयुत्तम्।
 –जातक, १.५०४

२. इयं वैशाली महानगरी श्रद्धा च स्फीता च क्षेमा च सुभिक्षा च रमणीया चाकीर्णबहुजनमनुष्या च वितर्दिनिर्यूहतोरणगवाक्षहर्म्यकूटागारप्रासादतलसमलङ्कृता च पुष्पवाटिका वनराजिसङ्कुसुमिता. ....। –ललिताविस्तर, अध्याय ३.३०

३. सुमङ्गलविलासिनी १, पृष्ठ ३०९

४. ललितविस्तर, अध्याय ३

* (क) गव्यूति को सामान्यतया एक कोस की दूरी का वाचक माना जाता था, परन्तु कभी-कभी इसे दो कोस का भी वाचक माना गया है। –लघुसिद्धान्तकौमुदी, परिशिष्ट, पृष्ठ ३५१
(ख) "गव्यूति स्त्रीक्रोशयुगम्।" –अमरकोष, काण्ड, २, पुरवर्ग, १८

वैशाली नगर पर नन्दों, शुङ्गों तथा गुप्तों का भी अधिपत्य रहा। चीनी यात्री फाह्यान के अनुसार नगर के उत्तर में स्थित वन में **दो मञ्जिलों वाला एक विहार** स्थित था, जिसमें गौतम बुद्ध रहते थे।[१] सप्तम शताब्दी में य्वान् च्वांग भी वैशाली आया था। उसने वैशाली नगर को फे-शी-ली कहा है। उसके यात्रा-विवरणानुसार वैशाली-देश की परिधि लगभग एक हजार मील थी। यह बहुत उपजाऊ क्षेत्र था। यहाँ पर आम, केले आदि नाना प्रकार के फल अत्यधिक मात्रा में उपलब्ध होते थे। इसके आगमन के समय यह नगर काफी उज़ड़ चुका था। स्थान-स्थान पर खण्डहर दिखाई देते थे। नागरिकों की संख्या घट चुकी थी। उसके कथनानुसार वैशाली नगर की परिधि लगभग चौदह मील थी। नगर के भीतरी भाग को इसने Palace-City (प्रासाद-नगर) कहा है। इसमें विशिष्ट जन रहते थे। साधारण जनता बाहरी भाग में रहती थी। य्वान् च्वांग ने नगर में स्थित अनेक **स्तूपों** एवं **विहारों** का वर्णन किया है।[२] ऐतिहासिक साक्ष्यों से ज्ञात होता हे कि वैशाली नगर बिहार के मुजफ्फरपुर जिले में **गंडक नदी के तट** पर स्थित था।

**राजगृह**—राजगृह को मगध की सर्वप्रथ्रम राजधानी होने का गौरव प्राप्त था। महाभारत में राजगृह का द्वितीय नाम गिरिव्रज बताते हुए इसे **विपुल, वराह, वृषभ, ऋषिगिरि** तथा **चैत्यगिरि,** इन पाँच पहाड़ियों से परिवेष्टित कहा गया है।[३] पालि-साहित्य में इन पांच पहाड़ियों का नाम **वैभार, वेपुल, पण्डव, इसिगिल** तथा **गिज्झकूट** बताया गया है। वर्तमान में इन्हें **वैभारगिरि, विपुलगिरि, रत्नगिरि, उदयगिरि** तथा **सोनागिरि** कहा जाता है।[४] फाह्यान ने भी लिखा है कि यह नगर **पांच पर्वतमालाओं के द्वारा सुरक्षित** था।[५] य्वान् च्वांग के अनुसार इसके **चतुर्दिक् फैली हुई पर्वत-शृङ्खलाएँ प्राकार का कार्य** करती थीं।[६] रामायण में वसु नामक राजा को गिरिव्रज का संस्थापक बताया गया है।[७]

---

१. फाह्यान : लेग्गे ७२

२. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २. ६३-७०

३. वैराहो विपुलः शैलो वराहो वृषभस्तथा।
तथैवर्षिगिरिस्तात शुभाश्चेत्यकपञ्चमा।।
एते पञ्च महाशृङ्गाः पर्वताः शीतलद्रुमाः।
रक्षन्तीवाऽभिसंहत्य संहताङ्गा गिरिव्रजम्।। –महाभारत, सभापर्व, अध्याय १९. २-३

४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७३

५. फाह्यान : गाइल्स, पृष्ठ ४९

६. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २. १५३

७. असूर्तराजसो नाम धर्मारण्यं महामतिः। चक्रे पुरवरं राजा वसुनाम गिरिव्रजम्।।
–वाल्मीकि रामायण, बालकाण्ड, सर्ग ३२.७

गौतम बुद्ध के समय में राजगृह भारतवर्ष का एक प्रसिद्ध नगर था। वस्तुत: बुद्ध-कालीन राजगृह में दो नगर थे। एक नगर **पञ्चपहाड़ियों से घिरा हुआ** था अत: उस नगर को **अर्न्तनगर** (Inter-city) के नाम से पुकारा जाता था। फाह्यान के अनुसार यह नवीन राजगृह से ४ ली अर्थात् लगभग पौने मील की दूरी पर स्थित था।[१] दूसरा नगर पञ्चपहाड़ियों के घेरे से बाहर था, अत: उसे **बहिर्नगर** (Outer-city) के नाम से सम्बोधित किया जाता था। इसकी स्थापना बुद्ध के समकालीन श्रेणिक बिम्बिसार अथवा उसके पुत्र अजा़तशत्रु ने की थी। कनिंघम तथा उनके विचार के समर्थक अन्य पुरातत्त्ववेत्ताओं के अनुसार राजगृह के गर्म पानी के झरनों के पास से जो पर्वत श्रेणियाँ प्रारम्भ होती हैं, उनके बीच में घाटी में ही पुराना नगर अवस्थित था। घाटी का वह स्थान लगभग **तीन ओर से पहाड़ियों से घिरा हुआ** था और उसका प्रवेश-द्वार गर्म पानी के झरने के आसपास था। घाटी के प्रवेश-द्वार की चौड़ाई लगभग आधा मील से भी कम थी। अनुमान है कि उस आधा मील की प्राकृतिक दूरी को भी अन्य साधनों के द्वारा कम कर दिया गया था, जिससे वह नगर के मुख्य प्रवेश-द्वार का काम कर सके। प्राचीन नगर **प्राकृतिक दृष्टि से सुरक्षित** तो था, इसके अतिरिक्त **पहाड़ियों को अन्य साधनों द्वारा** इस प्रकार जोड़ दिया गया था, जिससे उनके बीच में रिक्त स्थान न रह जाये। पहाड़ियों की ऊँचाई को और अधिक करने के लिए उनके ऊपर **प्राकार** का निर्माण किया गया था। डॉ० पृथ्वी कुमार अग्रवाल के अनुसार **प्राकार की लम्बाई तीस मील, ऊँचाई बारह फुट** तथा **मोटाई अट्ठारह फुट** तक थी।[२] अनन्त कुमार ने प्राकार की लम्बाई बारह या तेरह मील बताई है।[३] जहाँ एक पहाड़ी दूसरी पहाड़ी से लगभग मिलती थी, वहाँ अन्य साधनों द्वारा उनके बीच की दूरी को कम कर दिया गया था। वहाँ पर द्वार भी बना दिये गये थे, ताकि आवश्यकता पड़ने पर पहाड़ियों के उस पार जाया जा सके। भीतर की ओर से चढ़ने के लिए **'हस्तिनख'** अर्थात् **ढालुँआ मार्ग** था और परकोटे की रक्षा करने के लिए जगह-जगह **'इन्द्रकोश'** या **कपिशीर्षक कँगूरे** उठे थे, जिनका स्वरूप आस-पास चौड़ाई में क्रमश: घटते हुए कई फलकों का बना था तथा जहाँ से किसी समय **सैनिकों की रक्षा-पंक्ति** किले की रखवाली करती थी। पहाड़ियों और प्राचीन नगर के बीच में एक अन्य **बड़ी दीवार चारों ओर थी**, जो उस नगर की **आन्तरिक सुरक्षा की दीवार** समझी जाती थी।

---

१. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७३ से उद्धृत

२. वही, पृष्ठ ७३

३. बुद्धकालीन राजगृह, पृष्ठ ९

नवीन राजगृह भी **प्राकार** से परिवेष्टित था। यूवान् च्वांग के समय में इसका **बाह्य-प्राकार** खण्डहर हो चुका था, किन्तु **आभ्यन्तर-प्राकार** स्थित था, जिसके अन्तर्गत २० ली अथवा साढ़े तीन मील का प्रदेश था। कनिंघम ने भी नवीन राजगृह की **दीवार के अवशेष** पाये थे। उसके अनुसार राजगृह की रूपरेखा विषमसम पञ्चभुज के समान थी, जिसमें एक भुजा अधिक लंबी और अन्य चार प्राय: बराबर थीं और **खाइयों** के बाहर का समस्त घेरा लगभग **१४६०** फुट था, जो तीन मील से कुछ कम था।[१] वुकानन नामक पुरातत्त्ववेत्ता ने भी उस नये नगर की **चहारदीवारी** का उल्लेख किया है। इसकी **बाहरी चहारदीवारी बड़े-बड़े शिलाखण्डों** को जोड़कर बनायी गयी थी, परन्तु **शिलाखण्डों** को जोड़ने के लिए किस प्रकार के मसाले का प्रयोग किया गया था, इसकी ठीक-ठीक जानकारी नहीं मिलती है। पालि-साहित्य के दीघनिकाय के सामञ्ञफलसुत्त के अनुसार राजगृह के नगर में **बत्तीस बड़े द्वार** तथा **चौंसठ छोटे द्वार** थे।[२]

पालि-साहित्य में राजगृह को कौशाम्बी, श्रावस्ती, वाराणसी, चम्पा तथा साकेत आदि प्रसिद्ध नगरों के समान महत्त्व प्रदान किया गया है। यहाँ अनेक **उपवन** तथा **उद्यान** विद्यमान थे जिससे इसका सौन्दर्य बढ़ गया था। इसमें **वेणुवन नामक एक प्रसिद्ध उद्यान** था, जिसे मगध के सम्राट् बिम्बिसार ने भिक्षुसंघ को दान में दिया था। नगर में अनेक **जलाशय** भी थे, जो नगर की शोभा के प्राण थे।[३] दीघनिकाय में गौतम बुद्ध के मुख से निकले उद्‌गार इस प्रकार संगृहीत हैं–"रमणीक है राजगृह; रमणीक है, गृध्रकूट; रम्य है गौतम-न्यग्रोध; रमणीय है चौर-प्रपात; रम्य है वैभारगिरि की सप्तपर्णी गुफा; मनोहर है ऋषिगिरि की काल-शिला; रम्य है शीतवन का सर्प-शौंडिक-प्राग्भार; रमणीय है तपोदाराम; मनोहर है वेणुवन का कलन्दकह्रद; आनन्ददायक है जीवक का आम्रवन और रमणीय है मर्दकुक्षि का मृगवन।[४]"

बुद्ध के समय में राजगृह संस्कृति का केन्द्र और सत्ता का गढ़ था। यहाँ उनके जीवन से अनेक स्थल जुड़े हुए हैं। यहाँ उनका प्रिय निवास गृध्रकूट था। यह राजगृह से उत्तर-पूर्व तीन मील की दूरी पर स्थित था। इसकी चोटी का शीर्ष स्थान एक चबूतरे के आकार का था। बिम्बिसार ने बुद्ध की सुविधा के लिए धरातल से चोटी तक एक

१. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७५
२. बुद्धकालीन, राजगृह, पृष्ठ ११
३. बुद्धिस्ट इण्डिया, पृष्ठ ३७
४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७५ से उद्धृत।

सड़क बनवा दी थी।[१] पालि-साहित्य में गृध्रकूट को 'गिज्झकूट' कहा गया है।[२] कनिंघम ने इसकी पहचान आधुनिक शैलगिरि से की है।[३]

राजनीतिक केन्द्र होने के साथ-साथ राजगृह भारत का एक ख्याति-प्राप्त धार्मिक केन्द्र भी था। महाभारत के अनुसार राजगृह में नागों की पूजा होती थी। वहाँ पर मणिनाग तथा स्वस्तिनाग नामक दो पन्नगों के मन्दिर बने हुए थे।[४] राजगृह की पहाड़ियों को सिद्धों, यतियों तथा मुनियों का शरण-स्थल बताया गया है।[५] राजगृह की प्रसिद्धि व्यापार के क्षेत्र में भी थी। तत्कालीन अनेक व्यापारिक मार्ग राजगृह से होकर जाते थे। श्रावस्ती, कपिलवस्तु तथा कुशीनगर से इसका वाणिज्य-सम्बन्ध था। कालान्तर में राजगृह का अधःपतन होने लगा। कहा जाता है कि इसका कारण पाटलिपुत्र नगर का निर्माण था। मगध के नरेशों ने राजगृह के स्थान पर पाटलिपुत्र में राजधानी स्थापित की और इसके विकास के लिए निरन्तर प्रयत्न किया। फलस्वरूप राजगृह की राजनीतिक महत्ता समाप्त हो गई। फाह्यान के आगमन-काल में यह नगर उजड़ चुका था। उसने अपने यात्रा-विवरण में राजगृह का वर्णन निर्जन एवं विविक्त रूप में किया है।[६] सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री यूवान् च्वांग के अनुसार इसके भग्नावशेषों के बीच कहीं-कहीं विहार आदि दिखाई दे रहे थे। इसके अतिरिक्त वहाँ पर कोई बस्ती नहीं थी।[७]

**पाटलिपुत्र**–पाटलिपुत्र भारतवर्ष का एक प्रधान नगर तथा मगध-साम्राज्य की राजधानी थी। प्रारम्भ में यह मगध का एक सामान्य ग्राम था, जिसे पाटलिग्राम कहा जाता था। यह **गङ्गा के दूसरे तट** पर स्थित कोटग्राम के ठीक सामने था। दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त के अनुसार इस नगर का निर्माण अजातशत्रु ने सुधीन एवं

---

१. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २. १५१

२. "राजगहे विहरति गिज्झकूटे पब्बते।" –दीघनिकाय २, महापरिनिब्बानसुत, १३१

३. कनिंघम : एन्शेन्ट् जिऑग्रफि ऑफ् इण्डिया, पृष्ठ ४६६

४. अबुर्दः शक्रवापी च पन्नगौ शत्रुतापनौ।
स्वस्तिकस्यालयश्चात्र मणिनागस्य चोत्तमः।। –महाभारत, सभापर्व, अध्याय १९.९

५. एतेषु पर्वतेन्द्रेषु सर्वसिद्धसमालयाः।
यतीनामाश्रमश्चैव मुनीनां च महात्मनाम्।।
वृषभस्य तमालस्य महावीर्यस्य वै तथा।
गन्धर्वरक्षसां चैव नागानां च तथाऽऽलयाः।। –वही, सभापर्व, अध्याय १९, पृष्ठ १०४

६. फाह्यान : लग्गे, पृष्ठ ८०

७. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.८६

वर्षकार नामक दो मन्त्रियों की सहायता से **गङ्गा** तथा **सोन के सङ्गम** पर एक **दुर्ग के रूप में** किया था।[१] कालान्तर में अजातशत्रु के पुत्र उदायी ने अपनी राजधानी राजगृह से पाटलिपुत्र स्थानान्तरित की तथा **उद्यान, सरोवर** एवं **भवन आदि** विभिन्न प्रकार के निर्माणों के द्वारा इसे नगर का पूर्ण रूप प्रदान किया, अत: युगपुराण में इस नगर की स्थापना का श्रेय उदायी को दिया गया है।[२] वायुपुराण मे भी उदायी को ही नगर का निर्माता बताया गया है।[३] फाह्यान के अनुसार यह नगर **गङ्गा के तट** पर स्थित था।[४] महाभाष्यकार पतञ्जलि[५] तथा विशाखदत्त[६] के अनुसार पाटलिपुत्र **सोन नदी के तट** पर अवस्थित था। बाद में सोन दूर हटती चली गई। प्राचीन ग्रन्थों में इसके कुसुमपुर, पुष्पपुर, पुष्पवती, पुष्पपुरी, पालिबोथ्र, श्रीनगर आदि अनेक नामों का प्रयोग हुआ है। यूवान् च्वांग के अनुसार नगर के **राजप्रासाद के प्राङ्गण में** बहुत से **पुष्प** खिले हुए थे, अत: यह नगर कुसुमपुर के नाम से भी विख्यात हुआ।[७] अजातशत्रु के महामात्यों ने जब इसे बसाना प्रारम्भ किया, उसी समय बुद्ध ने भविष्यवाणी की थी कि–जितने भी आर्य–सन्निवेश हैं, जितने वणिक्–पथ हैं, उनमें यह पाटलिपुत्र अग्रनगर होगा।[८] बौद्ध कालीन अनेक व्यापारिक मार्ग पाटलिपुत्र नगर से होकर जाते थे। इसी कारण यह नगर **वाणिज्य का एक महान् केन्द्र** था। यहाँ पर देश के अन्य सुदूर भागों से **मुहरबन्द सामान की गाँठे** आती थीं और प्रामाणिकता के लिए इन **मुहरों को थोकविक्रेताओं के समक्ष तोड़** दिया जाता था। तदनन्तर **थोकविक्रेता सामान को फुटकरियों के हाथ** बेच देते थे। **मुहरों के इस प्रकार बराबर तोड़ी जाने के कारण पाटलिपुत्र को पुटभेदन** कहा जाता था।[९]

---

१. सुनिधवस्सकारा मगधमहामत्ता पाटलिगामे नगरं मापेन्ति वज्जीनं पटिबाहाय
–दीघनिकाय, २, १५२

२. उदायी नाम धर्मात्मा पृथिव्यां प्रथितो गुणै:।
गङ्गातीरे स राजर्षि: दक्षिणे स महानदे।।
स्थापयेन्नगरं रम्यं पुण्यरामजनाकुलम्।।
–प्राचीन भारत में नगर तथा नगर–जीवन, पृष्ठ १६० से उद्धृत।

३. उदायी भविता तस्मात्त्रयस्त्रिंशत्समा नृप:
स वै पुरावरं राजा पृथिव्यां कुसुमाह्वयम्।।
गङ्गाया दक्षिणे कूले चतुर्थेऽब्दे करिष्यति।। –वायुपुराण, ९९. ३१३

४. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ७७

५. "अनुशोणं पाटलिपुत्रम्।" –पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२५

६. "शोणं सिन्दूरशोणा मम गजपतय: पास्यन्ति शतश:।" –मुद्राराक्षस, अङ्क ४. १६

७. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.८७

८. "यावता, आनन्द, अरियं आयतन, यावता वणिप्पथो इदं अग्गनगरं भविस्सति.....।"
–दीघनिकाय २.१५२

९. "पाटलिपुत्तं पुटभेदनम्।" –वही, २. १५२

पाटलिपुत्र बहुत विशाल नगर था। मौर्य-काल में यह नगर अपने उत्कर्ष को प्राप्त कर चुका था। मेगस्थनीज ने पाटलिपुत्र को भारतवर्ष का सबसे प्रधान नगर बताया है। उसने इसे **गङ्गा** तथा **सोन के सङ्गम पर अवस्थित** कहा है। उसके अनुसार यह नगर साढ़े नव मील लंबा तथा पौने दो मील चौड़ा था। इसकी सुरक्षा के लिए **६०० फुट चौड़ी** तथा **३० हाथ गहरी परिखा** बनाई गई थी। **भीतरी खाई** से २४ फुट भीतर हटकर एक **प्राकार** था, जिसमें **६४ द्वार** तथा **५०० अट्टालक** बने हुए थे। इस **प्राकार में स्थान-स्थान पर छिद्र** बने हुए थे, जिसके द्वारा सैनिक **नगर के भीतर से ही बाहर की शत्रु-सेना पर बाण** चलाते थे। **नगर के बीच में राजप्रासाद** स्थित था, जो वैभव-पूर्ण सूसा एवं समस्त भव्यता को लिए हुए एकबतना में निर्मित पारसीक सम्राटों के राजप्रासाद से भी अत्यधिक सुन्दर था। यह प्रासाद **चमकदार स्तम्भों** से सुसज्जित था, जिन पर **सुवर्ण-मण्डित बेल** लिपटी रहती थी और चाँदी की चिड़ियाँ थीं, जो आँखों को सुख देती थीं। महल के भीतर सुन्दर पर्यङ्क तथा बहुमूल्य धातुओं के द्वारा जड़े हुए बर्तन प्रयोग में लाये जाते थे। यहाँ के नागरिक बहुमूल्य वस्त्र एवं आभूषणों का प्रयोग करते थे।[१] डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल के अनुसार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दुर्गसन्निवेश का जो परिचय दिया है, उसके अनुरूप ही **पाटलिपुत्र नगर का विन्यास** था।[२] कौटिल्य ने अपने 'दुर्ग-विधान' नामक प्रकरण में **नगर के चारों ओर एक-एक दण्ड (४ हाथ या ६ फुट) की दूरी पर बनी तीन परिखाओं** का उल्लेख किया है, जो क्रमशः **चौदह, बारह** और **दस दण्ड (८४, ७२ तथा ६० फुट) चौड़ी** होती थी। इनकी गहराई और तल में पत्थरों के पटाव का भी निर्देश दिया गया है।[३] **परिखा से चार दण्ड हटकर छः दण्ड ऊँचा अत्यन्त दृढ़** तथा **नींव में ऊपर से दुगुनी मोटाई वाला वप्र** बताया गया है। इस वप्र पर **ईंटों की प्राचीर का विधान** है, जिसे ऐसा होना आवश्यक था कि **उसके ऊपर एक रथ सीधा चल सके।**[३] प्राकार के ऊपर **अट्टालक** तथा उसमें नीचे से

---

१. मेक्रिण्डिल : ऐन्शेन्ट् इण्डिया, पृष्ठ ६५-६८

२. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ९५

३. तस्य परिखास्तिस्रो दण्डान्तराः कारयेत्। चतुर्दश द्वादश दशेति दण्डान् विस्तीर्णाः विस्तारादवगाधाः पादोनमर्धं वा त्रिभागमूला मूले चतुरश्राः पाषाणोपहिताः पाषाणेष्टकाबद्धपार्श्वा वा। चतुर्दण्डावकृष्ट परिखायाः षड्दण्डोच्छ्रितमवरुद्धं ताद्विगुणविष्कम्भं खाताद्वप्रं कारयेत्। वप्रस्योपरि प्राकारं विष्कम्भद्विगुणोत्सेधमैष्टकं द्वादशहस्तादूर्ध्वभोजं युग्मं वा आचतुर्विंशतिहस्तादिति कारयेत्। रथचर्यासञ्चारम्.............।

आरोह-अवरोहार्थ **सोपान-रचना** का निर्देश है। ग्रन्थकार ने दो अट्टालकों के बीच तीस दण्ड या एक सौ बीस हाथ का अन्तर बताया है।[१]

पाटलिपुत्र भारत का सर्वाधिक समृद्ध नगर था। इसके प्रासाद, प्राकार तथा परिखा देश-भर में प्रसिद्ध थे।[२] इस नगर के **चार प्रधान द्वार** थे, जिनसे अशोक को चार लाख कार्षापण की दैनिक आय होती थी।[३] पतञ्जलि के अनुसार यह नगर इतना विशाल था कि उसके विभिन्न अङ्गों की व्याख्या करने वाली 'सुकोसला' नामक एक पुस्तिका थी, जिसमें पाटलिपुत्र के **प्राकार, परिखा, प्रासाद** आदि समस्त अवयवों का वर्णन था।[४] फाह्यान के अनुसार उस समय इसके समकक्ष का कोई दूसरा नगर देश में नहीं था।[५]

मौर्यों के अध:पतन के अनन्तर शुङ्ग तथा गुप्त-नरेशों ने भी इस नगर पर राज्य किया। गुप्त राजाओं के समय में भी मौर्यों का राजप्रासाद विद्यमान था। इसकी **दीवारों** एवं **द्वारों पर पत्थरों की चिनाई** की गई थी। यहाँ पर अशोक-निर्मित स्तूप तथा मठादि भी विद्यमान थे। मुद्राराक्षस के द्वारा भी पाटलिपुत्र नगर के विषय में थोड़ा सा परिचय प्राप्त होता है। इस ग्रन्थ में विशाखदत्त ने नगर के **प्राकार** तथा **नगर-द्वारों** का उल्लेख किया है। जिस समय शत्रु-सेना नगर पर आक्रमण करती थी, उस समय इसकी रक्षा हेतु धनुषधारी योद्धा **प्राकार के चतुर्दिक्** खड़े हो जाते थे। **नगर-द्वार** के सामने भयङ्कर हाथियों का झुण्ड खड़ा किया जाता था, जो भीतर प्रवेश करने का प्रयत्न करने वाली शत्रु-सेना को रौंद डालता था। इस ग्रन्थ में राक्षस पाटलिपुत्र की रक्षा हेतु इस प्रकार की व्यवस्था करने के लिए सहयोगियों को आदेश देता है।[६]

गुप्तकाल में पाटलिपुत्र व्यापार का एक विशिष्ट केन्द्र होने के साथ-साथ बौद्धिक

---

१. विष्कम्भचतुरश्रमट्टालकमुत्सेधसमावक्षेसोपानं कारयेत्, त्रिंशद्दण्डान्तरं च।
अर्थशास्त्र, अधिकरण २, अध्याय ३, पृष्ठ १०५

२. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२६

३. वही, पृष्ठ १२६

४. पाटलिपुत्रस्य व्याख्यानी सुकोसेलेति। अवयवशो ह्याख्यानं व्याख्यानम्, पाटलिपुत्रं चाप्यवयवश आचष्टे ईदृशा अस्य प्राकारा: ईदृशा अस्य प्रासादा इति। -महाभाष्य ४.३.६६ पृष्ठ २१० तथा पाटलिपुत्रका: प्राकारा: पाटलिपुत्रका: प्रासदा:। -महाभाष्य ४.३.१३३, पृष्ठ २२१

५. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ७७-७८

६. प्राकारं परित: शरासनधरै: क्षिप्रं परिक्रम्यतां द्वारेषु द्विरदै: प्रतिद्विपघटाभेदक्षमै: स्थीयताम्।
त्यक्त्वा मृत्युभयं प्रहर्तुमनस: शत्रोर्बले दुर्बले ते निर्यान्तु मया सहैकमनसो येषामभीष्टं यश:।।
-मुद्राराक्षस, अङ्क २.१३

वातावरण से परिपूर्ण था। इस नगर में अनेक विद्वान् रहा करते थे, जिनमें ज्योतिषशास्त्र के महामनीषी आर्यभट्ट भी थे। चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का मन्त्री वीरसेन यहीं का निवासी था, जो अनेक शास्त्रों का मर्मज्ञ था। डॉ० उदयनाराण राय के अनुसार वात्स्यायन मुनि गुप्त-काल की विभूति थे। कामसूत्र में उन्होंने जिस नगर-जीवन का चित्रण किया है, वह पाटलिपुत्र पर आधारित था।[१] काव्यमीमांसा के अनुसार बौद्धिक क्षेत्र में पाटलिपुत्र की प्रसिद्धि गुप्त-काल से भी पहले से सिद्ध होती है। इस ग्रन्थ के अनुसार यहाँ एक विद्वन्मण्डली रहती थी, जो विभिन्न ग्रन्थकारों के ग्रन्थों की परीक्षा लेती थी। इस विद्वन्मण्डली ने वर्ष, उपवर्ष, पाणिनि, पिङ्गल, व्याडि, वररुचि तथा पतञ्जलि आदि के ग्रन्थों की परीक्षा ली थी।[२]

व्यापारिक क्षेत्र में इस नगर की प्रसिद्धि का प्रमुख कारण सुप्रसिद्ध व्यापारिक मार्ग 'उत्तर-पथ' से इसका सम्बन्ध होना माना जा सकता है। दण्डी ने दशकुमारचरित में इस नगर के व्यापारिक वातावरण का चित्रण करते हुए इसे सर्वश्रेष्ठ नगर कहा है।[३]

गुप्त-साम्राज्य के अध:पतन के पश्चात् पाटलिपुत्र नगर की समृद्धि क्षीण होने लगी। य्वान् च्वांग के समय में यह नगर भग्नावशेष को प्राप्त हो चुका था। उसके अनुसार इस नगर का भग्नावशेष एक विशाल क्षेत्र में फैला हुआ था, जिसकी परिधि लगभग पन्द्रह मील थी।[४] पाटलिपुत्र के विनाश का प्रमुख कारण राजनीतिक था, जो कि बाद के नरेशों ने अपनी राजधानी इस नगर के स्थान पर कान्यकुब्ज में स्थापित की। इसके विनाश-कार्य में अन्य आकस्मिक कारणों का भी योगदान रहा। दीघनिकाय के महापरिनिब्बानसुत्त में पाटलिपुत्र के विनाश का कारण जलप्लावन बताया गया है।[५]

प्राचीन पाटलिपुत्र नगर आधुनिक पटना के समीप कुम्हरार एवं बुलन्दीबाग नामक ग्राम के स्थान पर अवस्थित था। इस बात की जानकारी पुरातत्त्व विभाग द्वारा किये गये अन्वेषणों तथा उत्खननों से मिलती है। डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल के

१. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १६६
२. श्रूयते च पाटलिपुत्रे शास्त्रकारपरीक्षा–
अत्रोपवर्षवर्षौ इह पाणिनिपिंगलाविह व्याडि:।।
वररुचि-पतञ्जली इह परीक्षिता: ख्यातिमुपजग्मु:।।–काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृष्ठ १४३
३. अस्ति समस्तनगरीनिकषायमाणा शश्वदगण्यपण्यविस्तारित-मणिगणादिवस्तुजात-व्याख्यातरत्नाकरमाहात्म्या मगधदेशशेखरीभूता पुष्पपुरी नाम नगरी।
–दशकुमारचरित, पूर्वपीठिका, उच्छवास १.१
४. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.८७
५. दीघनिकाय, २, महापरिनिब्बानसुत्त, पाटलिपुत्तनगरमापन

अनुसार कुम्हरार से मौर्यों के **विशाल मण्डप** या **सभाभवन के अवशेष** मिले हैं, जिसकी **छत पत्थर के अस्सी खम्भों** पर टिकी थी। इसका **चबूतरा** तथा **छत** दोनों **लकड़ी** के बने हुए थे, जो कालान्तर में आग लग जाने के कारण राख के ढेर में परिवर्तित हो गये। इसके विशाल अश्मस्तम्भ भी खण्डों में बदल गए। केवल एक खम्भा कुछ लम्बाई (लगभग १४ फुट) तक मिला है, जिसका स्वरूप अन्य मौर्य खम्भों की ही भाँति गावदुम है और उसमें कोई पीठिका या आधार नहीं है। इस पर चमकीली मौर्य ओप है और वह पूरा एक-का-एक चुनार के बलुए पत्थर का है। ऊँचाई में अनुमानतः ये स्तम्भ ३२ फुट के थे परन्तु वर्तमान में अनेक टुकड़ों के रूप में अवशेष है।[१] मेगस्थनीज के अनुसार **पाटलिपुत्र का प्राकार** लकड़ी का बना हुआ था। डॉ०डी०बी० स्पूनर को कुम्हरार के समीप उत्तर की ओर बुलन्दीबाग के उत्खनन में साल की लकड़ी से निर्मित **चहारदीवारी के अवशेष** लगभग ४५० फुट की लम्बाई तक प्राप्त हुए थे।[२] बी०जी० गोखले ने भी इस बात का उल्लेख किया है कि पाटलिपुत्र के चारों ओर बनी दीवार **कच्ची ईंटों** तथा **लकड़ी** की थी,[३] परन्तु आचार्य दीपङ्कर के कथनानुसार प्राकार लकड़ी का कभी नहीं बनाया जाता था। इसके लिए पत्थर और ईंट का चूरा ही काम में लाया जाता था।[४]

**नालन्दा**–नालन्दा अपने विश्वविद्यालय के लिए विशेष रूप से विख्यात था। यह नगर पटना से ५५ मील दक्षिण तथा राजगृह से ७ मील उत्तर में स्थित था। आज इसके भग्नावशेष बडगाँव में प्राप्त होते हैं। पाँचवीं से ग्यारहवीं सदी तक यह बौद्ध धर्म एवं शिक्षा का प्रमुख विश्व-विश्रुत केन्द्र रहा है। य्वान् च्वांग के आगमन समय (सप्तम शताब्दी) में नालन्दा में अन्ताराष्ट्रीय ख्याति का एक विश्वविद्यालय स्थित था। उसके अनुसार इस विश्वविद्यालय की स्थापना कुमारगुप्त (शक्रादित्य) नामक नरेश ने की थी।[५] तदनन्तर तथागतगुप्त, बालादित्य, वज्र तथा हर्षादि ने नालन्दा में भवनादि का निर्माण करवाया तथा विश्वविद्यालय को आर्थिक सहयोग प्रदान किया।[६]

नालन्दा एक मील लम्बा तथा $\frac{१}{२}$ मील चौड़ा था। बी०जी० गोखले ने नालन्दा का वर्णन करते हुए लिखा है कि–यह लम्बे-चौड़े शयन-कक्षों, अध्यापनकक्षों, पुस्तकालयों

१. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ९७
२. वही, पृष्ठ ८६-९७
३. प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति, पृष्ठ ३६
४. कौटिल्यकालीन भारत, पृष्ठ ३१
५. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २. १६४
६. वही, २. १६४

तथा वेधशालाओं का एक जटिल भवन-समूह बन गया, जो चारों ओर एक **दीवार** से घिरा हुआ था। इसमें प्रवेश के लिए एक बहुत बड़ा द्वार था, जिसके खुलते ही सामने विश्वविद्यालय के भवन थे। इससे अलग संघाराम के मध्य में आठ अन्य बड़े-बड़े **सभा-भवन** बने हुए थे। ये भवन "जो सभी **कई मञ्जिल** के थे, लम्बाई, चौड़ाई तथा ऊँचाई की दृष्टि से अत्यंन्त भव्य थे। इनमें अत्यन्त सुसज्जित **मीनार** तथा **बुर्जियाँ** थीं, जैसे परियों की कहानियों में होती है, जो दूर से देखने में नुकीले पर्वत-शिखरों जैसी लगती थीं और प्रातः काल के कुहरे में छिपी रहने वाली वेधशालाएँ थीं। ऊपर के कमरे बादलों में अपना मस्तक ऊँचा किये हुए दिखाई देते थे और उनकी खिड़कियों से हवाओं का वेग तथा नित नया रूप धारण करते हुए बादल एवं उनके अलिन्दों में सूर्यास्त का सौंदर्य और ज्योत्स्ना का नयनाभिराम दृश्य देखा जा सकता था।[१]

नालन्दा के सौन्दर्य का चित्रण करते हुए ह्वई ली ने भी लिखा है कि-निर्मल जल से भरे हुए गहरे **सरोवरों** के धरातल पर नीलकमल तैरते रहते हैं, जिनके बीच-बीच में गहरे लाल रंग के कनक के फूल अपनी छवि दिखाते हैं और थोड़ी-थोड़ी दूरी पर **आम्रकुञ्ज** अपनी छाया से भूमि को ढक लेते हैं। बाहर के सभी प्राङ्गण जिनमें पुरोहितों के कक्ष बने हुए हैं, **चार मंञ्जिलें** हैं। हर मञ्जिल पर अजगर की आकृति में कटे हुए पत्थर बाहर की ओर निकले हुए हैं और रंग-बिरंगे अलिन्द बने हुए हैं, मूँगे जैसे लाल स्तम्भों पर अत्यन्त सुन्दर बेल-बूटों की चित्रकारी है; उन भवनों में अत्यन्त सुन्दर तथा सुसज्जित रोशनदान हैं और छतों पर ऐसे चौके लगे हैं, जिनसे प्रकाश हजारों अलग-अलग रंगों में प्रतिबिम्बित होता है। इन सब चीजों के कारण यहाँ का सौंदर्य और भी बढ़ जाता है।[२]

नालन्दा विश्वविद्यालय में अनेक विद्वान् रहा करते थे। य्वान् च्वांग के काल में शीलभद्र इस विश्वविद्यालय के कुलपति थे, यहाँ बौद्ध धर्म के प्रसिद्ध आचार्य धर्मपाल तथा चन्द्रपाल थे। दार्शनिक गुणमति और स्थिरमति यशस्विता के लिए प्रसिद्ध थे। प्रभामित्र अपनी तार्किक बुद्धि के लिए तथा जिनमित्र वाद-विवाद के लिए विख्यात थे। यहाँ के आचार्य न केवल अध्यापन-कार्य के लिए ही विख्यात थे, अपितु ग्रन्थ-रचना में भी विपुल कीर्ति अर्जित कर चुके थे।[३]

य्वान् च्वांग के विवरण से प्रतीत होता है कि इस विश्वविद्यालय में विद्यार्थियों

---

१. प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति, पृष्ठ १४२
२. वही, पृष्ठ १४२
३. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २. १६५

के लिए प्रवेश पाना दुष्कर कार्य थे। उसके अनुसार इसकी चहारदीवारी के मुख्य द्वारों के समक्ष पण्डितों की नियुक्ति की गई थी, जिन्हें द्वार-पण्डित कहा जाता था। वे विविध विषयों के विशेषज्ञ हुआ करते थे। विश्वविद्यालय में प्रवेश की इच्छा रखने वाले विद्यार्थियों की योग्यता तथा प्रतिभा की परीक्षा के लिए वे दार्शनिक विषयों एवं जटिल समस्याओं पर क्लिष्ट प्रश्न पूछते थे। समुचित उत्तर देने के उपरान्त ही उन्हें विश्वविद्यालय में प्रवेश की अनुमति मिल पाती थी। यूवान् च्वांग के अनुसार २०% विद्यार्थी ही बड़ी कठिनता से इस प्रवेश-परीक्षा में उत्तीर्ण हो पाते थे। अधिकांश छात्र अनुत्तीर्ण होने के कारण निराश होकर वापस लौट जाते थे।[१]

इस विश्वविद्यालय में चीन, तिब्बत, कोरिया आदि विदेशों से भी विद्यार्थी विद्या-अध्ययन के निमित्त आते थे। यहाँ का पठन-पाठन विमर्श तथा वाद-विवाद के द्वारा होता था। पाठ्यक्रम उच्च श्रेणी का था। यहाँ पर न केवल बौद्ध धर्म की ही शिक्षा दी जाती थी, अपितु वेद, हेतुविद्या, शब्दविद्या, चिकित्साशास्त्र, योगशास्त्र, न्याय, कोष, विभाषा तथा अर्थविद्या की भी शिक्षा दी जाती थी।[२] शिक्षा-कार्य की सरलता के लिए यहाँ पर एक विशाल पुस्तकालय था, जिसमें समस्त शास्त्रों के ग्रन्थ एकत्र थे। इस विशाल पुस्तकालय का भवन-**रत्नसागर, रत्नोदधि** तथा **रत्नरञ्जन** के नाम से तीन भागों में विभक्त था। रत्नोदधि का भवन **९ मञ्जिल** का था और उसमें प्रज्ञापारमिता श्रेणी के धर्मग्रन्थ तथा तान्त्रिक रचनाओं का संग्रह था।[३]

बख्तियार खिलजी के आक्रमण काल में यहाँ पर शान्तिरक्षित की देख-रेख में स्थापित बौद्ध विहार का पतन हो गया। असंख्य बौद्ध भिक्षु मार दिये गये, पुस्तकालय को अग्निसात् कर दिया गया और शिक्षा का यह पावन मन्दिर कई सदियों तक ज्ञान के आलोक से सभी दिशाओं को आलोकित करता हुआ सदा-सदा के लिए निर्वाण को प्राप्त हो गया।

**गया**-गया मूलतः धर्म का केन्द्र माना जाता था। महाभारत में इसे एक धार्मिक केन्द्र के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।[४] इस नगर के धार्मिक जीवन का सबसे

१. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.१६५

२. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १७४

३. प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति, पृष्ठ १४३

४. ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी जितेन्द्रियः। अश्वमेधमवाप्नोति गमनादेव भारत।।
तत्राक्षयवटो नाम त्रिषु लोकेषु विश्रुतः। पितृणां तत्र वै दत्तमक्षयं भवति प्रभो।।
महानद्यामुपस्पृश्य तर्पयेत्पितृदेवताः। अक्षयान्प्राप्नुयाल्लोकान्कुलं चैव समुद्धरेत्।।
कृष्णशुक्लावुभौ पक्षौ गयायां यो वसेन्नरः। पुनात्यासप्ततं राजन्कुलं नास्त्यत्र संशयः।।
-महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८२.७१-७३;८४

महत्त्वपूर्ण अङ्ग, यहाँ आकर श्राद्ध-दान करना था। गरुड़पुराण के अनुसार गया में श्राद्ध के द्वारा पापी व्यक्ति ब्रह्म-हत्या, सुरापान, चोरी, गुरुभार्यागमन तथा अनेक प्रकार के कठोर अपराधों से मुक्त हो जाता है।[१] पद्मपुराण में भी गया के धार्मिक महत्त्व का प्रतिपादन करते हुए कहा गया है कि गया में निवास करने से अश्वमेध यज्ञ के फल की प्राप्ति हो जाती है।[२]

गया बौद्ध धर्म का एक विशिष्ट केन्द्र था। महात्मा बुद्ध ने यहाँ छः वर्षों तक कठोर साधना की थी। फाह्यान तथा य्वान् च्वांग आदि चीनी यात्रियों ने इसकी यात्रा की थी। फाह्यान के अनुसार बुद्ध ने जहाँ तपस्या की थी, वह स्थान नगर से २०ली (३½ मील) की दूरी पर स्थित था। इस चीनी यात्री के विवरणानुसार जहाँ गौतम बुद्ध को ज्ञान प्राप्त हुआ था, वहाँ बौद्धों के तीन मठ बने हुए थे और इनमें भिक्षु रहा करते थे। इनका जीवन संयमित एवं आदर्श था।[३]

य्वान् च्वांग ने भी गया का विस्तृत वर्णन किया है। उसके अनुसार इसकी भौगोलिक स्थिति अच्छी थी परन्तु नागरिकों की संख्या बहुत कम थी। इस नगर का नाम गय नामक एक महान् ऋषि के नाम पर रखा गया था। उसके वंशजों का परिवार इस नगर में रहता था। गया के दक्षिण-पश्चिम में लगभग एक मील की दूरी पर एक पर्वत था, जिसे भारतीय लोग धर्म-गिरि कहते थे। इसकी चोटी पर सौ फीट ऊँचा पत्थर का एक स्तूप था, जहाँ पहले गौतम बुद्ध ने रत्नमेघ-सूत्र का प्रवचन किया था।[४]

य्वान् च्वांग ने बोधि-वृक्ष का भी वर्णन किया है, जिसके चारों और **इष्टका निर्मित** ऊँची तथा सुदृढ़ एक **आयताकार दीवार** थी। इस **चहारदीवारी** का मुख्य द्वार पूर्व-दिशा में निरञ्जना नदी के सामने पड़ता था। इसके दक्षिणी द्वार से एक मार्ग पास में ही स्थित फूलों वाले सरोवरों की ओर जाता था। उत्तरी द्वार के पास एक बड़ा मठ था। बोधि-वृक्ष के दर्शन-हेतु अनेक भारतीय नरेश, सामन्त तथा उच्च पदाधिकारी आते थे। इसके समीप में उनके द्वारा निर्मित स्तूप एवं देवालय उस समय विद्यमान

---

१. ब्रह्महत्या सुरापानं स्तेयं गुर्वंगनागमः।
पापं तत्संगजं सर्वं गया श्राद्धाद्विनश्यति।।
असंस्कृता मृता ये च पशुचोरहताश्च ये।
सर्पद्रष्टा गया श्राद्धान्मुक्ताः स्वर्गं ब्रजन्ति ते।। -गरुडपुराण, अध्याय ८१. १७-१८

२. ततो गयां समासाद्य ब्रह्मचारी समाहितः।
अश्वमेधमाप्नोति गमनादेव भारत।। -पद्मपुराण ३, अध्याय ३८.२

३. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ ८७-८९

४. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.११२

थे।[१] बोधि-वृक्ष के पास पश्चिम की ओर एक मन्दिर था, जिसमें बुद्ध की खड़ी अवस्था में ताम्र-प्रतिमा स्थापित की गई थी।[२] यहाँ पर अशोक-निर्मित सौ फीट ऊँचा एक स्तूप भी था।[३] य्वान् च्वांग के विवरणानुसार बोधि-वृक्ष की चहारदीवारी के बाहर चारों कोनों पर एक-एक स्तूप बना हुआ था। दक्षिण-पूर्व कोने पर स्थित स्तूप के पास एक छायादार वट-वृक्ष तथा बौद्ध देवालय भी था, जिसमें आसीन अवस्था में बुद्ध की प्रतिमा स्थापित की गई थी।[४]

**चम्पा**–चम्पा प्राचीन समय में बिहार की एक समृद्धशालिनी तथा अंग जनपद की राजधानी थी। चीनी यात्री फाह्यान के अनुसार यह नगरी पाटलिपुत्र से अठारह योजन की दूरी पर **गङ्गा नदी** के **दक्षिणी तट** पर बसी हुई थी।[५] य्वान् च्वांग ने भी अपने यात्रा-विवरण में चम्पा का वर्णन किया है। इसके अनुसार भी यह नगर **गङ्गा के दक्षिणी तट** पर स्थित था। चम्पा देश की परिधि ४००ली (७० मील) तथा नगर की परिधि ४०ली (७ मील) थी। य्वान् च्वांग के आगमन काल में यह नगर काफी विनष्ट हो चुका था। इसके मठादि ध्वस्त हो चुके थे। यहाँ पर खण्डहरों में लगभग २०० हीनयान मतावलम्बी रहते थे। उसके विवरणानुसार इस नगर से १४० ली (२४ मील) की दूरी पर एक आकर्षक देव-मन्दिर स्थित था।[६] वर्तमान में भागलपुर के निकट चम्पानगर तथा चम्पापुर में इस प्राचीन नगर की पहचान की गई है। इसका वास्तविक प्रतिनिधि नगर भागलपुर के समीपस्थ नाथनगर है।[७]

चम्पा एक विशाल नगरी थी। शब्दकल्पद्रुम में प्राप्त उल्लेखानुसार इसका निर्माण हरिश्चन्द्र के प्रपौत्र चम्प ने किया था।[८] जिसकी योजना महागोविन्द ने बनायी थी।[९]

---

१. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २, ११५
२. वही, २.१२१
३. वही, २. १२२
४. वही, २. १२५-२६
५. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ १००
६. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.१८१
७. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १८४
८. (क) "चम्पेन राज्ञो हरिश्चन्द्रस्य प्रपौत्रेण निर्म्मिता या पुरी।"

–शब्दकल्पद्रुम, भाग २, पृष्ठ ४३४

(ख) चम्पस्य तु पुरी चम्पा या मालिन्यभवत्पुरा।

–हरिवंशपुराण, हरिवंशपर्व, अध्याय ३१. ४९

९. दन्तपुरं कलिङ्गानं अस्सकानञ्च पोतनं। महेसयं अवन्तीनं, सोवीरानञ्च रोरुकं।।
मिथिला च विदेहानं, चम्पा अङ्गेसु मापिता। बाराणसी च कासीनं, एते गोविन्दमापिताति।।

–दीघनिकाय, २.३०९

यह नगरी **परिखा** तथा **प्राकार** से परिवेष्टित थी। चम्पा नामक नदी अंग एवं मगध के बीच सीमा–निर्धारण करती थी।[१] पालि–ग्रन्थों के अनुसार इसमें '**गग्गरापोखरणी**' नामक एक तालाब था, जिसका निर्माण गग्गरा नामक साम्राज्ञी ने करवाया था। इस तालाब के तट पर चम्पक वृक्षों का एक गुल्म था, जिसके कारण आसपास के क्षेत्र का वायुमण्डल सौरभयुक्त रहता था।[२] महाभारत के अनुसार इस नगरी को जरासन्ध ने कर्ण को दान में दी थी।[३]

चम्पा नगरी महावीर तथा गौतम बुद्ध की कृतियों से सम्बन्धित थी। यहाँ पर गौतम बुद्ध का कई बार आगमन हुआ था। वे गग्गरापोखरणी के तट पर रुकते थे।[४] उनके समय में इस नगरी की गणना उत्तरी भारत के छः प्रधान नगरों में की जाती थी। वाणिज्य के क्षेत्र में भी इस नगरी का काफी महत्त्व था। यहाँ के व्यापारी दूर–दूर तक व्यापार के निमित्त निकल जाया करते थे। विद्वानों के मतानुसार चम्पा के ही नागरिकों ने इण्डो–चीन में इस नाम के उपनिवेश की स्थापना की थी।[५]

**मिथिला**–मिथिला विदेह जनपद की राजधानी थी। शतपथ–ब्राह्मण के अनुसार माधव विदेह ने इस प्रदेश को बसाया था, अतएव इसका नाम विदेह पड़ा। उन्होंने प्रतीच्य भाग से ज्ञान की ज्योति लाकर यहाँ जलाई थी।[६] इस प्रदेश की परिधि ३०० योजन थी।[७] इसका द्वितीय नाम 'तीरभुक्ति' था, जिसे अब तिरहुत कहा जाता है। विदेह वैदिक काल से बौद्ध काल तक वैदिक संस्कृति का महान् केन्द्र रहा। बौद्ध काल में विदेह वज्जिसंघ में सम्मिलित था।[८]

मिथिला का उल्लेख रामायण, महाभारत तथा पुराणादि में प्राप्त होता है। वायुपुराण

---

१. जातक, ४. ४५४

२. मललसेकर : डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रॉपर नेम्स, २.७२४

३. प्रीत्या ददौ स कर्णाय मालिनीं नगरीमथ।
पालयामास चम्पाञ्च कर्णः परबलार्दनः।
दुर्योधनस्यानुमते तवापि विदितं तथा।। –महाभारत, शान्तिपर्व, अध्याय ५. ६–७

४. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.१८२

५. मललसेकर : डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रॉपर नेम्स, २. ७२४

६. घृताच्येति। विदेधो ह माथवोऽग्निं वैश्वानरं मुखे बभार तस्य गोमतो राहूगण ऋषिः पुरोहित आस तस्मै ह स्मामन्त्र्यमाणो न प्रतिशृणोति नन्मेऽगिर्वैश्वारो मुखान्निष्पद्याताऽइति।।
–शपतथब्राह्मण, १.४.१.१०

७. "त्रियोजनसतिके।"–जातक, ४.३८६

८. महाभाष्य, ४.१.१६८

के अनुसार निमि के पुत्र मिथि के नाम पर इस नगरी का मिथिला नाम पड़ा[१] अथवा मिथिल के बसाये जाने के कारण इस नगरी को मिथिला कहा जाता था।[२]

जातक ग्रन्थों के अनुसार मिथिला नगरी के चारों ओर **तीन प्रकार की परिखाएँ** (१) **उदकपरिखा, (२) कद्दमपरिखा** तथा (३) **सुक्ख-परिखा** (सूखी हुई खाई) विद्यमान थी।[३] इसके **चतुर्दिक् ऊँचा प्राकार** था, जिसमें **अट्टालकों** तथा **द्वारों** का निर्माण किया गया था। नगरी के भीतर सुन्दर **राजमार्ग** और मनोरम **वाटिकाएँ** एवं **सरोवर** स्थित थे। यहाँ के नागरिक काशी के रेशमी वस्त्रों के प्रेमी थे। नगरी के **प्रासादों** की सुन्दरता दर्शनीय थी।[४] यहाँ के अधिपति जनक थे। उपनिषद्काल में राजा जनक की मान्यता एक दार्शनिक के रूप में थी। प्राचीन ग्रन्थों में मिथिला नरेश को धर्मनिष्ठ कहा गया है। विदेहाधिपति जनक की धार्मिक तथा सांस्कृतिक कृतियों से इस नगरी की शोभा और अधिक बढ़ गई थी। नगरी के नागरिक सभ्य, सुसंस्कृत तथा सम्पन्न थे। वे उत्सवप्रेमी, धर्मपारायण एवं परोपकारप्रिय थे। यहाँ के **राजमार्गों का निर्माण वैज्ञानिक पद्धति** के अनुसार किया गया था। महाभारत में जनक-द्वारा यज्ञों के सम्पादन का उल्लेख प्राप्त होता है।[५] जनक लौकिक आसक्तियों से पराङ्मुख थे। उन्होंने जलती हुई मिथिला नगरी के सम्बन्ध में कहा था कि "इस जलती हुई मिथिला नगरी में मेरा कुछ भी नहीं जल रहा है।"[६]

व्यापार की दृष्टि से यह नगरी समृद्ध थी। जातकों से ज्ञात होता है कि श्रावस्ती के व्यापारी गाड़ियों में वर्तनों को भरकर उन्हें बेचने के लिए मिथिला जाते थे और सामान बेचकर स्थानीय वस्तुओं से अपनी गाड़ियों को भरकर वहाँ से वापस श्रावस्ती लौटते थे।[७] व्यापार के अतिरिक्त बौद्धिक केन्द्र के रूप में भी इस नगरी की प्रतिष्ठा थी। जनक विद्वानों के आश्रय-दाता माने जाते थे। यहाँ के पिङ्गुत्तर नामक एक नागरिक ने तक्षशिला में आकर विविध विषयों का अध्ययन किया था।[८] ब्रह्मायु नामक व्यक्ति इतिहास, व्याकरण का ज्ञाता एवं अनेक गुणों से युक्त था।[९] प्रसिद्ध दार्शनिक मण्डनमिश्र एवं गङ्गेश उपाध्याय यहीं के नागरिक थे।

---

१. वायुपुराण, अध्याय ८९.६

२. (क) मिथिलो मथनाज्जातो मिथिला येन निर्मिता।।

–श्रीमद्भागवत, स्कन्ध ९, अध्याय १३. १३

(ख) येन मिथिला पुरी निर्मिता अतोऽपि सः मिथिलोऽभूदिति व्युत्पत्त्यन्तरम्। यद्वा मिथिलेन निर्मितत्वात् पुरी अपि मिथिलाख्या जातेत्यर्थः। –वही, टीका, स्कन्ध ९, पृष्ठ १०१४

३. जातक, ६. ५४६

४. वही, ६. ५४६

५. महाभारत, वनपर्व, अध्याय १३२-१३४

६. जातक, ६.५४-५५

७. वही, ६. ३२

८. वही, ६. ३४७

९. मज्झिम-निकाय, २. १३३

**ताम्रलिप्ति**–यह नगर पूर्वी **समुद्र-तट** पर विशाल बन्दरगाह के रूप में स्थित था। विष्णु-पुराण में इसे **समुद्र-तट पर अवस्थित** पुरी कहा गया है।[१] ताम्रलिप्ति की पहचान आधुनिक तमुलक से की जाती है, जो कि पूर्वी बंगाल के मिदनापुर जिले में **कोसी नदी के दक्षिणी तट** पर स्थित है।[२] तोलेमी के अनुसार यह **गङ्गा के मुहाने** पर स्थित था।[३] भारतीय इतिहास कोश के अनुसार पहले यह समुद्र के निकट था, परन्तु गङ्गा का मार्ग बदल जाने के कारण अब यह समुद्र-तट से दूर हो गया है।[४] अभिधान-चिन्तामणि में इस नगर के ताम्रलिप्त, तमालिनी, स्तम्बपुर एवं विष्णुगृह आदि नाम भी बताये गये हैं।[५]

ताम्रलिप्ति नगर के समुद्रतट पर स्थित होने तथा उत्तरपथ से सम्बद्ध होने के कारण यह एक सुप्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र के रूप में भी जाना जाता था। दशकुमारचरित के अनुसार ताम्रलिप्ति के पोताश्रय से व्यापारी जहाजों में बैठकर सिंहल, यूनान, जावा तथा चीन के लिए प्रस्थान करते थे।[६] महाकवि कालिदास के रघुवंश से ज्ञात होता है कि द्वीपान्तर से हमारे देश में मसाले आयात होते थे।[७]

फाह्यान ने भी अपने यात्रा-विवरण में ताम्रलिप्ति का वर्णन किया है। उसके अनुसार जब वह यहाँ आया, उस समय इस नगर के आस-पास २२ मठ विद्यमान थे, जिनमें बौद्ध भिक्षु रहा करते थे। बौद्ध सूत्रों की प्रतिलिपि करने के लिए वह इस नगर में दो वर्षों तक रुका हुआ था। उसके अनुसार स्वदेश वापस लौटने के लिए वह यहीं पर व्यापारियों के एक बड़े जहाज में बैठा था और यह जलपोत चौदह दिनों की कठिन यात्रा के पश्चात् सिंहल पहुँचा था।[८]

यूवान् च्वांग ने ताम्रलिप्ति नगर का नाम तन-मो-लिह-ती दिया है। उसके अनुसार इस नगर की परिधि लगभग दो मील थी। उसके कथनानुसार यह नगर

---

१. "......ताम्रलिप्तान् समुद्रतटपुरीश्च देवरक्षितो रक्षिष्यति।"
 –विष्णुपुराण ४, अध्याय २४. १८, पृष्ठ ६२४
२. संस्कृत-हिन्दी-कोश (आप्टे), पृष्ठ १२०५-६
३. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १८७
४. भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ३४८
५. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १८८ से उद्धृत।
६. वही, पृष्ठ १८८
७. अनेन सार्धं विहराम्बुराशेः तीरेषु तालीवनमर्मरेषु।
 द्वीपान्तरानीतवंगपुष्पैरपाकृतस्वेदलबा मरुद्भिः।। –रघुवंश, सर्ग ६. ५७
८. फाह्यान : लेग्गे, पृष्ठ १००

**समुद्रतट** पर बसा हुआ था। यहाँ की भूमि उपजाऊ और नम थी। यहाँ के अधिकांश नागरिक बौद्ध मतावलम्बी थे। नगर में दस मठ विद्यमान थे, जिनमें एक हजार से अधिक बौद्ध भिक्षु रहते थे। यहाँ पर अशोक-निर्मित एक स्तूप भी स्थित था। चीन से समुद्र-मार्ग के द्वारा भारत आने वाले यात्री इसी बन्दरगाह पर उतरते थे और यहीं से स्वदेश लौटते थे।[१]

**प्राग्ज्योतिषपुर**—प्राग्ज्योतिषपुर कामरूप का प्रधान नगर था और इस प्रदेश का दूसरा नाम प्राग्ज्योतिष था। प्राग्ज्योतिषपुर पहले ज्योतिष का केन्द्र माना जाता था, इसी कारण इसका नाम प्राग्ज्योतिषपुर पड़ा। यह नाम उस समय पड़ा, जब शाकद्वीपी ब्राह्मणों का यहाँ आगमन हुआ, जो कि ज्योतिष के मर्मज्ञ थे। अतः उन्हें दैवज्ञ कहा जाता था। उनकी रचनाओं के फलस्वरूप ज्योतिषशास्त्र के साथ कामरूप का विशेष सम्बन्ध समझा जाने लगा।[२]

बृहत्संहिता में प्राग्ज्योतिष की गणना पूर्वी देशों के अन्तर्गत की गई है।[३] महाभारत के अनुसार इसकी सीमा पर किरात तथा चीन देश विद्यमान थे।[४] महाभारत के युद्ध में वहाँ के राजा भगदत्त ने भाग लिया था, जिसकी सेना में चीनी सैनिक भी सम्मिलित थे।[५] राजशेखर ने भी प्राग्ज्योतिष का उल्लेख पूर्वी देशों के अन्तर्गत किया है।[६] यहाँ पर कामख्या देवी का अत्यन्त प्रसिद्ध मन्दिर था, जिसके कारण प्राग्ज्योतिष को कामाख्या भी कहा जाता था। विद्वानों का अनुमान है कि प्राचीन प्राग्ज्योतिषपुर के स्थान पर आधुनिक गुवाहाटी नगर अवस्थित है।[७]

यूवान् च्वांग ने कामरूप को का-मो-लु-पो कहा है। वह वहाँ के शासक भास्करवर्मा के अनुरोध पर वहाँ आया था। उसका द्वितीय नाम कुमार भी था। यह नरेश विद्या-प्रेमी तथा विद्वानों का संरक्षक था। यूवान् च्वांग के अनुसार कामरूप के

---

१. य्वान् च्वांग : वाटर्स, १. १९०

२. सखाऊ, १. २०१

३. .......प्राग्ज्योतिषलौहित्यक्षीरोदसमुद्रपुरुषादाः।। –बृहत्संहिता, अध्याय १४.६

४. चीनान्हूणान्शकानोड्रान्पर्वतान्तरवासिनः।
वार्ष्णेयान्हारहूणांश्च कृष्णान्हैमवतांस्तथा।। –महाभारत, सभापर्व, अध्याय ४७. १९

५. भगदत्तो महीपालः सेनामक्षौहिणीं ददौ।।
तस्य चीनैः किरातैश्च काञ्चनैरिव संवृतम्। –वही, उद्योगपर्व, अध्याय १९.१४-१५

६. वाराणस्यां पुरतः पूर्वदेशः यत्र अंग-कलिंग-कोसल-तोशल-उत्कल-मगध-मुद्गर-मल्लवर्तक, सुह्म-ब्रह्मोत्तर प्रभृत्तयः जनपदाः। –काव्यमीमांसा, अध्याय १७

७. य्वान् च्वांग : वाटर्स, १.१९६

क्षेत्र की परिधि १०,०००ली (सत्तरह सौ मील) तथा राजधानी १०ली (लगभग डेढ़ मील) थी। यहाँ की भूमि उपजाऊ तथा नम थी। यहाँ के निवासी कृष्ण वर्ण तथा लघु कद के हुआ करते थे। वे सत्यवादिता एवं उच्च आचरण के लिए प्रसिद्ध थे। यहाँ के नागरिक कृष्णमतावलम्बी थे। उसने वहाँ पर कई ब्राह्मण-मन्दिरों के विद्यमान होने का उल्लेख किया है। कामरूप के पूर्व में पर्वतमालाएँ थीं, जिन्हें पार करना कठिन कार्य था।[१]

## पश्चिम भारत के प्रमुख नगर

**विदिशा**–विदिशा नगरी की गणना भारतवर्ष की प्राचीन तथा प्रसिद्ध पुरियों में की जाती थी। यह पुरी पाटलिपुत्र से ५० योजन की दूरी पर स्थित थी। पाटलिपुत्र से उज्जयिनी जाने वाला मार्ग विदिशा होकर जाता था। वर्तमान में भोपाल (मध्यप्रदेश) के निकट स्थित भिलसा से इसकी पहचान की जाती है। पालि-साहित्य में विदिशा को वेदिस,वेदिसा तथा वेदिसनगर कहा गया है।[२] रामायण तथा महाभारतादि प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख पाया जाता है। रामायण के अनुशील से ज्ञात होता है कि रामचन्द्र ने इस नगर को शत्रुघ्न को दिया था।[३] कालिदास ने अपनी रचनाओं में अनेक स्थानों पर इस नगर का उल्लेख किया है। रघुवंश के अनुसार शत्रुघ्न के शत्रुघातिन् तथा सुबाहु नामक दो पुत्र थे। उन्होंने शत्रुघातिन् को मथुरा का तथा सुबाहु को विदिशा का शासक नियुक्त किया था।[४] मेघदूत में इसे **वेत्रवती (बेतवा) नदी के तट पर स्थित** तथा दशार्ण देश की राजधानी बताया गया है।[५] मार्कण्डेय पुराण में दशार्ण देश की नामोत्पत्ति का कारण इस नाम की एक नदी को बताया गया है, जो कि इसके बीच होकर बहती थी।[६] दशार्ण नदी को वर्तमान में दशान नदी कहा जाता है, जो विन्ध्याचल

---

१. य्वान् च्वांग : वाटर्स, १. १९६

२. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ १४१

३. " ........... वैदिशे शत्रुघातिनम्।" –वाल्मीकि रामायण, उत्तरकाण्ड, सर्ग १०८.११

४. शत्रुघातिनि शत्रुघ्नः सुबाहौ च बहुश्रुते।
मथुराविदिशे सून्वोर्निदधे पूर्वजोत्सुकः।। –रघुवंश, सर्ग १५. ३६

५. तेषांदिक्षु प्रथितविदिशालक्षणां राजधानीम्............वेत्रवत्याश्चलोर्मि।। –मेघदूत, पूर्वमेघ, २५

६. शोणोमहानदश्चैवनर्मदासुरथाद्रिजा।
मन्दाकिनीदशार्णाचचित्रकूटातथापरा।।
कैष्किन्ध्याहैमकूटश्च निषधाः कटकस्थलाः।
दशार्णाहारिकानग्नानिषधाः काकुलालकाः।।
–मार्कण्डेयपुराण, अध्याय ५४. २१, अध्याय ५५. १८

से निकलती है। विजेन्द्रकुमार शर्मा के अनुसार (दश ऋणानि येषां ते) ऋण शब्द का अर्थ जल के अतिरिक्त दुर्गभूमि भी है। जिनके पास दश दुर्ग थे उन्हें दशार्ण कहा जाता था।[१] जातकों में भी दशार्ण जनपद का उल्लेख प्राप्त होता है। उनके अनुसार यहाँ पर तेज धार वाली तलवारों का निर्माण होता था।[२]

शुङ्गकाल में यह नगर एक प्रसिद्ध केन्द्र समझा जाता था। जिस प्रकार मौर्यकाल में उज्जयिनी उनके साम्राज्य की राजधानी थी, उसी प्रकार शुङ्गों के समय में विदिशा उनके साम्राज्य की पश्चिमी राजधानी थी। यहाँ पर पुष्यमित्र का पुत्र अग्निमित्र उसके प्रतिनिधि के रूप में शासन करता था। मालविकाग्निमित्र में विदिशा से सम्बन्धित कतिपय शुङ्गकालीन घटनाओं के वर्णन प्राप्त होते हैं। इसमें विदिशा के शासक अग्निमित्र तथा विदर्भ-राजकन्या मालविका के प्रणय की कथा का वर्णन प्राप्त होता है।[३]

विदिशा नगरी की शोभा अन्वेक्षणीय थी। यह नगरी नाना प्रकार के बहुमूल्य रत्नों से सम्पन्न थी तथा इसमें विभिन्न प्रदेशों के निवासी रहते थे। यह धर्म का केन्द्र था। यहाँ के नागरिक ऐश्वर्य एवं विलास की सामग्री से सम्पन्न थे।[४]

**उज्जयिनी**–उज्जयिनी भारतवर्ष की प्रमुख नगरी थी। यह अवन्ती या पश्चिमी मालव-प्रदेश की राजधानी थी तथा चर्मण्वती की सहायक **शिप्रा नदी के तट** पर बसी हुई थी।[५] संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थों में इसके अवन्ती, अवन्तिपुरी, अवन्तिका, विशाला, भोगवती, पद्मावती तथा हिरण्यवती आदि नाम उपलब्ध होते हैं। इसकी गणना भारत की सप्त पवित्र पुरियों में की जाती है।[६] ब्रह्मपुराण के अनुसार इस नगरी के निवासी हृष्ट-पुष्ट थे। यह सदृढ़ **प्राकार, तोरण (बहिर्द्वार), अर्गलाद्वार** तथा

---

१. मेघदूत, पूर्वमेघ, टिप्पणी, पृष्ठ ४१

२. दसण्णकम् तिखिणधारम् असिम। –जातक, ३.३३८

३. मालविकाग्निमित्र, अङ्क ५

४. वैदिशं नामनगरं सर्वसम्पत्समन्वितम्।
नानाजनपदाकीर्णं नानारत्नसमाकुलम्।।
नानापुष्पसमायुक्तं नानावृक्षसमाकुलम्।। –गरुडपुराण, अध्याय १७. २२-२३

५. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२७

६. अयोध्या मथुरा माया काशी काञ्ची अवन्तिका।
पुरी द्वारावती चैव सप्तैता मोक्षदायिकाः।।
–गरुडपुराण, उत्तरखण्ड (प्रेतकल्प), अध्याय २८.३

**परिखा** आदि सुरक्षा के साधनों से युक्त थी।[१] यह मालव-प्रदेश की समृद्धिशालिनी नगरी मानी जाती थी।

उज्जयिनी नगरी की प्रसिद्धि महाजनपद काल से प्रारम्भ हुई। इस समय यहाँ पर प्रद्योतवंश की राजधानी थी। चण्डप्रद्योत यहाँ का राजा था, इसकी समस्त साम्राज्यवादी योजनाएँ इसी नगरी में बनाई गई थीं। उसने यहीं पर वत्सराज उदयन को बन्दी बनाया था। चण्डप्रद्योत के काल में यह नगरी एक विशिष्ट सांस्कृतिक केन्द्र भी मानी जाती थी। तीन प्रमुख व्यापार-मार्गों के सङ्गम पर अवस्थित होने के कारण भृगुकच्छ से निर्यात होने वाला सारा सामान यहाँ होकर जाता था। जातकों से ज्ञात होता है कि उज्जयिनी तथा वाराणसी के व्यापारियों के बीच एक बहुत बड़ी व्यापारिक एवं सांस्कृतिक प्रतियोगिता विद्यमान थी।[२] ईसा-पूर्व चतुर्थ शताब्दी में उज्जयिनी मगध के अधिकार में आई। अशोक यहाँ का प्रथम राष्ट्रीय नियुक्त हुआ। इसी समय यहां अशोक तथा रानी विदिशा का पुत्र महेन्द्र उत्पन्न हुआ।[३] कालान्तर में ईसा-पूर्व प्रथम शताब्दी के लगभग इसे विक्रमादित्य की राजधानी बनने का गौरव प्राप्त हुआ। कालिदास ने मेघदूत में उज्जयिनी का विस्तृत वर्णन किया है।[४]

प्रथम शताब्दी के उत्तरार्द्ध से लेकर चतुर्थ शताब्दी पर्यन्त उज्जयिनी शकों की राजधानी थी। पञ्चम शताब्दी के प्रारम्भ में चन्द्रगुप्त द्वितीय ने शकों का विनाश किया तथा उज्जयिनी को गुप्त साम्राज्य के आत्मसात् कर अपनी राजधानी बना ली थी। मृच्छकटिक के अनुसार इस नगर में अनेक **विहार, आराम, देवालय, तडाग, कूप** तथा **यज्ञयूप** स्थित थे, जिनसे इसकी शोभा दर्शनीय थी।[५] इस ग्रन्थ में शूद्रक ने

---

१. अवन्ती नाम नगरी मालवे भुवि विश्रुता।
बभूव तस्य नृपते पृथिवी ककुदोपमा।।
हृष्टपुष्टजनाकीर्णा दृढ़प्राकारतोरणा।
दृढ़यन्त्रार्गलद्वारा परिखाभिलङ्कृता।। –ब्रह्मपुराण, अध्याय ४३. २४-२५

२. जातक, २: २४८

३. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२७

४. (क) प्राप्यावन्तीनुदयनकथाकोविदग्रामवृद्धान्, पूर्वोद्दिष्टामुपसर पुरीं श्रीविशालां विशालाम्।
स्वल्पीभूते सुचरितफले स्वर्गिणां गां गतानां, शेषैः पुण्यैर्हृतमिव दिवः कान्तिमत्खण्डमेकम्।।
हारांस्तारांसतरलगुटिकान् कोटिशः शङ्खशुक्तीः, शष्पश्यामान्मरकतमणीनुन्मयूखप्ररोहान्।
दृष्ट्वा यस्यां विपणिरचितन्विद्रुमाणां च भङ्गान्, संलक्ष्यन्ते सलिलनिधयस्तोयमात्रावशेषाः।।
–मेघदूत, पूर्वमेघ, ३१.३३

(ख) द्रष्टव्य : वही, पूर्वमेघ, ३४-४०

५. "विहारारामदेवालयतडागकूपयूपैरलङ्कृतानगर्युज्जयिनी।" –मृच्छकटिक, अङ्क ९

नगर-वेश्या वसन्तसेना के भव्य-प्रासाद का जो वर्णन किया है, वह **मनोरम तथा प्राचीन वास्तुकला-सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण सूचनाओं** से परिपूर्ण है। कथासरित्सागर में उज्जयिनी को पृथ्वी का भूषण कहा गया है। यह नगर अमृत-फेन के तुल्य धवल प्रासादों के विलक्षण सौन्दर्य से अमरावती को भी लज्जित कर रहा था।[१] गुप्त-काल में यह नगर धर्म और संस्कृति का समन्वय-स्थल बन गया था। इस काल में यहाँ पर हिन्दू, जैन तथा बौद्ध आदि विभिन्न धर्मों के प्रतीक **मठ, मन्दिर** आदि का निर्माण हुआ।

सातवीं शताब्दी में गुप्त-साम्राज्य के पतन के पश्चात् भी उज्जयिनी नगरी की समृद्धि बनी रही। य्वान् च्वांग के अनुसार इस नगरी की परिधि लगभग **३०ली (५ मील)** थी। यह एक समृद्धिशाली तथा जनाकीर्ण केन्द्र था। नगरी के अन्दर **मन्दिर बहुसंख्या में निर्मित थे।**[२] बाणभट्ट की रचना कादम्बरी में उज्जयिनी का वर्णन एक समृद्धशालिनी नगरी के रूप में हुआ है। बाणभट्ट ने इसे **शिप्रा-तट पर स्थित** तथा लोकत्रय में श्रेष्ठ बताया है। इसके **चारों ओर एक गहरी परिखा** तथा एक **ऊँचा प्राकार** विद्यमान था। नगरी के भीतर चित्रशालाएँ बनी हुई थीं, जिनमें सुर, असुर, सिद्ध, गन्धर्व तथा विद्याधरों के चित्र चित्रित थे।[३] इस नगरी के नागरिक परिहास करने वाले, उज्जवल वेष वाले, वक्रोक्ति में निपुण, आख्यायिका तथा आख्यान-परिचय में चतुर, सम्पूर्ण लिपियों के ज्ञाता, वेद, रामायण, महाभारत एवं पुराण में अनुराग रखने वाले तथा कलाओं में पारङ्गत थे। इस नगरी ने अमृत के फेन के समान धवल उत्तुङ्ग सौधों की विलक्षण शोभा के द्वारा अमरलोक की शोभा को भी जीत लिया था।[४] बाद के ग्रन्थों में भी उज्जयिनी का वर्णन प्राप्त होता है। दसवीं शताब्दी में रचित नवसाहसाङ्कचरित के अनुसार **उज्जयिनी की परिखा बहुत चौड़ी थी।** दर्शक को ऐसा प्रतीत होता था, मानो नगरी के चारों ओर यमुना नदी प्रवाहित हो रही हो। इस

---

१. अस्तीहोज्जयिनी नाम नगरी भूषणं भुवः।
हसन्तीव सुधाधौतैः प्रासादैरमरावतीम्। -कथासरित्सागर, लम्बक २, तरङ्ग ३. ३१

२. य्वान् च्वांग : वाटर्स, १. २५०

३. अस्ति सकलत्रिभुवनललामभूता, ......जलनिधिमेव रसातल-गम्भीरेण परिखावलयेन परिवृता, .....गगनपरिसरोल्लेखिशिखिरमालेन कैलास-गिरिणेव सुधासितेन प्राकार-मण्डलेन परिवृता.. ..........सागरैरिव महाविपणिपथैरुपशोभिता, सुरासुरसिद्धगन्धर्वविद्याधरोरगाध्यासिता-भिश्चित्रशालाभिः.........। -कादम्बरी, पूर्वार्द्धकथारम्भ, पृष्ठ २४१-४३

४. सकल-विज्ञान-विशेषविदा, वदान्येन, दक्षेण, स्मितपूर्वाभिभाषिणा, परिहास-पेशलेन....... विजितामरलोकद्युतिरवन्तीषूज्जयिनी नाम नगरी। -वही, पृष्ठ २५१-५८

परिखा में कलहंसों के समूह गुञ्जार कर रहे थे तथा **कमलों की पंक्तियाँ** सुशोभित थीं।[१] इसमें उज्जयिनी के **वप्र** तथा **प्राकार** का भी उल्लेख प्राप्त होता है। नगरी के भीतर **सुधाधौत गृह** स्थित थे। वराङ्गनाओं के निवास के कारण इनकी शोभा द्विगुणित हो गई थी।[२] शिप्रा-तट पर विलासी नागरिकों के आमोद-प्रमोद के हेतु **लतागृह** बने हुए थे। स्थान-स्थान पर **रमणीय उपवनों** तथा **सरोवरों** का निर्माण किया गया था, जहाँ पर नगर-निवासी भ्रमण एवं जलक्रीडा के लिए आते थे।[३] ब्रह्मपुराण के अनुसार **उज्जयिनी की सड़कों के दोनों ओर प्रासादों का निर्माण** किया गया था, जिनके कारण इसकी शोभा अन्वेक्षणीय थी। यहाँ के नागरिक गीत, वाद्य तथा गोष्ठी आदि के द्वारा अपना मनोविनोद करते थे।[४] यहाँ पर स्थित सरोवरों में हंस, कारण्डव, चक्रवाक, सारस एवं बलाक आदि[५] तथा कुमुद एवं उत्पल आदि अनेक प्रकार के पुष्प सुशोभित थे।[६] नगरी के भीतर **रमणीय चत्वर, सुन्दर राजमार्ग** तथा **वीथियाँ** थीं।[७] बाज़ार में व्यापारियों की दुकानें थीं, जिनमें विविध प्रकार के बर्तन विक्रय के लिए रखे गये थे।[८] इस नगरी की स्त्रियाँ, गुणाढ्य, सभी अलङ्कारों से विभूषित, प्रियदर्शना, विदग्धा, रूप एवं लावण्य आदि से युक्त, नृत्य एवं गीत आदि में प्रवीण तथा कथा और आलाप में अत्यन्त दक्ष थीं।[९]

उज्जयिनी की गणना भारत के एक प्रसिद्ध बौद्धिक केन्द्र के रूप में भी होती थी। राजशेखर के अनुसार यहाँ पर एक विद्वन्मण्डली रहती थी, जो कवि-कृतियों की परीक्षा लेती थी। इस मण्डली द्वारा कवि की रचना को अपनी स्वीकृति दे देने पर वह लोगों द्वारा विशेष रचना मानी जाती थी। राजशेखर के कथनानुसार इस विद्वन्मण्डली

---

१. आमञ्जुगुञ्जत्कलहंसपंक्तिर्विकस्वराम्भोजरजः पिशङ्गाः।
   आभाति यस्याः परिखा नितम्बे सशब्दजाम्बूनदमेखलेव।। –नवसाहसाङ्कचरित, सर्ग १. १८
२. "गृहाणि यस्यां सवराङ्गनानि।" –वही, सर्ग १. ४३
३. "शिप्रातटोद्यानलतागृहाणि।", "उद्यानवापीपयसीवयस्याम्।" –वही, सर्ग १.५०
४. "गीतवाद्यकथालापैः रमयन्त्यश्च......।" –ब्रह्मपुराण, अध्याय ४३. ४२
५. हंसकारण्डवाकीर्णैश्चक्रवाकोपशोभितैः।
   सारसैः बलाकैश्च कूर्मैर्मत्स्यैः सनक्रकैः।। –वही, अध्याय ४३. ६१
६. अन्यैर्जलाशयैः पुष्पैः कुमुदोत्पलमण्डितैः।
   पद्मैः सितेतरैः शुभ्रैः कलहारैश्च सुगन्धिभिः।। –वही, अध्याय ४३. ५९
७. "रथ्यापणवती रम्या सुविभक्तचतुष्पथा।
   .........गृहगोपुरसंबाधा वीथीभिः समलङ्कृता।" –वही, अध्याय ४३. २६-२७
८. "नानावणिक्समाकीर्णा नानाभाण्डसुविक्रिया।" –वही, अध्याय ४३. ३६
९. वही, अध्याय ४३. ३६-४३

ने कालिदास, भर्तृमेण्ठ, अमर, रूप, आर्यसूर, भारवि, हरिचन्द्र तथा चन्द्रगुप्त आदि के ग्रन्थों की परीक्षा ली थी।[१] एक जनश्रुति के अनुसार धन्वन्तरि, कालिदास, वराहमिहिर, क्षपणक, अमरसिंह, शङ्कु, वेतालभट्ट, घटकर्पर तथा वररुचि ये सभी उज्जयिनी के विक्रमादित्य की सभा के नवरत्न थे।[२]

डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री के अनुसार प्राचीन उज्जयिनी वर्तमान उज्जैन से लगभग एक मील आगे हटकर बसी थी। इस स्थान की खुदाई में तृतीय शताब्दी ई०पू० तक के आहत एवं ढले सिक्के प्राप्त हुए हैं।[३] इसके उत्खनन से मिट्टी के परकोटे का स्वरूप एक किलोमीटर से अधिक की लम्बाई तक प्रकट हुआ है। आड़े-तिरछे बिछाए गए लकड़ी के लट्ठों से इसे ऐसी अतिरिक्त दृढ़ता प्रदान की गई थी कि वे नदी के पानी का धक्का रोक सकें। इस सुरक्षा-प्राचीर का निर्माण-काल ६०० से ५०० ई०पू० तक माना जाता है।[४]

**दशपुर**—दशपुर का आधुनिक प्रतिनिधि मन्दसौर नामक स्थान है। यह प्राचीन मालवा के शिवना-तट पर स्थित है। दशपुर गुप्तकालीन एक प्रसिद्ध नगर तथा मालवा की राजधानी थी। मन्दसौर से प्राप्त एक शिला-खण्ड में इसका उल्लेख हुआ है। यह शिलालेख ४७३ ई० का कुमारगुप्त के राज्यकाल का है।[५] महाकवि कालिदास ने मेघदूत में दशपुर का उल्लेख किया है। इस ग्रन्थ के अनुसार मेघ रामगिरि से विदिशा, उज्जयिनी तथा देवगिरि होता हुआ चर्मण्वती (चम्बल) नदी को पार कर दशपुर पहुँचा था। काव्यात्मक शैली में दशपुर का वर्णन करते हुए यक्ष ने मेघ को सम्बोधित किया है—चर्मण्वती नदी पार करके तुम दशपुर की ओर आगे बढ़ जाना और अपना रूप दिखाकर वहाँ की उन रमणियों को रिझाना, जिनकी काली-काली कटीली भौंहे ऐसी जान पड़ेंगी मानो उन्होंने कुन्द के फूलों पर मँडराने वाले भौरों की चमक चुरा ली हो।[६] इसका मनोरम तथा रमणीय वर्णन मन्दसौर की प्रशस्ति में प्राप्त होता है। इसके

---

१. श्रूयते च उज्जयिन्यां काव्यकारपरीक्षा—
इह कालिदासमेण्ठावत्रामरूपसूरभारवयः।
हरिचन्द्रगुप्तौ परीक्षिताविह विशालायाम्। —काव्यमीमांसा, अध्याय १०, पृष्ठ १४३

२. धन्वन्तरिक्षपणकामरसिंह शंकुर्वेतालभट्टं घटकर्परकालिदासाः।
ख्यातो वराहमिहिरो नृपतेः सभायां रत्नानि वै वररुचिनर्व विक्रमस्य।।
—ज्योतिर्विदाभरण, उद्धरण : मेघदूत, भूमिकाभाग, पृष्ठ २ से।

३. पतञ्जलिकालीन भारत, पृष्ठ १२७

४. प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु, पृष्ठ ७९

५. भारतीय संस्कृति, पृष्ठ ३४७

६. तामुत्तीर्य व्रज परिचितभ्रूलता विभ्रमाणां पक्ष्मोत्क्षेपादुपरिविलसत्कृष्णशारप्रभाणाम्।
कुन्दक्षेपानुगमधुकर श्रीमुषामात्मबिम्बं पात्रीकुर्वन्दशपुरवधूनेत्रकौतूहलानाम्।।
—मेघदूत, पूर्वमेघ, ५०

अनुसार यह नगर विश्व में अग्रणी था। इसकी झीलों में कमल खिले हुए थे तथा बत्तख तैर रहे थे। कूल पर स्थित वृक्षों से पुष्पों के गिर जाने के कारण जल विभिन्न रंगों से युक्त कान्ति को धारण कर रहा था। इन सरोवरों में कहीं पर राजहंस तैरते हुए दृष्टिगोचर हो रहे थे, जिनका शरीर कमल की पंखुड़ियों के पराग से भूरा हो गया था तथा कहीं कमल अपने पराग के कारण झुक गये थे। वहाँ की कमनीय वाटिकाओं में वृक्ष पुष्प-भार से अवनत थे। मतवाले भवरों की गुञ्जार तथा नगर-वधुओं की सुन्दर पद्गति से उपवनों की शोभा द्विगुणित हो जाती थी। भवनों की चोटियों पर झण्डे लहरा रहे थे। उनमें रहने वाली कोमलाङ्गी स्त्रियों तथा उच्च भव्य अट्टालकों के द्वारा सौंदर्य बढ़ गया था।[१]

दशपुर नगर की प्रतिष्ठा एक व्यावसायिक केन्द्र के रूप में भी थी। यहाँ पर लाट प्रदेश से तन्तुवायु-समिति के लोग आये थे। वे वस्त्र-निर्माण के कार्य में दक्ष थे। इसके अतिरिक्त वे अन्य कलाओं के भी ज्ञाता थे। उनमें से कुछ धनुर्विद्या में पारङ्गत थे। कुछ धार्मिक वचन कहने में प्रवीण, कुछ मधुर हितकारी वचन कहने में समर्थ तथा कुछ कलाविद् थे। इन्होंने इस नगर में एक अद्वितीय भव्य सूर्य-मन्दिर का निर्माण किया था। यह मन्दिर चौड़े एवं उन्नत शिखर से युक्त था। यह चन्द्रमा की रश्मिधारा के समान धवल तथा पर्वतशृङ्ग का स्मरण दिलाता था। कालान्तर में इस मन्दिर के कुछ भाग नष्ट हो गये। इस समय इन्होंने इसका जीर्णोद्धार किया था।[२]

**वलभी**–वलभी का वैभवशाली नगर के रूप में प्रथम आविर्भाव गुप्तकाल में हुआ। इस नगर की स्थापना मैत्रक वंश के राजाओं ने की थी तथा यहाँ ४९० ई० से ७७५ ई० तक शासन किया। यहाँ पर एक विश्वविद्यालय स्थित था, जो मैत्रक-नरेशों के दान के कारण आर्थिक दृष्टि से अत्यन्त समृद्ध था। यह नालन्दा का प्रतिद्वन्दी पश्चिमी शिक्षा-केन्द्र था। नालन्दा की भाँति यहाँ पर भी छात्रों को विशेषाध्ययन की क्रिया में तीन वर्ष लग जाते थे। यहाँ शङ्का-समाधान के लिए देश के विभिन्न भागों से जिज्ञासु आते थे।[३] यहाँ चिकित्सा, व्याकरण, वाणिज्य, अर्थशास्त्र, नीतिशास्त्र तथा साहित्य जैसे जीवनोपयोगी विषयों का अध्यापन होता था। यहाँ के स्नातकों का बहुत

---

१. अजस्त्रगाभिश्च पुरांगनाभिर्वनानि यस्मिन्समलङ्कृतानि।
चलत्पताकान्यवलासनाथान्यत्यर्थशुक्लान्यधिकोन्नतानि।।

–सरकार, सेलेक्ट इन्सिक्रप्शन्स, पृष्ठ २९१,
प्राचीन भारत में नगर तथानगर-जीवन, पृष्ठ २०२ से उद्धृत।

२. वही, पृष्ठ २०३

३. वही, पृष्ठ २०४

सम्मान होता था। उनकी नियुक्ति शासन-सम्बन्धी उच्च पदों पर की जाती थी। नालन्दा की भाँति यहाँ के विश्वविद्यालय में भी प्रधान द्वारों पर विद्वानों के नाम उत्कीर्ण किये जाते थे।[१] वलभी के प्रतिष्ठित आचार्यों में गुणमति एवं स्थिरमति उल्लेखनीय हैं। यूवान् च्वांग के अनुसार वलभी में इनके निवास के लिए एक सुन्दर विहार का निर्माण किया गया था।[२] कथासरित्सागर के अनुसार देश के विभिन्न भागों से विद्यार्थी विद्याध्ययन के निमित्त वलभी आते थे। इस ग्रन्थ में वसुदत्त के पुत्र विष्णुदत्त का नामोल्लेख करते हुए कहा गया है कि वह अन्तर्वेदी का निवासी था तथा अध्ययन-हेतु वलभी आया था। उस समय उसकी अवस्था मात्र १६ वर्ष थी।[३]

शिक्षा के अतिरिक्त वाणिज्य के क्षेत्र में भी इस नगर की प्रसिद्धि थी। इस नगर में एक बन्दरगाह स्थित था, जहाँ से बहुमूल्य पदार्थों का अन्तर्राष्ट्रीय व्यापार होता था। यह एक समृद्ध नगर माना जाता था। यहाँ के नागरिक वैभव-सम्पन्न थे और विश्वविद्यालय को आर्थिक अनुदान देते थे। वलभी का समग्र क्षेत्र उर्वरा था।

यूवान् च्वांग ने अपने यात्रा-विवरण में वलभी का उल्लेख किया है। उसके अनुसार वलभी-राज्य की परिधि लगभग १२०० मील तथा नगर की परिधि ६ मील थी। वह यहाँ के निवासियों की वेशभूषा तथा रहन-सहन आदि की प्रशंसा करते हुए लिखता है कि-यहाँ नागरिकों की जीवनविधि मालवा निवासियों की भाँति थी। यह एक उर्वरा एवं सम्पन्न क्षेत्र था। वलभी-राज्य में लगभग १०० बौद्ध मठ थे, जिनमें ६,००० हीनयान मतावलम्बी भिक्षु रहते थे। यूवान् च्वांग के अनुसार यहाँ पर ब्राह्मण-मन्दिर भी अवस्थित थे। इस नगर में बौद्धेतर धर्मों के लोग भी बहुसंख्या में निवास करते थे। यहाँ यूवान् च्वांग के आगमन काल में अशोक द्वारा निर्मित स्तूप विद्यमान था। उस अवसर पर यहाँ सम्राट् ध्रुवसेन राज्य कर रहा था।[४]

**गिरिनगर-गिरिनार**—गिरिनगर सौराष्ट्र का एक प्रसिद्ध तथा प्राचीन नगर था। यह नगर **उज्जयन्त** अथवा **रैवतक पर्वत के समीप** अवस्थित था, अतः इसे गिरिनगर

---

१. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २०५

२. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २. २४६

३. अन्तर्वेद्यामभूत्पूर्वं वसुदत्त इति द्विजः।
विष्णुदत्ताभिधानश्च पुत्रस्तस्योपजायत।।
स विष्णुदत्तो वयसा पूर्णषोडशवत्सरः।
गन्तुं प्रववृते विद्याप्राप्तये वलभीपुरम्।। —कथासरित्सागर, लम्बक ६, तरङ्ग ६. ४३-४३

४. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २.२४६

कहा जाता था। महाभारत में उज्जयन्त को सुराष्ट्र का पुण्यगिरि कहा गया है। इसके शिखर पर सिद्ध तथा मुनिजन निवास करते थे।[१] जैन तथा बौद्ध-मतावलम्बियों की दृष्टि से भी यह पर्वत अत्यन्त पवित्र था। इस पर्वत की ख्याति विहारभूमि के रूप में भी थी। महाभारत से ज्ञात होता है कि कृष्ण एवं पाण्डव (अर्जुन) मनोविनोद के लिए इस पर्वत पर आये थे।[२]

मौर्य-काल में यहाँ पर सौराष्ट्र (गुजरात) प्रान्त की राजधानी थी। प्रतीत होता है कि पर्वत के समीप स्थित होने के कारण इस नगर को राजधानी के लिए चुना गया था, जिससे यहाँ के नागरिक सुरक्षित रह सकें। चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्यकाल में वैश्य पुष्यगुप्त तथा अशोक के काल में यवनराज तुषास्फ यहाँ राज्यपाल के रूप में रहते थे।[३] शकक्षत्रप रुद्रदामा के काल में भी यह सौराष्ट्र का अधिष्ठान था।[४]

स्कन्दगुप्त के राज्यकाल में यहाँ पर पर्णदत्त रहता था, जो कि सौराष्ट्र का राज्यपाल था। यह स्कन्दगुप्त का एक अत्यन्त सुयोग्य कर्मचारी था, अतः इसे स्कन्दगुप्त ने सब प्रकार से उपयुक्त जानकर गिरिनगर की रक्षा का भार सौंपा था।[५] पर्णदत्त ने अपने पुत्र चक्रपालित को इस नगर का पुरपति नियुक्त किया था। गुप्तों के पश्चात् इस नगर में वलभी के मैत्रकों का राज्यपाल रहता था। वलभी के मैत्रकों के अधःपतन के बाद गिरिनगर का राज्यपाल स्वतन्त्र हो गया और उसने चूडाश्म वंश की नींव डाली। तत्पश्चात् यहाँ पर नवीं शताब्दी एक चूडाश्म वंश की राजधानी रही। नवम शताब्दी के अन्तिम चरण में इस वंश के नरेशों ने अपनी नवीन राजधानी वामनस्थली नगर में स्थानान्तरित की।[६]

---

१. ऋषयो यत्र देवाश्च महाभाग महौजसः।
प्राप्य नित्यं नमस्यन्ति देवं नारायणं विभुम्।।
यत्र नारायणो देवः परमात्मा सनातनः।
तत्र कृत्स्नं जगत्पार्थ तीर्थन्यायतनानि च।।
तत्पुण्यं तत्परं ब्रह्मतत्तीर्थं तत्तपोवनम्।
तत्र देवर्षयः सिद्धाः सर्वे चैव तपोधनाः।।
आदिदेवो महायोगी यत्रास्ते मधुसूदनः।
पुण्यानामपि तत्पुण्यं तत्र ते संशयोऽस्तु मा।। –महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८८. २४-२७

२. तौ विहृत्य यथाकामं प्रभासे कृष्णपाण्डवौ।
महीधरं रैवतकं वासायैवाभिजग्मतुः।। –महाभारत, आदिपर्व, अध्याय २१०.८

३. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २१३

४. वही, पृष्ठ २१३

५. वही, पृष्ठ २१३-१४

६. वही, पृष्ठ २१४

गिरिनगर का सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान यहाँ के रैवतक पर्वत पर स्थित सुदर्शन **तटाक** था। इसका निर्माण चतुर्थ शताब्दी ई०पू० चन्द्रगुप्त मौर्य के समय में राज्यपाल पुष्यगुप्त द्वारा हुआ था। अशोक के काल में राज्यपाल यवन तुषास्फ ने सिंचाई के निमित्त इससे नालियाँ निकालीं थी।[१] यह बाँध जलप्लावन के कारण टूट गया था अतः पुरपति चक्रपालित ने राजकीय हित एवं नागरिकों के लाभ की दृष्टि से एक नवीन बाँध का निर्माण करवाया था।[२] आधुनिक जूनागढ़ ही प्राचीन काल में गिरिनगर के नाम से जाना जाता था।[३]

**भृगुकच्छ**–पश्चिमी **समुद्र-तट** पर स्थित 'भड़ौंच' नामक नगर को ही प्राचीन समय में भृगुकच्छ कहा जाता था। भृगुकच्छ भारत का एक प्रसिद्ध नगर था। इसे भृगुपुर, भरुकच्छ तथा भृगुतीर्थ भी कहते थे। पौराणिक कथाओं के अनुसार भृगु ने यहाँ पर तपस्या की थी, अतः लोग इसे भृगुतीर्थ कहते थे।[४] लोगों का विश्वास था कि यहाँ पर बलि ने यज्ञ का अनुष्ठान किया था तथा वामनवेषधारी भगवान् विष्णु को अपना सम्पूर्ण राज्य दान में दे दिया था। अतः धार्मिक क्षेत्र में इस नगर का महत्त्व और अधिक बढ़ गया था।

भृगुकच्छ **समुद्र-तट** पर अवस्थित था, अतः वाणिज्य के क्षेत्र में भी इसकी प्रसिद्धि थी। पश्चिमी तट का यह बहुत बड़ा बन्दरगाह था। प्रथम शताब्दी ई० में उत्तर तथा मध्य भारत का समस्त आयात-निर्यात यहीं से होता था। यहाँ से एक व्यापार-पथ उज्जयिनी होता हुआ पाटलिपुत्र तक जाता था। उज्जयिनी से यहाँ मलय-वस्त्र, मलमल आदि अनेक प्रकार के वस्त्र आते थे।[५] दक्षिण भारत के व्यापारी भी अन्य देशों में माल भेजने के लिए यहाँ पर लाते थे। सातवाहनों की राजधानी प्रतिष्ठान से इसका व्यापारिक सम्बन्ध था। यहाँ से बीस दिनों की यात्रा के उपरान्त लोग प्रतिष्ठान पहुँचते थे। पेरिप्लस के वर्णन से ज्ञात होता है कि काबुल के व्यापारी विदेशों से निर्यात करने के लिए अपना माल इस बन्दरगाह पर पहुँचाते थे।[६] विदेशों से इस नगर में मदिरा,

---

१. "प्रणालीभिरलङ्कृतम्।" –उद्धरण : प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २१४

२. वही, पृष्ठ २१५

३. वही, पृष्ठ २१५

४. ततो गच्छेत् राजेन्द्र भृगुतीर्थमनुत्तमम्।
तत्र देवो भृगुः पूर्वं रुद्रमाराधयत्पुरा।। –कूर्मपुराण, २, अध्याय ४०.१

५. सार्थवाह, पृष्ठ ११७

६. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २०७

कस्तीर, सीसा, सूक्ष्म-वस्त्र, कटिसूत्र, स्वर्ण तथा रजतमुद्राएँ आयात होती थीं। ताँबा, राँगा, मूँगा, सुरमा, सङ्खिया तथा अच्छा रोगन आदि भी यहाँ आते थे।[१] यहाँ से निर्यात की जाने वाली वस्तुओं में हाथी-दाँत, रेशमी एवं सूती वस्त्र, मिर्च एवं बहुमूल्य पत्थर उल्लेखनीय हैं।[२] जटामाँसी, कुष्ठ, गुग्गुल आदि वस्तुएँ यहाँ से बाहरी देशों में भेजी जाती थीं।[३]

सुप्पारक जातक में भृगुकच्छ के व्यापारियों की नौकायात्रा का उल्लेख मिलता है।[४] इसके अनुसार बोधिसत्व ने सात सौ मित्रों के साथ मणियों वाले समुद्र के लिए इस नगर से प्रस्थान किया था।[५] यहाँ के व्यापारी जलमार्ग द्वारा स्वर्णभूमि जाते थे।[६] प्लिनी के अनुसार भारतीय व्यापारी यहाँ पर स्थित बन्दरगाह से रोम में विलास की सामग्री भेजते थे। रोम के नागरिकों में भारतीय वस्तुएँ अत्यन्त लोकप्रिय थीं। इनकी विलासप्रियता के कारण रोम-साम्राज्य की एक करोड़ मुद्राएँ प्रतिवर्ष भारत में आती थीं, अतः लेखक ने अपने देशवासियों के अपव्यय की घोर निन्दा की है।[७] यूवान् च्वांग ने अपने यात्रा-विवरण में भृगुकच्छ की समृद्धि की प्रशंसा की है। उसके अनुसार इस नगर के ऐश्वर्य का स्रोत समुद्र था।[८] सातवीं शताब्दी में इस नगर में एक स्थानीय राजवंश की राजधानी थी। यहाँ का तत्कालीन शासक दद्द द्वितीय अत्यन्त निर्भीक शासक था। इस शासक के एक दानपात्र में इस नगर के **प्राकार** का उल्लेख हुआ है।[९]

**प्रभास**–सोमनाथ का प्राचीन नाम प्रभास था। प्रभास की गणना भारतवर्ष के धार्मिक नगरों में की जाती थी। महाभारत में इसे उदधि-तीर्थ कहा गया है।[१०] **समुद्र-तट** पर स्थित होने के कारण प्रभास का धार्मिक महत्त्व बहुत अधिक था। पश्चिमी तट पर अवस्थित नगरों में प्रारम्भ से ही इसकी विशेष प्रसिद्धि थी।[११] यहाँ पर लोग तपश्चर्या

१. सार्थवाह, पृष्ठ ११७
२. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २०७
३. सार्थवाह, पृष्ठ ११७
४. भरुकच्छा पयातानं वणिजानं धनेसिनम्। नावाय विपणत्थाय....। –जातक, ४. १४०
५. वही, ४. १४०
६. तदाच भरुकच्छवणिजा नावाय सुवण्णभूमिं गच्छति। –वही, ३.१८८
७. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २०८
८. वही, पृष्ठ २०८
९. वही, पृष्ठ २०८
१०. "प्रभासे चोदधौ तीर्थं त्रिदशानां युधिष्ठिर।" –महाभारत, वनपर्व, अध्याय ८६. १७
११. समुद्रे पश्चिमे यानि तीर्थान्यायतनानि च।
तानि सर्वाणि गत्वा स प्रभासमुपजग्मिवान्।। –महाभारत, आदिपर्व, अध्याय २१०.२

के लिए आते थे। महाभारत के अनुसार युधिष्ठिर ने यहाँ आकर बारह दिनों तक कठोर तपस्या की थी।[१]

प्रभास का दूसरा नाम 'सोमनाथ' का सर्वप्रथम उल्लेख अग्निपुराण में उपलब्ध होता है।[२] सम्भवतः तृतीय शताब्दी ई० में इसका यह नाम पड़ चुका था।[३] समुद्र-तट पर स्थित होने के कारण इस नगर की प्रसिद्धि वाणिज्य-केन्द्र के रूप में भी थी। अल्बरुनी के अनुसार यह एक ऐसा बन्दरगाह था, जहाँ पर समुद्री-जहाज सरलता के साथ लग सकते थे।[४] बन्दरगाह होने के कारण ही इसके नाम के साथ पट्टण शब्द जुड़ गया (सोमनाथपट्टण)।

कूर्मपुराण के अनुसार इस नगर में एक शिव-मन्दिर स्थित था।[५] शिव-मन्दिर के निर्माण से विशेषतः धार्मिक क्षेत्र में इस नगर की ख्याति दूर-दूर तक हो गई थी। यहाँ हजारों तीर्थ-यात्री तीर्थाटन के लिए आते थे। सोमनाथ के शिवमन्दिर की आर्थिक सहायता के हेतु भारतीय राजाओं ने कई गाँव दान में दिये थे। प्रायः सभी वर्गों के लोग सोमनाथ-मन्दिर में दर्शनार्थ आते थे तथा दान चढ़ाते थे, जिसके फलस्वरूप इसकी समृद्धि और अधिक बढ़ गई थी।[६]

इस नगर पर अनेक बार विदेशी आक्रमण हुए। सर्वप्रथम महमूद गजनवी ने १०२४ ई० में इसके ऊपर आक्रमण किया। हिन्दुओं ने शिव-मन्दिर की रक्षा के निमित्त अपने प्राणों की आहुति दे दी। गजनवी ने मन्दिर को और ध्वस्त कर दिया। कहा जाता है कि गजनवी के द्वारा इस मन्दिर से लूटी हुई संपत्ति का मूल्य २ अरब दीनार के लगभग था।[७] इस दुर्घटना के ३० वर्ष के पश्चात् कुमारपाल के राज्यकाल में इसका पुननिर्माण प्रारम्भ हुआ और यह निर्माणकार्य २ वर्ष में पूर्ण हुआ। इसके पुननिर्माण के १५० वर्ष बाद यहाँ पर द्वितीय आक्रमण हुआ। १३०० ई० में अलफ खाँ

---

१. "समन्ततोऽग्नीनुपदीपयित्वा तेपे तपो धर्मभृतां वरिष्ठः।"
–महाभारत, वनपर्व, अध्याय ९४. १७

२. "तीर्थं चर्मण्वती सिन्धुः सोमनाथः प्रभासकम्।" –अग्निपुराण, अध्याय १०९.१०

३. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २१०

४. वही, पृष्ठ २१०

५. अन्यच्च तीर्थप्रवरं सिद्धवासमुदाहृतम्।
प्रभासमिति विख्यातं यत्रास्ते भगवान्भवः।। –कूर्मपुराण, २, अध्याय ३४. १६

६. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २१०

७. वही, पृष्ठ २१०-२११

ने इस मन्दिर को ध्वस्त कर डाला। इसके पश्चात् भी समय-समय पर मुजफ्फर खाँ तथा महमूद बेगद आदि के द्वारा इस नगर पर आक्रमण होते रहे और यहाँ का प्रसिद्ध शिव-मन्दिर मस्जिद के रूप में परिवर्तित हो गया। पुरातत्त्ववेत्ताओं ने सोमनाथ की पहचान आधुनिक वेरावल से की है।[१]

**द्वारका**—महाभारत तथा हरिवंशपुराण आदि प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार द्वारकापुरी की स्थापना कृष्ण ने की थी।[२] हरिवंश में इसके परिमाण के सम्बन्ध में कहा गया है कि–इस नगरी की लम्बाई १२ योजन तथा चौड़ाई ८ योजन थी।[३] श्रीमद्भागवत में भी इसकी लम्बाई १२ योजन बताई गई है।[४] इस ग्रन्थ के अनुसार **द्वारका-नगरी की एक-एक वस्तु में विश्वकर्मा का विज्ञान** (वास्तु-विज्ञान) और **शिल्पकला की निपुणता** प्रकट होती थी। इसमें **वास्तुशास्त्र के अनुसार बड़ी-बड़ी सड़कों, चौराहों** तथा **गलियों का यथास्थान ठीक-ठीक विभाजन** किया गया था।[५] इसके **चारों ओर श्वेत वर्ण का एक ऊँचा प्राकार था।**[६] यह पुरी **एक गहरी परिखा से परिवेष्टित** थी, जिसमें **कमल खिले हुए** थे तथा **हंस** एवं **कारण्डव** आदि तैरते रहते थे।[७] इस पुरी में श्रेष्ठ **प्रासादों** का सन्निवेश किया गया था। यहाँ पर स्थित भवन **पताकाओं से युक्त** थे।[८] इन भवनों के द्वारा द्वारकापुरी उसी प्रकार सुशोभित हो रही थी, जिस प्रकार श्वेत-वर्ण वाले मेघों से नभमण्डल सुशोभित होता है।[९] यह नगरी **सुन्दर उद्यानों** तथा **विचित्र उपवनों से युक्त** थी, जिनमें सुरद्रुम और लताएँ लहराती रहती थीं। यहाँ **स्वर्ण-निर्मित उन्नत शिखर** थे जो आकाश का आलिङ्गन करते थे।

---

१. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २११
२. हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय ५९
३. अष्टयोजनविस्तीर्णामचलां द्वादशायताम्। –वही, अध्याय १९९. २७
४. "...............द्वादशयोजनम्।" –श्रीमद्भाग्वत, स्कन्ध १०, अध्याय ५०.५०
५. दृश्यते यत्र हि त्वाष्ट्रं विज्ञानं शिल्पनैपुणम्।
रथ्याचत्वरवीथीभिर्यथावास्तु विनिर्मितम्।। –वही, स्कन्ध १०, अध्याय ५०. ५१
६. प्राकारावरसम्पन्नां सुधापाण्डुरलेपनाम्। –हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय १००. २४
७. पद्मखण्डाकुलाभिश्च हंससेवितवारिभिः।
गङ्गासिन्धुप्रकाशाभिः परिखाभिर्वृतां पुरीम्।। –वही, अध्याय १००. ११
८. ......... प्रासादवरचत्वरैः। समुच्छ्रितपताकानि पालिप्लववनानि च।।
–वही, विष्णुपर्व, अध्याय १००.३२
९. ददृशे द्वारका रम्या चारुमेघैर्द्यौरिव संवृता।–वही, विष्णुपर्व, अध्याय १००. ३८

**स्फटिकमणि की अट्टारियाँ** और **ऊँचे-ऊँचे दरवाजे** बहुत सुन्दर लगते थे।[१] पुर के भीतर **सरोवरों** का निर्माण किया गया था, जिनमें सुगन्धियुक्त कमलों की पंक्तियों सुशोभित थीं। जल में हंस तथा कारण्डव आदि के तैरने के कारण इन सरोवरों की शोभा और अधिक बढ़ जाती थी। **सरोवरों के किनारे वृक्षों का आरोपण** किया गया था।[२] **समुद्र-तट** पर स्थित यह नगरी-इन्द्र-पुरी की भाँति सुशोभित हो रही थी।[३] विष्णुपुराण में भी द्वारकापुरी का वर्णन उपलभ्य है, जिसमें उसे इन्द्र की अमरावती की भाँति **बड़े-बड़े उद्यानों, वप्रों, प्राकारों, सैकड़ों सरोवरों** और **अनेक महलों** एवं **प्रासादों** से सुसज्जित बताया गया है।[४] हरिवंशपुराण के अनुसार द्वारकापुरी **समुद्र के तट** पर स्थित थी[५] परन्तु श्रीमद्भागवत में कहा गया है कि श्री कृष्ण ने इसकी स्थापना समुद्र के अन्दर **( अन्तः समुद्रे नगरं कृत्स्नाद्भुतमचीकरत् )**[६] की थी। प्रो० राजेन्द्र मिश्र (पूर्व उपकुलपति, स०सं० विश्वविद्यालय, वाराणसी) के अनुसार सम्भवतः यह नगरी समुद्र के मध्य में स्थित किसी द्वीप पर रही होगी।[७] स्थापत्य-ग्रन्थों में जल-दुर्ग के वर्णन-प्रसङ्ग में उसे चारों ओर से जल से घिरा हुआ बताया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह (द्वारका) इसी कोटि का दुर्ग था।

इस नगरी का वर्णन शिशुपालवध महाकाव्य में भी उपलब्ध होता है। इस ग्रन्थ के अनुसार द्वारका-नगरी की अनुपम सुन्दरता की छाया दर्पणतल की भाँति स्वच्छ समुद्र के जल में पड़ रही थी।[८] इसके बाजारों में सामग्रियों की ढेरी रखी गयी थी।[९] नगरी के भीतर अप्सराओं के समान रमणियाँ झरोखों एवं अटारियों पर बैठकर विहार करती

---

१. सुरद्रुमलतोद्यानविचित्रोपवनान्वितम्।
हेमशृङ्गैर्दिविस्पृग्भिः स्फाटिकाट्टालगोपुरैः।। –श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय ५०.५२

२. पद्माकुलजलोपेतैः रत्नसौगन्धिकोत्पलाः। मणिमौक्तिकबालूकाः पुष्करिण्यः सरांसि च।
तासां परमकूलानि शोभयन्ति महाद्रुमाः।
–महाभारत, सभापर्व, परिशिष्ट, पंक्ति १२८६-८८, पृष्ठ ४१५

३. भूषयन्ती समुद्रं सा स्वर्गमिन्द्रपुरी यथा। –हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय ५९.४९

४. महोद्यानां महावप्रां तड़ागशतशोभिताम्। प्राकारगृहसम्बाधामिन्द्रस्येवामरावतीम्।।
–विष्णुपुराण, ५, अध्याय २३.१४

५. हरिवंशपुराण, विष्णुपर्व, अध्याय ५९

६. श्रीमद्भागवत, स्कन्ध १०, अध्याय ५०.५०

७. साक्षात्कार, सं०वि०, जम्मू विश्वविद्यालय, जम्मू, दिनाङ्क २३-१०-२००३

८. "अदृश्यतादर्शतलामलेषुच्छायेव या स्वर्जलधेर्जलेषु।" –शिशुपालवध, सर्ग ३.३५

९. "वणिक्पथे पूगकृतानि यत्र भ्रमागतैरम्बुभिरम्बुराशिः।" –वही, सर्ग ३.३८

थी।[१] समुद्र की ऊँची लहरें पुरी के प्राकार को अपनी ऊँचाई के द्वारा जीतने के लिए दूर तक उठ जाती थीं और समीप आकर अपनी इच्छा के अनुरूप फल को प्राप्त न कर सकने के कारण लज्जित होकर वहीं विलीन हो जाती थीं।[२]

इस नगरी की प्रतिष्ठा धार्मिक केन्द्र के रूप में भी थी। इसका प्रमुख कारण कृष्ण के द्वारा स्थापित एवं इसका समुद्र-तट पर स्थित होना प्रतीत होता है। इसके धार्मिक महात्म्य का वर्णन विशेषत: गरुडपुराण,[३] स्कन्दपुराण[४] तथा वराह-पुराण[५] आदि ग्रन्थों में उपलब्ध होता है।

## दक्षिण भारत के प्रमुख नगर

**कल्याण**–कल्याण दक्षिणी भारतवर्ष का एक प्रमुख तथा व्यापारिक नगर था। यह भड़ौंच के निकट स्थित था। पेरिप्लस के आगमन-काल में यहाँ विदेशी व्यापार वर्जित था। यहाँ पर आने वाले विदेशी जहाजों को भड़ौंच भेज दिया जाता था।[६] कल्याण में विदेशी व्यापार के वर्जित होने का विशेष कारण यह था कि –कल्याण सातवाहन राजाओं के राज्य में विदेशी व्यापार का एक प्रमुख केन्द्र था, और भड़ौंच शकों के अधीन था। अत: कल्याण की उन्नति के मार्ग में बाधा पहुँचाने के लिए शक्तिशाली शक कल्याण के विदेशी व्यापारियों को लूटते थे और उन्हें पकड़कर भड़ौंच ले जाते थे। पेरिप्लस के अनुसार यह स्थिति सरगनेस (शातकर्णि) के पश्चात् थी।[७] इन परिस्थितयों के कारण कल्याण का महत्त्व क्रमश: क्षीण होता चला गया।

कल्याण नगर की समृद्धि का वर्णन विक्रमाङ्कदेवचरित में प्राप्त होता है। विक्रमाङ्कदेवचरित के रचयिता बिल्हण के अनुसार इस नगर को आहवमल्देव नामक राजा ने बसाया था। यहाँ **हर्म्य-पंक्तियाँ** सुशोभित थीं। इसके **उत्तुंग प्रासादों** के कारण आकाश में अंधकार छा गया था।[८] इस नगर में नये इन्द्रनील मणियों के द्रव के

---

१. स्फुरत्तुषारांशुमरीचिजालैर्विनिह्नुता: स्फाटिकसौधपङ्क्ती:।
आरुह्य नार्य: क्षणदासु यत्र नभोगता देव्य इव व्यराजन्।। –शिशुपालवध, सर्ग ३.४३

२. यच्छालमुत्तुङ्गतया विजेतुं दूरादुदस्थीयत सागरस्य।
महोर्मिभिव्याहतवाञ्छितार्थैर्व्रीडादिवाभ्यासगतैर्विलिल्ये।। –वही, सर्ग ३.४०

३. "द्वारका च पुरी रम्या भुक्तिमुक्तिप्रदायिका।" –मत्स्यपुराण, अध्याय ८१.५

४. स्कन्धपुराण, अध्याय २२०

५. वराहपुराण, अध्याय १४९

६. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २१८

७. सार्थवाह, पृष्ठ १०३

८. चकार कल्याणमिति क्रमादसौ पुरं पराध्यं पृथिवीपुरन्दर:।
यदुच्चहर्म्यावलिदीपसंपदा विभाव्यते कज्जलसंनिभं नभ:।। –विक्रमाङ्देवचरित, सर्ग २.९

समान स्वच्छ स्तर वाले **जलाशय** विद्यमान थे।[१] यहाँ पर स्थित सरोवर, तट पर विद्यमान वृक्षों की प्रतिच्छाया पड़ने से अपने भीतर अनेक कल्पवृक्ष होने की शोभा देता था।[२] इन्द्र द्वारा रक्षित अमरावती पुरी भी (आहवमल्लदेव राजा से रक्षित) पुरों में श्रेष्ठ कल्याणपुर की बराबरी नहीं कर सकती थी।[३] वहाँ के प्रासादों पर पताकाएँ फहरा रही थीं।[४] **समुद्र-तट पर अवस्थित** यह नगर विविध रत्नों से परिपूर्ण था।[५] कल्याण नगर **उन्नत प्राकार से परिवेष्टित** था, जिसका निर्माण **स्फटिक की चट्टानों से** किया गया था।[६] यहाँ आनन्द से युक्त हंसगण वर्षा-ऋतु में भी सरोवरों का पानी गदला न होने के कारण अन्य स्थानों के हंसो के सदृश मानसरोवर को न जा कर वहीं रहते थे और दुर्जन लोग जो कभी किसी गुण की प्रशंसा नहीं करते थे, वे हंसों के अन्यत्र न जाने में इस नगर के **प्राकार की ऊँचाई** का यश गाते थे।[७]

**कांची**—कांची दक्षिण भारतवर्ष की एक विशिष्ट नगरी थी। वर्तमान में इसका नाम कांजीवरम् है। इसे दक्षिण भारत की काशी कहा जाता है। इस नगरी का प्रथम ऐतिहासिक उल्लेख समुद्रगुप्त (३३५-८०ई०) की प्रयाग प्रशस्ति में मिलता है। इसके अनुसार गुप्त सम्राट् ने कांची के राजा विष्णुगोप को अपने अधीन बनाया था।

य्वान् च्वांग ने अपने यात्रा-विवरण में इस नगरी का नाम कन्-चिह-पु-लो बताया है। यहाँ इसका आगमन लगभग ६४० ई० में हुआ था। इसके अनुसार कांची की परिधि लगभग ३०ली (५मील) थी। यहाँ की भूमि उर्वरा-शक्ति से सम्पन्न थी। इस नगरी में फल-पुष्पादि प्रचुर मात्रा में होते थे। यहाँ के नागरिक उत्साही, विश्वासपात्र, जनसेवक एवं विद्या के अनुरागी थे। उसके आगमन के समय यहाँ पर एक सौ बौद्ध मठ थे और इनमें रहने वाले बौद्ध भिक्षुओं की संख्या लगभग दस हजार थी। इस नगरी में अन्य धर्मों से सम्बन्धित मन्दिर भी विद्यमान थी, जिनकी संख्या ८० के लगभग थी। यहाँ पर गौतम बुद्ध का आगमन अनेक बार हुआ था। उन्होंने यहाँ जिन-जिन स्थानों पर व्याख्यान दिये थे, उन स्थानों पर अशोक ने स्तूपों का निर्माण करवाया था।[८]

१. जलाशया यत्र हसन्ति सन्ततं नवेन्द्रनीलद्रवनिर्मलोदराः। –विक्रमाङ्कदेवचरित, सर्ग २.६
२. तटद्रुमाणां प्रतिबिम्बमालया सपारिजातामिव दर्शयञ्छ्रियम्। –वही, सर्ग २. १०
३. न यस्य कक्षां शतमन्युरक्षिता पुरी पुरग्रहरस्य गाहते। –वही, सर्ग २, पृष्ठ ९६
४. यदीयसौधध्वजपट्टपट्टिकाः। –वही, सर्ग २, पृष्ठ १०१
५. समुद्रवेला रतिरत्नसम्पदा। वही, सर्ग २, पृष्ठ १०३
६. यदुद्धटस्फाटिकवप्रसंहतिः। –वही, सर्ग २, पृष्ठ ९३
७. त्यजन्ति हंसा सरसीगुणैः स्थितिं न यत्र वर्षास्वपि हर्षगद्गदाः।
अलङ्घनीयस्य निकाममुन्नतेर्दिशन्ति वप्रस्य यशस्तु दुर्जनाः।। –वही, सर्ग २. २२
८. य्वान् च्वांग : वाटर्स, २. २२६

कांची-नगरी प्राचीन काल से ही विभिन्न धर्मों एवं विद्या का केन्द्र रही है। यहाँ के पल्लव नरेश शैव तथा वैष्णव धर्म के अनुयायी थे, अत: उनके राज्यकाल में इन धर्मों का बहुत विकास हुआ। शैव एवं वैष्णव के संघर्ष के कारण इसके दो भाग शैव-कांची तथा वैष्णव-कांची हो गये थे। शैव-कांची में शिव का मन्दिर था, जबकि वैष्णव-कांची में श्रीवरदराज का मन्दिर था। पल्लव नरेशों ने अपने-अपने शासन-काल में एक स्वतंत्र स्थापत्यकला की शैली को जन्म दिया, जिनमें महेन्द्रवर्मा, नरसिंहवर्मा प्रथम (मामल्ल), नरसिंहवर्मा द्वितीय (राजसिंह) तथा नन्दिवर्मा के नाम उल्लेखनीय हैं।[१]

प्राचीन भारतीय स्थापत्यपरम्परा के अनुसार कांची नगरी के भी चतुर्दिक् एक **सुदृढ़ प्राकार** तथा **गहरी परिखा** विद्यमान थी। नगरी की गंदगी को बड़े नालों के द्वारा परिखा में गिराया जाता था।[२] इसके **उपकण्ठ पर** खुले मैदान में **सैनिक शिविर** स्थित थे। इनमें सैनिकों को विभिन्न रण-पद्धतियों की जानकारी दी जाती थी और उन्हें शस्त्राभ्यास में निपुण बनाया जाता था। नगरी के **सीमाप्रदेश में गजशाला** एवं **तुरङ्गशालाएँ** बनाई गई थीं। इनके समीप में स्थित कारखानों में युद्ध में प्रयुक्त होने वाले अस्त्र-शस्त्रों का निर्माण किया जाता था।[३] स्थापत्य-ग्रन्थों के निर्देशानुसार **ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य** तथा **शूद्र वर्ण वाले** एवं **विभिन्न व्यवसाय वाले लोग पुरी के पृथक्-पृथक् भागों में** रहते थे। **राजमार्गों की चौड़ाई पर्याप्त** थी जिससे **विभिन्न वाहन उनमें सरलता से** आ-जा सकते थे। इस नगरी में **स्थान-स्थान पर रमणीक सरोवर** निर्मित थे, जिनके जल की शोभा उनमें प्रस्फुटित कमलों एवं तैरते हुए हंसों के कारण बढ़ जाती थी। **सरोवरों के चारों ओर वृक्षारोपण** किया गया था। वहाँ के नागरिक भी **गृह-प्राङ्गण में कदली, आम्रादि वृक्ष-वाटिकाएँ** लगाते थे। **राजमार्गों के दोनों ओर स्थित मंजिलों वाले प्रासादों** के कारण उनकी शोभा बढ़ जाती थी। पुरी के **गृह-निर्माण में लाल ईंटों** का प्रयोग किया गया था।[४] कांचीपुराण के अनुसार-इस क्षेत्र में कोई भी ऐसा कवि नहीं है, जो इस नगरी के सौंदर्य से प्रभावित न हुआ हो। सभी कवियों ने मनोरम शब्दावलियों में इसकी सुन्दरता का वर्णन से अपनी कीर्ति को अक्षुण्ण बना दिया था।[५]

---

१. प्राचीन भारत में नगर तथा नगरजीवन, पृष्ठ २२१

२. अय्यर : टाउन् प्लानिङ्ग इन् एन्शेन्ट् डक्कन, पृष्ठ ७०

३. वही, पृष्ठ ७१

४. वही, पृष्ठ ७३

५. वही, पृष्ठ ७७

**कावेरीपत्तन**—कावेरीपत्तन की गणना दक्षिण-भारत के उन नगरों में की जाती थी, जिनकी स्थापना **पूर्वनिर्धारित सुनियोजित** रूप से की गई थी। तमिल-ग्रन्थों में इसे 'कावेरीप्पुपट्टीनम्' तथा 'कावेरीपट्टनम्' कहा गया है। यह नगर **समुद्र-तट** पर **कावेरी के मुहाने** पर अवस्थित था। इसे **वर्गाकार रूप** में बसाया गया था। जिसकी लम्बाई एवं चौड़ाई १० मील थी।[१]

यह दक्षिणी भारतवर्ष का एक प्रमुख नगर था, जिसमें राजनीतिक, सांस्कृतिक एवं व्यापारिक केन्द्र स्थापित किये गये थे। यह चोल-नरेशों की राजधानी भी रहा था। इसकी भूमि प्राकृतिक संसाधनों से युक्त एवं उर्वरा-शक्ति से सम्पन्न थी। अनेक तमिल कवियों ने मुक्तकण्ठ से इसकी प्रशंसा की है। एक तमिल-कवि के अनुसार **"यह एक ऐसा भू-भाग था, जिसके शान्तिमय इतिहास के पृष्ठों में दुर्भिक्ष, रोग एवं शत्रु आदि के भय के उदाहरण उपलब्ध नहीं होते।"**[२]

इस नगर के पट्टिनपाक्कम तथा मरुवरपाक्कम नाम से दो भाग थे। समुद्र-तट के समीप के भाग को मरुवरपाक्कम कहा जाता था और इसके पश्चिम वाले भाग को पट्टिनपाक्कम कहते थे। इन दोनों भागों के मध्य एक खुली जगह थी, जहाँ पर बाज़ार लगता था। यहाँ पर नाना प्रकार के वस्तुओं का विक्रय किया जाता था। प्रत्येक दुकान के सामने एक पताका लगी होती थी, जिसमें विक्रय-हेतु रखे गये वस्तुओं के नाम अङ्कित होते थे। इस स्थान पर अनेक छायेदार वृक्षों का आरोपण किया गया था, जिनसे क्रय करने वाले लोगों को छाया उपलब्ध होती थी। इन वृक्षों के कारण बाज़ार की वायु भी स्वच्छ एवं स्वस्थ रहती थी।[३]

पट्टिनपाक्कम में **राजप्रासाद** का निर्माण किया गया था तथा उसके समीप ही **राजकीय कर्मचारी, राजभृत्य** एवं **अमात्यों आदि के घर** बने हुए थे। सम्राट् के प्रशंसक सूत तथा चारणादि भी नगर के इसी भाग में रहते थे। राजप्रासाद से कुछ दूर हटकर उसके चारों ओर **प्रतिष्ठित** एवं **सभ्य नागरिकों के आवास** बने हुए थे। यहाँ पर **सैनिक पदाधिकारियों के निवास स्थान** एवं **सैनिक शिविरों** की भी स्थापना समुचित रूप से की गई थी।[४]

मरुवरपाक्कम में विभिन्न **व्यवसायिकों** एवं **व्यापारियों के गृह** निर्मित थे। यहाँ

१. अय्यर : टाउन् प्लानिङ्ग इन् एन्शेन्ट् डक्कन, पृष्ठ ८१
२. वही, पृष्ठ ८२
३. वही, पृष्ठ ९०
४. वही, पृष्ठ ८८

पर समुद्र-तट से सटे हुए भाग में ऊँचे चबूतरे बने हुए थे, जिन पर जहाजों से माल उतारा जाता था और उसे गोदामों में भरा जाता था। गोदामों में ले जाने से पूर्व राजकीय शुल्क-सम्बन्धी पदाधिकारी बाहर से आने वाले माल पर चुंगी वसूल कर उन पर सिंह के पंजे से अङ्कित चोल-राजमुद्रा के द्वारा छाप लगा देते थे। कोवरीपत्तन के व्यवसायिकों में लौहकार, ताम्रकार, स्वर्णकार, बढ़ई, मूर्तिकार, चित्रकार तथा दर्जी आदि उल्लेखनीय हैं। इनके घर के पास ही प्रयोगशालाएँ बनी हुई थीं जिसके कारण इन्हें पर्याप्त सुविधा मिलती थी।[१]

शिलप्पदिकारम् में कावेरीपत्तन का दूसरा नाम 'पुहार' बताया गया है।[२] इसके अनुसार नगर के भवन **बहुमंजिल वाले** थे। भवनों को पताकाओं से सुसज्जित किया जाता था। यहाँ पर रहने वाले विद्वान् अपने घरों पर पताका लगाकर प्रतिद्वन्दी विद्वानों को शास्त्रार्थ-हेतु ललकारते थे। इसमें कावेरी-पत्तन के समुद्रतट का रोचक, भव्य एवं साङ्गोपाङ्ग वर्णन उपलब्ध होता है। यहाँ पर जलपोत की सुरक्षा के लिए पक्के दीपगृह निर्मित थे, जिनमें रात को तेज प्रकाश किया जाता था।[३]

शिल्प्पदिकारम् में इस नगर के सांस्कृतिक वैभव का भी वर्णन प्राप्त होता है। यहाँ पर सार्वजनिक शिक्षागृह (पट्टिमण्डपम्) तथा न्यायालय (पावइमनरम्) बने हुए थे। इसके विविध भागों में **शिव, सुब्रमण्य, बलदेव, विष्णु** तथा **इन्द्रादि के मन्दिर** स्थित थे। **मन्दिरों के प्राङ्गण में वृक्ष** तथा **पुष्पवाटिकाएँ** लगी हुई थीं, जिनके कारण इनकी शोभा द्विगुणित हो जाती थी। नगर के राजमार्ग **लंबे** तथा **चौड़े** थे।[४] नगर के **मुख्य द्वार की चौड़ाई** काफी थी। यहाँ से एक **राजमार्ग** सीधे **राजप्रासाद** की ओर जाता था। इसके दोनों और **वृक्षों का आरोपण** किया गया था। स्थान-स्थान पर **उपवन** एवं **सरोवर** बने हुए थे, जिनका उपयोग केवल राजकुल के सदस्य ही करते थे। **राजप्रासाद की दीवारों पर चूने से पुताई** की गई थी और इसके प्राङ्गण में विभिन्न प्रकार के देशी एवं विदेशी वृक्ष आरोपित थे।[५]

**वंजी**–वंजी चेरों की राजधानी थी। इसकी स्थापना **योजनाबद्ध रूप** से की गई थी। परन्तु वर्तमान में भी इसकी पहचान में मतभेद बना हुआ है। कुछ विद्वान

---

१. अय्यर : टाउन् प्लानिङ्ग एन्शेन्ट् डक्कन, पृष्ठ ८६
२. वही, पृष्ठ १५७
३. वही, पृष्ठ १५९
४. वही, पृष्ठ ९२
५. वही, पृष्ठ ९५

त्रिचनापल्ली के समीप स्थित आधुनिक करुर अथवा करुवूर को ही प्राचीन वंजीपुरी बताते हैं,[१] जबकि कुछ विद्वानों के अनुसार कोचीन पश्चिमी समुद्र तट पर स्थित आधुनिक तिरुवंजिकुलम् को प्राचीन काल में वंजी कहा जाता था।[२]

**वंजी के चारों ओर** इसकी सुरक्षा के निमित्त एक **उदक-परिखा** बनाई गई थी, जिसमें मछलियाँ पाली गई थीं और **कमल** तथा अन्य विभिन्न प्रकार के **जल-पुष्प** खिले हुए थे। इन विभिन्न प्रकार के पुष्पों के विभिन्न रंगों के सम्मितिल प्रतिबिम्ब के कारण परिखा के जल में इन्द्र-धनुष की छ्टा आभासित होती थी। इस प्रकार की खाई के विद्यमान होने से नगर की सुन्दरता निखर उठती थी।[३] इसका **प्राकार स्थापत्य ग्रन्थों के नियमानुसार** निर्मित था। इसकी नींव **बहुत गहरी** थी। अपनी अत्यधिक **चौड़ाई** एवं **प्रस्तर-निर्मित होने के कारण** यह शत्रुओं के द्वारा **अलङ्घनीय था।** इसकी ऊँचाई भी इतनी अधिक थी कि इसे **पार करना कठिन कार्य** था।[४] प्राकार की चोटी पर **युद्ध-सम्बन्धी अस्त्र-शस्त्र** रखे गये थे और नगर पर जब बाहरी आक्रमण होता था तब सैनिक ऊपर से ही **इन अस्त्र-शस्त्रों के द्वारा शत्रु-सेना पर प्रहार** करते थे।[५] **प्राकार द्वारों से युक्त** था। इसके समीप ही **प्रहरी** नियुक्त किये गये थे, जो पहरेदारी के कार्य को बहुत कठोरता के साथ करते थे। प्राकार के समीप के भाग को "पुड़नकर" कहा जाता था।[६]

राजप्रासाद का निर्माण **नगर के मध्य** में किया गया था। राजप्रासाद के समीप कुछ **जलाशय** बने हुए थे, जिनका प्रयोग केवल राजकुल के सदस्य ही कर सकते थे। राजप्रासाद के पास ही **विश्रामगृह, सभाभवन** आदि स्थित थे। यहाँ पर **पुष्पवाटिकाएँ** एवं **वृक्षवाटिकाएँ** आरोपित थीं, जिनके कारण राजगृह का वातावरण स्वस्थ और शांतियुक्त था। नगर-सम्राट् तथा राजकुल के सदस्य अपने मनोविनोद एवं विहारार्थ इन वाटिकाओं में आते थे। **राजमहल के आस-पास चार मुख्य सड़कें** थीं, जिनके चारों ओर **ब्राह्मण, मन्त्रीगण, सैनिक, पदाधिकारी एवं राजकीय कर्मचारियों के घर** विपद्यमान थे। **राजप्रासाद के पृष्ठ भाग में गजशालाओं** एवं **अश्वशालाओं** का निर्माण किया गया था और वहीं पर स्थित प्राङ्गणों में हाथियों एवं घोड़ों को विभिन्न रण-पद्धतियों की शिक्षा दी जाती थी।[७]

---

१. सार्थवाह, पृष्ठ १२१-२२
२. प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन, पृष्ठ २२६
३. अय्यर : टाउन् प्लानिङ्ग इन् एन्शेन्ट् डक्कन, पृष्ठ ६०
४. वही, पृष्ठ ६३
५. वही, पृष्ठ ६३
६. वही, पृष्ठ ६०
७. वही, पृष्ठ ६७

नगर के भीतरी भाग की स्वच्छता के निर्मित्त **कई नालों का निर्माण** किया गया था, जो **ऊपर से ढके हुए** थे तथा जिनका **मुख परिखा से लगा हुआ** था। घरों का **गंदा पानी इन नालों के द्वारा परिखा** में बहा दिया जाता था।[१] इस प्रकार जहाँ एक ओर परिखा के द्वारा नगर की सुरक्षा होती थी, वहीं दूसरी ओर इसके माध्यम से नगर को स्वच्छ रखने में भी इसका प्रयोग होता था। नगर के भीतर एक केन्द्रीय बाज़ार था, जिसे 'अकनकर' कहा जाता था।[२] यहाँ पर ऊनी एवं सूती वस्त्र तथा इत्र, अनुलेप, आभूषण एवं दैनिक जीवन में प्रयोग होने वाली वस्तुएँ बेची जाती थीं। नगर के व्यवसायिकों कुम्भकार, लौहकार, बढ़ई, रस्सी बनाने वाले, पत्थर की मूर्तियाँ बनाने वाले, स्वर्णकार तथा चर्मकार आदि थे। नगर में खुले मैदान थे, जहाँ नागरिक शुद्ध-वायु का सेवन करने जाते थे।[३]

**मदुरा**—मदुरा नगर की स्थापना पाण्डवों ने कदम्ब वृक्षों के एक वन को काटकर की थी। चूंकि यह नगर कदम्ब के वृक्षों को काटकर बसाया गया था, अतः इसका अपर नाम कदम्ब वन भी था।[४] कुछ लोग इसे "दक्षिणी मथुरा' भी कहते थे।

नगर भूमि में **विशाल** एवं **चौड़े राजमार्गों का निर्माण** भिन्न-भिन्न प्रयोजन के लिए किया गया था, जिनमें **गजमार्ग, रथमार्ग** तथा **पदातिमार्ग** थे। यहाँ पर नगर-सुरक्षा के हेतु **प्राकृतिक संसाधनों** का समुचित सदुपयोग किया गया था। नगर-सौंदर्य की अभिवृद्धि तथा नागरिकों को जल एवं स्नान करने की सुविधा उपलब्ध कराने हेतु **यथोचित** स्थान पर **सरोवरों का निर्माण** किया गया था। नगर की सुरक्षा के लिए इसे **प्राकार** तथा **परिखा से परिवेष्टित** किया गया था। राजप्रासाद का निर्माण **नगर के दक्षिण पूर्व भाग** में किया गया था। यह नगर नागरिकों के स्वास्थ्य एवं उनके सर्वाङ्गीण उन्नति में विशेष रूप से सहायक था, अतः इसे तिरुविड़ैयाड़ल पुराण में 'अनुकूल नगर' कहा गया है।[५]

मदुरानगर के नागरिक तत्कालीन विभिन्न सुविधाओं से सम्पन्न थे, परन्तु कालान्तर में जलप्लावन के कारण वहाँ पर स्थित सरोवर तथा देवालय को छोड़कर नगर के अन्य भाग बहा दिये गये। बाद में बाढ़ के प्रकोप से बची जनता जिस भूमि पर रहने

---

१. अय्यर : टाउन् प्लानिङ्ग इन् एन्शेन्ट् डक्कन, पृष्ठ ६१
२. वही, पृष्ठ ६६
३. वही, पृष्ठ ६९
४. वही, पृष्ठ २५
५. वही, पृष्ठ २८

लगी, वह भूमि नड़वूर के नाम से प्रसिद्ध हुई। कुछ काल के पश्चात् बढ़ती हुई जनसंख्या के कारण योजना-बद्ध रूप से इसका विकास किया गया।[1] नवनिर्मित नगर की आकृति **वलयाकृति** अथवा **भुजङ्गाकृति** की थी। यह नगर आलवाय नामक एक नवीन नाम से प्रसिद्ध हुआ। इसका क्षेत्रफल लगभग ८ मील था। इस नगर की उत्तरी सीमा पर **वैकड़ नदी** बहती थी, जो कि इसकी सुरक्षा में प्राकृतिक साधन का काम करती थी। चूँकि यह नगर दक्षिण भारतीय नगर था, अतः इस पर उत्तर की ओर से आक्रमण की आशङ्का बनी रहती थी। अत एव इसके उत्तरी द्वार को आकार में छोटा रखा गया था। इसकी अपेक्षा इसका दक्षिणी द्वार विशल था, क्योंकि यह नगर दक्षिण की ओर से बाह्य आक्रमणों से सुरक्षित था।[2]

यह नगर **प्राकार** एवं **परिखा के द्वारा भी सुरक्षित** था। **नगर-प्राकार** बहुत ऊँचा था, जिसके कारण वह दुर्लङ्ध्य था।[3] नगर के भीतर **चौड़े राजमार्गों का निर्माण** किया गया था। इसके **विन्यास के कारण पुर-भूमि कई भागों में विभक्त** हो गई थी। **राजप्रासाद का निर्माण नगर के सुरक्षित भाग** में किया गया था। **राजमार्गों के दोनों ओर नागरिक-भवन** स्थित थे। मदुरैक्कांची के अनुसार नगर के चौड़े राजमार्ग सरिता की भाँति तथा उनके दोनों ओर निर्मित भवन सरिता के तट पर विद्यमान वृक्षों की भाँति सुशोभित थे। यहाँ **पृथक्-पृथक् वर्ण के लोग पुर के पृथक्-पृथक् भागों** में रहते थे। नागरिकों की सुविधा के लिए राजकीय जनता-स्नान-गृह, शिक्षालय, खेल के मैदान तथा व्यायाम-गृह आदि बने हुए थे।[4] यहाँ पर लगने वाले बाज़ारों में प्रमुखतः दो बाज़ार थे। एक बाज़ार दिन में लगता था दूसरा रात में। दिन में लगने वाले बाज़ार में तिभिन्न वस्तुओं से युक्त दुकानें थीं। इनमें लकड़ी के हल्के तख्तों के पल्ले लगाये गये थे, जिन्हें धूप के तेज होने पर बाँस के लट्ठों के सहारे ऊपर लटका देते थे, जिससे दुकानों के बाहर छाया हो जाती थी। छोटे सौदागर और जुलाहे अपना सामान बाहर ही लगाते थे। **राजप्रासाद के चारों ओर विभिन्न राजकीय पदाधिकारियों एवं धनिक लोगों के घर** बने हुए थे।[5]

प्रमुख राजमार्गों पर सफाई की समुचित व्यवस्था थी। उनके दोनों ओर कूड़ेदान

---

१. अय्यर : टाउन् प्लानिङ्ग इन एन्शेन्ट् डक्कन, पृष्ठ ३१
२. वही, पृष्ठ ३२
३. वही, पृष्ठ ३५
४. वही, पृष्ठ ३७
५. वही, पृष्ठ ४२

बने हुए थे। **सड़कों के किनारे नाले** बने हुए थे, जिनके द्वारा गृहों की गन्दगी नगर की परिखा में गिराई जाती थी।[१] नगर की परिखा को पार करने के लिए उस पर यथास्थान पुल बनाये गये थे, जिसके निर्माण में लम्बे, चौड़े तथा भारी पत्थरों का प्रयोग किया गया था। ये बहुत सुदृढ़ थे, इन पर हाथियों का झुण्ड भी चल सकता था और इनके टूटने का किसी प्रकार का भय नहीं था। पुर-प्राकार के बाह्य एवं समीप के क्षेत्र को 'पुड़नकर' कहा जाता था। इसी प्रकार नगर के दक्षिणी द्वार से प्रवेश करने के पश्चात् इसका जो भाग पड़ता था, उसके 'अकनकर' कहा जाता था।[२]

नगर के पूर्वी द्वार के बाहर **उद्यान** बना हुआ था, जहाँ पर साधु, संन्यासी तथा धार्मिक प्रवृत्ति वाले जन साधना एवं आत्म-परमात्म-चिन्तन में संलग्न होते थे। समय-समय पर इनके व्याख्यान आदि भी हुआ करते थे, जिनसे लाभ प्राप्त करने के लिए नागरिक एकत्र होते थे। नगर में विभिन्न विषयों में पारङ्गत आचार्य रहते थे, जो अपने घर पर ही विद्यार्थियों को शिक्षा देते थे। यहाँ पर कुछ राजकीय विद्यालय भी विद्यमान थे, जिनमें छात्रों को लौकिक विषयों की शिक्षा दी जाती थी।[३] नगर के सीमान्त क्षेत्र के बाहर का ग्रामीण वातावरण सुरम्य था, जहाँ नागरिक अपने मनोविनोद तथा नैसर्गिक दृश्य का आश्रय लेने के लिए जाते थे।[४]

पूर्वोक्त प्राचीन भारतीय नगरों के परिचयात्मक विवेचन से सुस्पष्ट है कि तत्कालीन भारत में इसके सन्निवेश में कतिपय महत्त्वपूर्ण बिन्दुओं पर विशेष ध्यान दिया जाता था। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि भारतीय स्थापत्य-विज्ञान के अन्तर्गत प्रत्येक प्रकार के स्थापत्य-निर्माण-कार्य की विविध प्रक्रियाओं में स्थान-चयन की महत्ता को स्वीकार किया गया है और पुर-सन्निवेश के प्रसङ्ग में नदी अथवा समुद्र के सुरम्य तट-प्रदेश एवं पर्वतों के समीप या पर्वतों से घिरे हुए सुरक्षित स्थानों को, जो कि प्राकृतिक सुषमा-पण्डित हरी-भरी उपजाऊ क्षेत्र हों, उन्हें प्रशस्त माना गया है। सम्भवतः इसी कारण अधिकांश प्राचीन भारतीय नगर नदियों अथवा समुद्र के पुलिन प्रान्तों में अवस्थित दिखाई देते हैं। इन नगरों की विद्यमानता जहाँ समुद्र के तट-प्रदेशों या सरित्प्रान्तों में थी, वहीं ये नगर तत्कालीन सुप्रसिद्ध राजमार्गों से भी सम्बद्ध थे, जो कि प्रमुखतः यातायात एवं किसी भी राष्ट्र या नगर की व्यापारिक प्रगति के प्रमुख साधन

---

१. अय्यर : टाउन् प्लानिङ्ग इन एन्शेन्ट् डक्कन, पृष्ठ ४३

२. वही, पृष्ठ ४४

२. वही, पृष्ठ ५९

४. वही, पृष्ठ ४३

हैं। इन सुप्रसिद्ध राजपथों में उत्तर-पथ (Northern route, राह-ए-आजम, ग्राण्ड-ट्रङ्क रोड) जो कि बङ्गाल के समुद्र-तट पर स्थित ताम्रलिप्ति बन्दरगाह से भारतीय सीमा के बाहर बाह्लीक तक; द्वितीय राजपथ पश्चिम में पाटल से प्रारम्भ होकर श्रावस्ती तक और चतुर्थ स्थल-मार्ग भृगुकच्छ से लेकर मथुरा तक जाता था। नगर-निवेश में विविध दृष्टिकोण से निवेश्य स्थलों की प्रशस्तता एवं नगरों को जल एवं स्थल-मार्गों से जोड़ना तत्कालीन नागरिकों की स्वास्थ्य प्रियता, सुरक्षात्मक भावना और व्यापारिक उन्नति के प्रति जागरूकता आदि का सूचक है। इतना ही नहीं, नगरों को और अधिक सुरक्षा प्रदान करने के लिए जहाँ प्रकृति प्रदत्त सुरक्षात्म्क भौगोलिक परिस्थितयाँ तदनुकूल नहीं होती थीं वहाँ वप्र, प्राकार, परिखा आदि कृत्रिम साधनों का निर्माण किया जाता था।

**यस्मिन्राज्ये गिरिर्नास्ति नद्यो वा गहनोदकाः।**
**तस्य मध्ये महीपालः कृत्रिमं द्रुन्दमारभेत्।।**

–युक्तिकल्पतरु, द्रुन्दयुक्ति, १२६

इन नगरों में निर्मित प्राचीर, परिखा, अट्टालक, नगर-द्वार आदि का विधान वास्तुशास्त्रीय लक्षण-ग्रन्थों के दिशा-निर्देशानुसार दिखाई देता है। प्राचीर अत्यन्त सुदृढ़ तथा आनुपातिक दृष्टि से उचित मान-उन्मान के कपिशीर्षों एवं काण्डवारिणियों से अलङ्कृत होते थे। इनका निर्माण इस रीति से किया जाता था कि वे किसी भी दूसरे साधन अथवा उपाय से अलङ्घनीय होते थे। अट्टालकों में विध्वंसकारी शस्त्रों के रखने के स्थान के साथ-साथ प्रहरी-कक्ष भी बने होते थे। नगर-द्वार अत्यन्त विशाल होते थे। विशालता तत्कालीन आवश्यकता थी, क्योंकि सैन्य-सञ्चालन के लिए हाथी तथा रथ आदि का आगमन-निर्गमन होता था। नगर-विन्यास के अन्तर्गत उनकी आन्तरिक निवेश-व्यवस्था में भी स्थापत्य-सिद्धान्तों एवं नियमों की अनुपालना की जाती थी। नगरों का आन्तरिक भाग राजमार्गों के द्वारा प्रायः चार भागों में विभाजित होता था। राजमार्गों के दोनों ओर हर्म्य, प्रासाद, आपण आदि सुशोभित होते थे। राजपथों के दोनों किनारों पर दूषित जल-निर्गमन के लिए नालियों का निर्माण किया जाता था, जिसका निर्देश प्रायः सभी वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में उपलभ्य है। राजधानी वर्ग के नगर में राजप्रासाद का निवेश नगर के केन्द्रीय भाग में दृष्टिगोचर होता है। उसके साथ ही राजप्रासाद के अङ्ग के रूप में निवेश्य अश्वशाला, हस्तिशाला, भण्डारगृह, शस्त्रागार, सभाभवन आदि का निर्माण किया जाता था। नागरिकों के मनोविनोदार्थ एवं अन्य विविध आवश्यकताओं की पूर्ति-हेतु यथास्थान उपवनों, उद्यानों एवं

जल-सङ्ग्रहार्थ सरोवर आदि का भी निर्माण किया जाता था। प्राचीन भारतीय नगरों के सन्निवेश में न केवल उनकी आन्तरिक निवेश-व्यवस्था में ही स्थापत्य-शास्त्रों में प्रदत्त निर्देशों का अनुपालन किया जाता था अपितु तत्कालीन अधिकांश नगरों के निवेश में प्रशस्त आकारों का भी अनुसरण किया जाता था। इस प्रकार प्राचीन भारतीय नगरों अथवा पुरों के सन्निवेश में एक सुनिश्चित वास्तुशैली का दिग्दर्शन होता है, जिसे नगर-वास्तु का वैज्ञानिक स्वरूप कहा जा सकता है।

# उपसंहार

"**वसन्त्यस्मिन्निति वास्तुः**" अर्थात् जिसमें लोग रहते हैं या निवास करते हैं, उसे '**वास्तु**' कहा जाता है। इस प्रकार सामान्यतः भवननिर्माण के लिए निश्चित '**भूमि**' अथवा '**भवन**' की संज्ञा वास्तु है, परन्तु समय-चक्र से वास्तु का तात्पर्य व्यापक होता गया और इसके अन्तर्गत न केवल मानव के रहने-योग्य भवन या भूमि का ही ग्रहण होता है अपितु इसमें ग्राम, नगर, दुर्ग, मन्दिर, राजमार्ग, कूप, वापी, तालाब, मण्डप, वाहन, मूर्ति, उद्यान आदि का निर्माण करना एवं उनका संशोधन या जीर्णोद्धार करना भी सम्मिलित है।

विश्वकर्मीयशिल्प, मानसार, मयमत आदि समराङ्गणसूत्रधार के पूर्ववर्ती प्रसिद्ध स्थापत्यशास्त्रों में वास्तु शब्द के अर्थ एवं उसके क्षेत्र के अन्तर्गत प्रमुखतया धरा (भूमि), भवन, यान एवं पर्यङ्क का ही ग्रहण हुआ है परन्तु समराङ्गणसूत्रधार में इनके अतिरिक्त व्यापक विधा अपनाते हुए समस्त विश्व का चिन्तन हुआ है। वस्तुतः कोई भी निर्मिति या कोई भी योजना वस्तु है। इस प्रकार भारतीय दृष्टिकोण से समस्त भूमण्डल ही नहीं, अपितु सम्पूर्ण विश्व ही स्थापत्य का प्रतिपाद्य विषय है।

वास्तुकला का इतिहास अत्यन्त प्राचीन है। प्राचीन काल में यह कला सभी कलाओं की जननी के रूप में व्यवहृत होती थी। वैदिक युग में बुनाई, बढ़ई एवं भैषज्य आदि विभिन्न कलाओं की भाँति इसकी भी प्रसिद्ध थी। प्राचीन समय में भारतीय वास्तुकला का अत्यन्त विकसित रूप दृष्टिगोचर होता है जिसके साक्ष्य हड़प्पा, मोहनजोदड़ो, एवं तत्कालीन सुनियोजित रूप में निर्मित अन्य अनेक पुर तथा उनमें गृह, मार्ग आदि का व्यवस्थित निवेश है। यहाँ पर धार्मिक एवं लौकिक, दोनों ही प्रकार की वास्तुकला को प्रश्रय मिला है। धार्मिक वास्तुकला के अन्तर्गत भारतीय उपासना-पद्धति के प्रतीक बन चुके मन्दिर को अपने वर्तमान स्वरूप को प्राप्त करने में विभिन्न सोपानों की यात्रा करनी पड़ी है, जिनमें मानव-शरीर, वृक्ष तथा पर्वत-शिखर आदि इसके प्रेरणा-स्रोत रहे हैं परन्तु प्रासाद की मूल भित्ति को जन्म देने का श्रेय वैदिक वाङ्मय एवं याग-संस्था को ही है।

प्राचीन भारतीय वास्तुकला में विभिन्न रचनाओं में उपादान सामग्री के रूप में लकड़ियों का प्रयोग होता था और इसके विकास में बौद्ध धर्म की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। इस काल में अनेक स्तूपों का निर्माण हुआ, जिनमें साँची, भारहुत एवं अमरावती के स्तूप उल्लेखनीय हैं। इसके अतिरिक्त वेदसा, नासिक और अजन्ता की गुफाएँ भी महत्वपूर्ण स्थान रखती हैं। लकड़ियों के अतिरिक्त इस देश में स्थापत्यकला-विषयक निर्माण-कार्य में ईटों और पत्थरों का प्रयोग भी होते रहा है। पत्थरों से स्तम्भों, दीवारों तथा शिखर आदि का निर्माण किया जाता था। इस प्रकार इस देश में इस्लाम के पदार्पण से पूर्व ही यहाँ की वास्तुकला अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई थी और विश्वप्रसिद्ध अनेक बृहदाकार वाले कौतूहल-युक्त प्रसादों का निर्माण हो चुका था। इस काल में जहाँ स्थापत्यकला अपनी उन्नत अवस्था को प्राप्त कर चुकी थी, वहीं मानसार, मयमत तथा समराङ्गणसूत्रधार प्रभृति स्थापत्यविज्ञान-सम्बन्धी सूक्ष्मातिसूक्ष्म अङ्गों के विवेचक वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन हो चुका था, जिससे वास्तुकला के क्षेत्र में एक बृहत् वास्तुविधा बन गई थी।

लौकिक वास्तु के अन्तर्गत रामायण, महाभारत, अर्थशास्त्र एवं बौद्ध साहित्य तथा स्थापत्यग्रन्थों में उपलब्ध पुरनिवेश विषयक विवरण इस बात की पुष्टि करते हैं कि उस युग में सुनियोजित पुर बसाने के सिद्धान्त प्रचलित हो चुके थे। नगर अथवा पुर की सुरक्षा की दृष्टि से उसके चारों ओर वप्र, प्राकार, परिखा आदि का निर्माण किया जाता था। राजप्रासाद एवं जनसाधारण के भवनों का निर्माण निर्धारित नियमों के अनुसार होता था। राजमार्गों के निर्माण में भी उन्नत निर्माणकौशल का दर्शन होता है, जिनमें पत्थरों, इष्टकाओं एवं कङ्कड़ों का प्रयोग अपेक्षित समझा जाता था।

वास्तुकला के उद्भव के सम्बन्ध में यह कहा जा सकता है कि सम्भवतः इसका जन्म मौसम की उग्रता एवं विभिन्न प्राणियों से सुरक्षित रहने के उपायों में से हुआ होगा, क्योंकि आवास, भोजन एवं छाद्य मानवीय मूलभूत आवश्यकताएँ हैं। भारत में भी इसका उद्भव प्रारम्भिक पर्णकुटी से माना जा सकता है, परन्तु एक निश्चित प्रविधि के अनुसार इसका प्रारम्भ वैदिक युग में ही हुआ होगा। कालान्तर में इस देश में स्थापत्यविज्ञान के विशेषज्ञ के रूप में विश्वकर्मा एवं मय अत्यन्त प्रसिद्ध हुए, जिनके उत्कृष्ट वास्तुकौशल की अमरगाथा विभिन्न साहित्यिक रचनाओं में उपलब्ध होती है। इन आचार्यद्वय के अतिरिक्त भृगु, अत्रि, कश्यप, वशिष्ठ आदि अनेक वास्तुविद्याविशारद हुए हैं, जिनका उल्लेख पुराणों एवं वास्तुशास्त्रीय ग्रन्थों में प्राप्त होता है।

स्थापत्यकला-विषयक साम्रगी की दृष्टि से समग्र वैदिक वाङ्मय अत्यन्त समृद्ध है। वेदों में गृह के लिए सदन, आयतन, क्षय, वेश्म, सद्म, प्रसद्म आदि अनेक पर्यायवाची शब्द तथा उन्हें स्वच्छ, सुन्दर एवं सुदृढ़ बनाने का उल्लेख इस बात की पुष्टि करता है कि तद्युगीन समाज में वास्तुकला का विकसित रूप था। गृहों का निर्माण एक सुनिर्धारित परिमाप को आधार बनाकर किया जाता था, जिसमें इष्टका, पाषाण एवं अयस् का प्रयोग अपेक्षित समझा जाता था। तत्कालीन गृहरचना में वैज्ञानिकता का सम्मिश्रण परिलक्षित होता है, जिसमें प्रायः सभी शालाओं का मुख पूर्वदिशा की ओर होता था। इससे गृहों में प्रातःकालीन सूर्य--रश्मियों का प्रवेश निर्बाध रूप से होता था, जो कि स्वास्थ्य की दृष्टि से उत्तम मानी जाती है।* इसके अतिरिक्त गृहों में अन्य दिशाओं में भी वायु एवं प्रकाश के लिए द्वारों एवं खिड़कियों आदि की व्यवस्था की जाती थी। गृहों का निर्माण सुविचारित एवं सुदृढ़ स्तम्भों पर किया जाता था। गृहान्तर्गत रचनाओं में अग्निशाला, भण्डारकक्ष, पत्नीसदन तथा बैठक-कक्ष का निर्माण आवश्यक समझा जाता था। ग्रामों एवं पुरों के निवेश में स्वच्छ-जल तथा शुद्ध-वायु का विशेष ध्यान दिया जाता था। ग्रामनिवेश में विविध सुरक्षोपाय एवं पुरों को दुर्ग के रूप में निवेश तद्युगीन मानव के सुरक्षा की भावना का परिचायक है। ब्राह्मणसाहित्य में अयोध्या, काम्पील, वरणावती, कौशम्बी आदि प्रसिद्ध पुरों का उल्लेख उस समय इनकी उपस्थिति को प्रकट करता है, जिनके चारों ओर सुरक्षा के निमित्त प्राकार, परिखा आदि का निर्माण किया गया था। तत्कालीन गृहरचना में प्रायः चारों दिशाओं में द्वारों का विधान तथा उनमें सुरक्षा-भाव से अर्गला का प्रयोग किया जाता था।

सूत्रसाहित्य को वास्तुविज्ञान के जन्म का बड़ा श्रेय है। इसमें विवेचित भूमिचयन एवं गृहरचना सम्बन्धी नियम तथा विविधाकृतियों वाली यज्ञ-वेदियाँ भारतीय स्थापत्यसिद्धान्त की दृष्टि से महत्वपूर्ण हैं। इन ग्रन्थों में वर्णित यज्ञ-वेदियों एवं यज्ञीय निवेशों के मानादि, निर्माणादि एवं द्रव्यादि ने ही आगे चलकर प्रासादकला की मूल-भित्ति को प्रस्तुत किया।

---

* प्रातःकालीन सूर्य की किरणों (पैरावैंगनी, वर्णक्रम, रक्ताभ) में परावैंगनी किरणें अधिक और रक्ताभ कम होती है। इसलिए प्रातःकाल सूर्य की किरणों में गरमी कम होती है। इस समय सूर्य की किरणों से शरीर को पोषकतत्त्व (Vitamins) मिलते है और पराबैंगनी किरणें वातावरण में विद्यमान विषाणुओं का नाश कर देतीं हैं।

–प्रो० शुकदेव चतुर्वेदी, ज्योतिषमन्थन, जुलाई 2005, अङ्क 74, पृष्ठ 15

प्राचीन भारत में विकसित स्थापत्यकला के साक्ष्य के रूप में हड़प्पा एवं मोहनजोदड़ो नामक नगरों के उत्खनन से उपलब्ध भग्नावशेष विशिष्ट महत्त्व रखते हैं। इन दोनों महानगरों का सन्निवेश पूर्णतः वैज्ञानिक विधि से हुआ था जो कि तत्कालीन शिल्पियों के ऊर्वरा मस्तिष्क के साक्ष्य हैं। इनकी सन्निवेश-विधि कालान्तर में रचित स्थापत्यशास्त्रों में नगरनिवेश के सम्बन्ध में प्रदत्त सिद्धान्तों से समता रखती है। दोनों नगरों का विन्यास पूर्व-नियोजित अभ्यस्त प्रणाली पर हुआ था। इन्हें प्रमुखतया दो वर्गों में विभाजित किया गया था, जिन्हें ऊर्ध्वाधर-भाग की संज्ञा दी जा सकती है। यह भारतीय शिल्पियों के मौलिक देन थी। इनका विन्यास दुर्ग के रूप में किया गया था, जिनमें वप्र, प्राकार, परिखा, अट्टालक, राजमार्ग, सभा, चत्वर, जलाशय आदि का निर्माण श्लाघनीय था। इन नगरों के अतिरिक्त कालीबंगा, धौलवीरा, लोथल आदि के सन्निवेश में भी उन्नत वास्तुसिद्धान्त के दर्शन होते हैं।

नागरिक भवनों के पुरातात्त्विक साक्ष्य से स्पष्ट है कि तत्कालीन सभ्यता में गृहसन्निवेश की एक सुनियोजित शैली आविर्भूत हो चुकी थी। गृहों का निर्माण मार्गों एवं वीथियों के दोनों ओर किया गया था। जहाँ ये भवन तत्कालीन नागरिकों के सरल जीवन के द्योतक थे वहीं ये अपनी सुदृढ़ता के लिए भी विख्यात थे, जिनमें कच्ची एवं पक्की दोनों प्रकार की ईटों का प्रयोग किया गया था। गृहान्तर्गत रचनाओं में पाकशाला एवं स्नानागार का निर्माण किया जाता था। घरों में स्नानकक्षों का प्रावधान सैन्धव लोगों की शुचिता के प्रति सजगता का प्रतीक है।

भारतीय स्थापत्यकला की व्यापकता एवं महत्ता का अनुमान इस बात से सहज ही लगाया जा सकता है कि अनेक अस्थापत्यविशेष लौकिक साहित्य में भी एतद्विषयक प्रौढ़ विवेचन हुआ है। रामायण, महाभारत, विभिन्न पुराण, शुक्रनीति एवं अर्थशास्त्र में वास्तुविद्या से सम्बन्धित महत्त्वपूर्ण सामग्री प्रचुर मात्रा में उपलब्ध होती है। रामायण में सौधों, विमानों, गोपुरों, तोरणों, प्राकार-परिखा, वप्र-अट्टालक आदि से परिवेष्टित, एवं अलङ्कृत नगरादि का वर्णन उन्नत वास्तुवैभव को दर्शाते हैं। इसी प्रकार महाभारत में इन्द्रप्रस्थ, हस्तिनापुर आदि नगर तथा विभिन्न सभाभवन तत्कालीन वास्तुविद्या की उत्कृष्टता के उद्घोषक हैं। मौर्यकालीन वास्तुकला, वर्धकि के कौशल की एक अत्यन्त उन्नत दक्षता का निदर्शन हैं। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नगरनिवेश की जो पद्धति प्रतिपादित की गई है, उसका सुन्दरतम निदर्शन पाटलिपुत्र का निवेश है, जो कि प्राचीन भारतीय वास्तुशास्त्र के अनुरूप थी अर्थात् यह रक्षासंविधान-प्राकार, परिखा से गुप्त, द्वार एवं गोपुरों से सज्जित था। इनके अतिरिक्त बौद्ध साहित्य, आगम, तन्त्र, बृहत्संहिता, मृच्छकटिक, मेघदूत, शिशुपालवध, हर्षचरित, कादम्बरी, आदि विभिन्न

संस्कृतसाहित्य स्थापत्यकला से सम्बन्धित सामग्री से युक्त हैं। इनमें वास्तुविज्ञान से सम्बद्ध नगर, प्रासाद, हर्म्य, अपनी रचना वैशिष्ट्य के कारण विविध प्रकार के भवन, उनमें बनाये जाने वाले स्तम्भ, भवनों का अलङ्करण, मन्दिर, मार्ग आदि का विन्यास, उद्यान-रचना तथा उनमें प्रशस्त वृक्षों का आरोपण आदि स्थापत्यकला की उन्नत अवस्था के चित्रण के साथ-साथ तत्कालीन सामाजिक वैभव को भी प्रदर्शित करते हैं।

प्राचीन भारत में स्थापत्यकला के क्षेत्र में अत्यधिक प्रगति हुई जिसके फलस्वरूप अनेक ग्रन्थों की रचना हुई जिनमें वास्तुविज्ञान से सम्बन्धित अत्यन्त सूक्ष्म विषयों पर विस्तृत विवेचन हुआ है। वास्तुशास्त्र जैसे तकनीकी विषय पर हमारे पूर्वजों ने अपनी साधना एवं उन्नत कौशल के बल पर जिन ग्रन्थों की रचना की उनमें विश्वकर्मवास्तुशास्त्र, सनत्कुमारवास्तुशास्त्र, मानसार, मयमत, समराङ्गणसूत्रधार, अपराजितपृच्छा, अपराजितप्रभा, रूपमण्डन, प्रासादमण्डन, वास्तुराजवल्लभ, मानसोल्लास, मनुष्यालयचन्द्रिका, शिल्परत्न, प्रभृति महत्त्वपूर्ण ग्रन्थ हैं। इनमें भूमिचयन एवं मृत्तिकापरीक्षा से लेकर दिङ्-निर्णय की सरलतम और अल्पव्ययी विधि, शिलान्यास-हेतु प्रशस्य-अप्रशस्य शिलाएँ एवं उनकी न्यास-विधि तथा ग्राम, दुर्ग, नगर के विविध अङ्गों सहित उनके निवेश-विषयक वर्णन मिलता है। भवनरचना में काष्ठ, इष्टका , पाषाण, कील आदि अनेक संघटक तत्त्वों; मन्दिर एवं भवनादि की वेदिका, दीवार, गवाक्ष, द्वार, तोरण, सोपान, छत आदि अवयवों; कपाटों, खिड़कियों आदि में लकड़ियों को जोड़ने की विधि; रथ, शय्या, सिंहासन प्रतिमा आदि का परिमाण एवं उनकी रचना-विधि; दीवारों की चिनाई की वैज्ञानिक विधि तथा राजप्रासाद, वापी, कूप, तड़ाग, उद्यान आदि मानव-जीवन की विभिन्न गतिविधियों से सम्बद्ध समस्त रचनाओं का जो भव्य एवं उत्कृष्ट रचना-विधि का निर्देश मिलता है, वह भारतीय चिन्तकों के ज्ञान-विज्ञान में नैपुण्य, कला में पारङ्गता एवं अभिरुचि में सौम्यता तथा भव्यता का प्रतीक है।

भारतीय स्थापत्यग्रन्थों में पुर का जो वर्णन हुआ है वह आज के किसी महानगर से कम नहीं है और इनमें तत्कालीन मानवीय सुविधाओं को जिस प्रकार एक सुव्यवस्थित ढंग से रखा गया है वह भी आज किसी विकसित पुर से कम नहीं है। इन स्थापत्यशास्त्रों से भारतीय वास्तुविदों के उत्कृष्ट रचना-कौशल का परिचय तो मिलता ही है साथ ही उनकी भौतिक समृद्धता का भी दर्शन होता है। तत्कालीन वास्तुविद् बहुतलीय भवनों के निर्माण में कुशल था और उन बहुतल वाले भवनों को उनके आकार एवं ऊँचाई की दृष्टि से विशाल होने के कारण विमान कहा जाता था।

प्राचीन भारतीय नगरों में शाकल, तक्षशिला, इन्द्रप्रस्थ, मथुरा, कान्यकुब्ज, कौशाम्बी, अयोध्या, श्रावास्ती, वाराणसी, कपिलवस्तु, वैशाली, राजगृह, पाटलिपुत्र, मिथिला, उज्जयिनी, द्वारका, कल्याण, कांची, कावेरीपत्तन, वंजी, मदुरा आदि विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं, जिनके निर्माण में चाहे स्थानचयन का विषय हो या विभिन्न रचनाओं के निमित्त उनके आन्तरिक भाग का विभाजन, उनके चतुर्दिक् निर्माण किये जाने वाले वप्र हो या प्राचीर, परिखा हो या अट्टालक सर्वत्र ही स्थापत्यसिद्धान्तों का अनुपालन दिखाई देता है। स्थापत्यशास्त्रों के निर्देशानुसार राजधानी वर्ग के नगरों में राजप्रासादों की स्थिति नगर के मध्यभाग में दिखाई देती है। नगरों में राजमार्ग-विन्यास की विधि उन्नत थी, उनके उभयपार्श्व भवन, हर्म्य एवं आपण आदि के निर्माण से नगर के आन्तरिक भाग की सुव्यवस्था का ज्ञान मिलता है। अयोध्या-नगरी के राजमार्गों में जल का छिड़काव एवं पुष्प बिखेरने का उल्लेख वहाँ की स्वच्छता को सूचित करता है। कतिपय नगरों के पृथक्-पृथक् भागों में भिन्न-भिन्न वर्णों का उपनिवेश तत्कालीन सामाजिक स्थिति को दर्शाता है, जिसे प्राचीन भारतीय जनों की विकसित बुद्धि का प्रतिफल माना जा सकता है। इन नगरों के बाहर उद्यानों की रचना, उसमें विभिन्न प्रकार के फल-फूल वाले पेड़-पौधों के आरोपण से नागरिकों की स्वास्थ्य-प्रियता एवं उनका प्रकृति-प्रेम सूचित होता है।

# सन्दर्भ-ग्रन्थ-सूची

## मूलभूत संस्कृत एवं पालि आदि

**अग्निपुराण** : महर्षि व्यास/तारिणीश झा, डॉ० घनश्याम त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, द्वितीय संस्करण १९९८।

**अङ्गुत्तरनिकाय :** भाग १, ३-४, भिक्षु जगदीश कश्यप, बिहार राज्य पालिप्रकाशन-मण्डल, १९६०।

**अथर्ववेद :** पं० क्षेमकरणदास त्रिवेदी, सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि-सभा, नई दिल्ली, २००१।

**अपराजितपृच्छा :** पोपटभाई अम्बाशङ्कर मनकड, गायकवाड़ ऑरिएन्टल् इनिस्टच्यूट्, बरौडा, १९५०।

**अभिधान-सङ्ग्रह :** श्रीमदाचार्य हेमचन्द्र/वी० उपाध्याय, एस०एन० पब्लिकेशन्स्, नई दिल्ली, १९८१।

**अर्थशास्त्र :** वाचस्पति गैरोला, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९८२।

**अष्टाध्यायी :** ब्रह्मदत्त जिज्ञासु, रामलाल कपूर ट्रस्ट, सोनीपत, सप्तम संस्करण १९७१।

**उदयसुन्दरी कथा :** सोड्ठल, सेन्ट्रल् लायब्रेरी, बरौडा, १९२०।

**ऋग्वेद :** (सायणभाष्य) भाग ३, मण्डल ६-८, एन०एस० सोनटक्के एवं अन्य, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९४१।

**ऋग्वेद :** भाष्यकार महर्षि दयानन्द सरस्वती, सार्वदेशिक आर्य-प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, २०००।

**ऐतरेय ब्राह्मण** (सायणभाष्य) : काशीनाथ शास्त्री, आनन्द आश्रम, पूना, १९३१।

**कथासरित्सागर :** श्रीसोमदेव भट्ट, मोतीलाल बनारसीदास दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९७०।

**कात्यायन श्रौतसूत्र :** डॉ० गोपाल शास्त्री नेने एवं वेदाचार्य दुर्गा अनन्तराम शास्त्री, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, बनारस, १९३९।

**कादम्बरी** (प्रथम भाग) : डॉ० श्रीनिवास शास्त्री, डॉ० महेशचन्द्र 'भारतीय', साहित्य-भण्डार, मेरठ, १९७९।

**कादम्बरी** (पूर्वार्द्ध) : डॉ० जयशङ्करलाल त्रिपाठी, कृष्णदास अकादमी, वाराणसी, १९९३।

**काव्यमीमांसा** : राजशेखर/डॉ० गङ्गासागर राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९७७।

**काशिका** : (पाणिनीय व्याकरण-सूत्रवृत्ति) भाग १, जयादित्य/पं० बलशास्त्री, बनारस, १९७६।

**कूर्मपुराण** : अनुवादक : श्री चौधरी, श्री नारायण सिंह; सम्पादक : आनन्दस्वरूप गुप्त, सर्वभारतयीय काशिराजन्यास वाराणसी, १९७२।

**कौषीतकि ब्राह्मण** : ई० वी० कॉवेल, कलकत्ता, १८६१।

**गरुडपुराण** : रामतेज पाण्डेय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, पुनर्मुद्रण, १९८६।

**गोपथब्राह्मण** : राजेन्द्रलाल मित्र एवं हरचन्द्र विद्याभूषण, कलकत्ता, १८८१।

**चुल्लवग्ग** : भिक्षु जगदीश कश्यप, बिहार राज्य पालिप्रकाशनमण्डल, १९५६।

**छान्दोग्य उपनिषद्** : सत्यव्रत सिद्धान्तालङ्कार, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, १९८३।

**जातक** : खण्ड १-६ (मूल पालि एवं अंग्रेजी अनुवाद), ई० वी० कॉवले, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९०५।

**जैमिनीय ब्राह्मण** : आचार्य रघुवीर, डॉ० लोकेशचन्द्र, सरस्वती विहार, नागपुर, १९५४।

**तैत्तिरीय संहिता** : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, भारत मुद्रणालय, औंध, १९४५।

**दशकुमारचरित** : दण्डी आचार्य; व्याख्याकार : संस्कृत आचार्य श्रीताराचरण भट्टाचार्य, हिन्दी-पं० श्री केदारनाथ शर्मा, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस्, वाराणसी, १९६५।

**दीघनिकाय** : २, विपश्यना विशोधन विन्यास धम्मगिरि, इगतपुरी, प्रथमावृति १९९३।

**नवसाहसाङ्कचरित** : आचार्य परिमलपद्मगुप्त, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६३।

**नाट्यशास्त्र** : पं० बटुकनाथ शर्मा, पं० बलदेव उपाध्याय , चौखम्बा संस्कृत संस्थान, द्वितीय संस्करण १९८०।

**नाट्यशास्त्र** : (प्रथम भाग), मधुसूदनशास्त्री, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय (संस्कृतसाहित्य अनुसन्धान समिति), वाराणसी, १९७१।

**नारदपुराण** : डॉ० चारुदेव शास्त्री, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण।

**निरुक्त :** यास्काचार्य, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स्, नई दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९८५।

**पद्मपुराण :** श्रीमद् रविषेणाचार्य/पण्डित पन्नालाल जैन, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी, १९५८-५९।

**पपञ्चसूदनी :** आई० वी० हानर, लन्दन, १९३८।

**पारस्कर गृह्यसूत्र :** गोपालशास्त्री नेने, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस्, वाराणसी, १९२६।

**बालरामायण :** भाग २, राजशेखर/डॉ० भास्कराचार्य त्रिपाठी, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९९५।

**बुद्धचरित :** अश्वघोष/सूर्यनारायण चौधरी, मोतीलाल बनारसीदास, चतुर्थ संस्करण १९६५।

**बृहत्संहिता :** वराहमिहिर/पं० श्री अच्युतानन्द झा, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २०००।

**बोधिसत्त्वावदनाकल्पलता :** क्षेमेन्द्र/डॉ० पी०एल०वैद्य, मिथिला इन्स्टिच्यूट्, दरभङ्गा, १९५९।

**ब्रह्मपुराण :** तारिणीश झा, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, १९९३।

**भविष्यपुराण :** राजेन्द्रनाथ शर्मा, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९९५।

**मज्झिमनिकाय :** भाग १, डॉ० पी०बी० बपट/भिक्षु जगदीश कश्यप, बिहार राज्य पालिप्रकाशन मण्डल, १९५४।

**मज्झिमनिकाय :** भाग २, राहुल साङ्कृत्यायन/भिक्षु जगदीश कश्यप, बिहार राज्य पालिप्रकाशन मण्डल, १९५८।

**मत्स्यपुराण :** व्यास/डॉ० पुष्पेन्द्र, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स्, नई दिल्ली, १९८४।

**मयमत :** ब्रूनो डगेन्स, इंदिरा गाँधी नेशनल् सेन्टर् फॉर् द आर्ट्स्, १९९७।

**महाभारत :** (आदिपर्व), विष्णु एस० सुक्थाङ्कर, भण्डारकर ऑरिएन्टल् रिसर्च इंन्स्टिच्यूट्, पूना, १९३३।

**महाभारत :** (सभापर्व), विष्णु एस० सुक्थाङ्कर, भण्डारकर ऑरिएन्टल् रिसर्च इन्स्टिच्यूट्, पूना, १९४४।

**महाभारत :** (वनपर्व), विष्णु एस० सुक्थाङ्कर, भण्डारकर ऑरिएन्टल् रिसर्च इन्स्टिच्यूट्, पूना, १९४२।

**महाभारत** : (उद्योगपर्व), विष्णु एस० सुक्थाङ्कर, भण्डारकर ऑरिएन्टल् रिसर्च इन्स्टिट्यूट्, पूना, १९४०।

**महाभारत** : (शान्तिपर्व), श्रीपाद कृष्ण बेल्वेकर, भण्डारकर ऑरिएन्टल् रिसर्च इन्स्टिट्यूट्, पूना, १९५४।

**महाभाष्य** : खण्ड १, पं० शिवदत्त शर्मा, पं० रघुनाथ शास्त्री, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई, १९५१।

**महाभाष्य** : खण्ड २, पं० शिवदत्त शर्मा, पं० रघुनाथ शास्त्री, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई, द्वितीय संस्करण १९३५।

**महाभाष्य** : खण्ड ३, पं० शिवदत्त शर्मा, पं० रघुनाथ शास्त्री, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई, १९३७।

**महाभाष्य** : खण्ड ४, भार्गव शास्त्री, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई, प्रथम संस्करण १९४२।

**महावस्तु** (महावत्थु) : अवदान १, डॉ० एस० बगेही, मिथिला इन्स्टिट्यूट्, दरभङ्गा, १९७०।

**मानसार** : प्रसन्न कुमार आचार्य, लो प्राइस् पब्लिकेशन्स्, दिल्ली, २००२।

**मार्कण्डेयपुराण** : पं० कन्हैयालाल मिश्र, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९५।

**मालविकाग्निमित्र** : डॉ० देवनारायण मिश्र, साहित्य-भण्डार, मेरठ, १९८३।

**मिलिन्दपञ्हो** : विपश्यना विशोधन विन्यास, धम्मगिरि, इगपुरी, प्रथमावृति १९९८।

**मुद्राराक्षस** : विशाखदत्त/पं० परमेश्वरदीन पाण्डेय, श्री अवनिकुमार पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९६१।

**मृच्छकटिक** : शूद्रक/डॉ० श्री निवास शास्त्री, साहित्य-भण्डार, मेरठ, १९७६।

**मेघदूत** : कालिदास/विजेन्द्र कुमार शर्मा, साहित्य-भण्डार, मेरठ, द्वितीय संस्करण १९९३।

**यजुर्वेद** : महर्षि दयानन्द सरस्वती कृत भाषा-भाष्य, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, २००१।

**युक्तिकल्पतरु** : भोज/पं० ईश्वरचन्द्र शास्त्री, श्री सारदाचरण काव्यविनोद, दर्शनविद्यालय, कलिकाता, १९१७।

**रघुवंश** : प्रो० हरिदामोदर वेलणकर, निर्णयसागर मुद्रणालय, मुम्बई, १९४८।

**राजतरङ्गिणी** : भाग १, कल्हण/रघुनाथसिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, १९६९।

**राजतरङ्गिणी** : भाग ४, कल्हण/रघुनाथ सिंह, हिन्दी प्रचारक संस्थान, वाराणसी, १९७९।

**राजवल्लभमण्डन** : सूत्रधारमण्डन/डॉ० शैलजा पाण्डेय, चौखम्बा सुरभारती प्रकाशन, वाराणसी, प्रथम संस्करण २००१।

**रूपमण्डन** : सूत्रधारमण्डन/डॉ० बलराम श्रीवास्तव, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९९६।

**लघुसिद्धान्तकौमुदी** : श्रीवरदराज/ श्री विश्वनाथ शास्त्री, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली।

**ललितविस्तर** : पी०एल० वैद्य, मिथिला इन्स्टिच्यूट् ऑफ् पोस्ट ग्रॅडयुएट् स्टडीज़ एण्ड रिसर्च संस्कृत लर्निंग, दरभङ्गा, १९५८।

**लिङ्गपुराण** : श्रीराम शर्मा आचार्य, संस्कृति-संस्थान, बरेली, १९६९।

**वराहपुराण** : के०वी० शर्मा, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स्, दिल्ली, १९८४।

**वायुपुराण** : ब्रजमोहन चतुर्वेदी, नाग पब्लिशर्स, दिल्ली, द्वितीय संस्करण १९९५।

**वाल्मीकि रामायण** : कट्टी श्रीनिवास शास्त्री, परिमल पब्लिकेशन्स्, दिल्ली, १९८३।

**वाल्मीकीय रामायण** : जगदीश्वरानन्द सरस्वती, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, द्वितीयावृत्ति १९७७।

**विक्रमाङ्कदेवचरित** : भाग ३, पं० विश्वनाथशास्त्रिभारद्वाज, हिन्दू विश्वविद्यालय संस्कृत-साहित्य-अनुसन्धान समिति, १९६४।

**विश्वकर्मवास्तुशास्त्र** : श्री के० वासुदेव शास्त्री एवं मेजर एन०बी० गदरे, टी०एम० एस०रस० एम० पुस्तकालय, तञ्जौर, १९५८।

**विष्णुधर्मोत्तर पुराण** : खण्ड २-३, क्षेमराज श्रीकृष्णदास श्रीवेङ्कटेश्वर, श्री वेङ्कटेश्वर मुद्रणालय, मुम्बई।

**विष्णुमहापुराण** : डॉ० श्रद्धा शुक्ला, नाग प्रकाशक, दिल्ली, प्रथम संस्करण, १९९८।

**शतपथ-ब्राह्मण** : डॉ० अल्बेर्त वेबर, अनुवादक-पं० गङ्गा प्रासाद उपाध्याय, गोविन्दराम हासानन्द, दिल्ली, १९८८।

**शाङ्खायन श्रौतसूत्र** : डब्ल्यू कलन्द, अंग्रेजी अनुवाद, नागपुर, १९५३।

**शिल्परत्न** : टी० (त) गणपति शास्त्री, गवर्नमेण्ट् प्रेस, त्रिवेन्द्रम्, १९१३।

**शिशुपालवध** : माघ/श्री रामप्रताप त्रिपाठी, हिन्दी साहित्य-सम्मेलन, प्रयाग, विक्रम संवत् २००९।

**शुक्रनीति** : जगदीशचन्द्र मिश्र, चौखम्बा सुरभारतीय प्रकाशन, वाराणसी, १९९२।

**श्रीमद्भागवत :** पं० रामतेजपाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९९६।

**समराङ्गणसूत्रधार :** डॉ० द्विजेन्द्रनाथ शुक्ल, मेहरचन्दलछमनदास पब्लिकेशन्स्, नई दिल्ली, १९६५।

**समराङ्गणसूत्रधार :** भाग १-२, प्रो० पुष्पेन्द्र कुमार, न्यू भारतीय बुक कार्पोरेशन, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८८।

**सरस्वतीकण्ठाभरण :** भोजदेव/डॉ० कामेश्वरनाथ मिश्र, चौखम्बा ओरियन्टालिया, वाराणसी, प्रथम संस्करण १९७६।

**सुमङ्गलविलासिनी :** बुद्धघोष/टी० डब्ल्यू० रीज् डेविड्स, जे० ई० कार्पेण्टियर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लन्दन, १९३२।

**सौन्दरानन्दकाव्य,** सूर्यनारायण चौधरी, संस्कृतभवन, पूर्णिया, द्वितीय संस्करण १९५९।

**संयुक्तनिकाय :** भिक्षु जगदीश कश्यप, बिहार राज्य पालि-प्रकाशन-मण्डल, १९५९।

**संस्कृतवाङ्मय :** भाग २, डॉ० हरिकृष्णशास्त्रिदातार, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९९३।

**स्कन्दपुराण :** महर्षि कृष्णद्वैपायन व्यास, मनसुखराय मोर, कलकत्ता।

**हरिवंशपुराण :** पं० रामतेज पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत प्रतिष्ठान, दिल्ली, १९९६।

**हर्षचरित :** बाणभट्ट/श्रीमोहनदेवपन्त, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९९५।

## हिन्दी-ग्रन्थ

**कौटिल्य कालीन भारत :** आचार्य दीपङ्कर, हिन्दी-समिति-सूचना-विभाग, लखनऊ, प्रथम संस्करण १९६८।

**पतञ्जलिकालीन भारत :** डॉ० प्रभुदयाल अग्निहोत्री, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, १९६३।

**पाणिनिकालीन भारतवर्ष :** वासुदेवशरण अग्रवाल, मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी, प्रथम संस्करण, विक्रम सम्वत् २०१२।

**पुराण-विमर्श :** आचार्य बलदेव उपाध्याय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, २००२।

**प्राचीन भारत, इतिहास और संस्कृति :** बी०जी० गोखले, एशिया पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, १९५७।

**प्राचीन भारतीय इतिहास का वैदिक युग :** सत्यकेतु विद्यालङ्कार, श्री सरस्वती सदन, नई दिल्ली, अष्टम संस्करण २००३।

**प्राचीन भारत का इतिहास :** डॉ० रमाशङ्कर त्रिपाठी, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, चतुर्थ संस्करण १९६५।

**प्राचीन भारतीय कला एवं वास्तु** : डॉ० पृथ्वीकुमार अग्रवाल, विश्वविद्यालय प्रकाशन, प्रथम संस्करण २००२।

**प्राचीन भारत में नगर तथा नगर-जीवन** : उदयनारायण राय, लोकभारती प्रकाशन, इलाहाबाद, द्वितीय संस्करण १९९८।

**प्राचीन भारतीय संस्कृति, कला और साहित्य** : डॉ० जयकिशन प्रासाद, विनोद पुस्तक मन्दिर, प्रथम संस्करण १९७०।

**प्राचीन भारतीय स्तूप, गूहा एवं मन्दिर** : डॉ० वासुदेव उपाध्याय, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, पटना, प्रथम संस्करण १९७२।

**बुद्धकालीन राजगृह** : श्री अनन्त कुमार, बिहार हिन्दी ग्रन्थ अकादमी पटना, प्रथम संस्करण १९७४।

**भारतीय कला** : (प्रारम्भिक युग से तीसरी शतक तक), वासुदेवशरण अग्रवाल, पृथिवी प्रकाशन, वाराणसी, १९६६।

**भारत का प्राचीन इतिहास** : सत्यकेतु विद्यालङ्कार, सरस्वती सदन, मंसूरी, प्रथम संस्करण १९६०।

**भारतवर्ष की मौलिक एकता** : वासुदेवशरण अग्रवाल, भारती भण्डार, प्रयाग।

**भारत निर्माता** : कृष्णवल्लभ द्विवेदी, कुसुमलता आर्य प्रतिष्ठान, साहिबाबाद, २००१।

**भारतीय वास्तुकला** : प्रो०सी०लाल, डॉ० पी० कुमार, अरुण पब्लिशिंग हाउस प्राईवेट लिमिटेड, चण्डीगढ़, १९९८।

**भारतीय वास्तुकला का इतिहास** : कृष्णदत्त वाजपेयी, हिन्दी-समिति, हिन्दी-भवन लखनऊ, प्रथम संस्करण १९७२।

**भारतीय संस्कृति का इतिहास** : पं० भगवद्दत, गोविन्दराम हासानन्द, नई दिल्ली, विक्रम संवत् २०२२।

**भारतवर्ष का इतिहास** : खण्ड १-२, आचार्य रामदेव, स्वामी श्रद्धानन्द अनुसंधान प्रकाशन केन्द्र, हरिद्वार, चतुर्थ संस्करण १९९६।

**भारतवर्ष का बृहद् इतिहास** : भाग २, पं० भगवद्दत, इतिहास प्रकाशनमण्डल, नई दिल्ली, विक्रम संवत् २०१७।

**मध्यकालीन भारतीय कलाएँ एवं उनका विकास** : डॉ० रामनाथ, राजस्थानी हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, जयपुर, प्रथम संस्करण १९९५।

**युग-युगीन भारतीय कला** : महेशचन्द्र जोशी, राजस्थान ग्रन्थागार, जोधपुर, प्रथम संस्करण १९९५।

**वाल्मीकीय रामायण** : (हिन्दी अनुवाद), पाण्डेय पं० रामनारायण दत्त शास्त्री, गीता प्रेस, गोरखपुर, विक्रम संवत् २०१७।

**वेदकालीन समाज** : डॉ० शिवदत्त ज्ञानी, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६७।

**वैदिक संस्कृति** : गङ्गाप्रसाद उपाध्याय, आर्य साहित्य-सदन प्रकाशन, १९५०।

**वैदिक सम्पत्ति** : पं० रघुनन्दन शर्मा, सार्वदेशिक आर्य प्रतिनिधि सभा, नई दिल्ली, २००१।

**शतपथ ब्राह्मण एक सांस्कृतिक अध्ययन** : उर्मिला देवी शर्मा, मेहरचन्द लछमनदास पब्लिकेशन्स्, नई दिल्ली, प्रथम संस्करण १९८२।

**श्रौत-यज्ञ-मीमांसा** : पं० युधिष्ठिर मीमांसक, श्रीमती सावित्री देवी वागड़िया ट्रस्ट, कलकत्ता, द्वितीयावृत्ति २००४।

**समराङ्गणसूत्रधार वास्तुशास्त्र** : (भवन-निवेश प्रथम-भाग) विस्तृत अध्ययन, हिन्दी अनुवाद तथा वास्तुपदावली, डॉ० द्विजेन्द्रनाथशुक्ल मेहरचन्दलछमनदास पब्लिकेशन्स्, नई दिल्ली, १९९४।

**सार्थवाह** : डॉ० मोतीचन्द्र, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५३।

**सिन्धु-सभ्यता का आदिकेन्द्र** 'हड़प्पा' : केदारनाथ शास्त्री, आत्माराम एण्ड संस, दिल्ली, प्रथम संस्करण १९५९।

**स्वतंत्रकलाशास्त्र** : भाग १, डॉ० कान्तिचन्द्र पाण्डेय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस्, वाराणसी, प्रथम संस्करण, विक्रम संवत् २०२४।

## English Books

**Ancient Geography of India** : Alexander Canningham, Bhartiya Publishing House, Varanasi, 1975 A.D.

**Buddhist India** : T.W. Rhys Davids, Indological Book House, Delhi, 1970 A.D.

**Education in Ancient India** : A.S. Altekar, Nandkishor brothers, Banaras, 1848 A.D.

**Geography of early Buddhist** : Law.

**History of Banaras** : A.S. Altekar, Banaras, 1937 A.D.

**History of Kannouj** : R.S. Tripathi, Delhi, 1959 A.D.

**Indian Architecture** : P.K. Acharya, Low Price Publication, Delhi, 2004 A.D.

**Indian Art** : Vasudevsharan Agrawal, Varanasi, 1965 A.D.

**Indian Village Community** : B. Powell, 1896 A.D.

**Post History of Ancient India :** Roy Choudhary.
**Town Planning in Ancient Daccan :** Aiyer.
**Vastu-Sastra** Vol. I Hindu Science of Architecture : D.N. Shukla, Munshi Ram Manohar Lal Publishers pvt. Ltd. New Delhi, 1998 A.D.

## कोश-ग्रन्थ

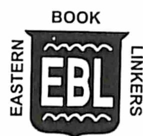
**अभिधान राजेन्द्र कोश :** विजयराजेन्द्र सूरि, अभिधान राजेन्द्र कार्यालय रतलाम, १९२४।
**अमरकोष :** अमरसिंह/डॉ० सत्यदेव मिश्र, आचार्य कृष्णमित्र।
**अमरकोष :** अमरसिंह/श्री मन्नलाल 'अभिमन्यु', चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९९५।
**इंग्लिश-संस्कृत-शब्दकोश :** श्री एम० मोनियर विलियम्स, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस्, वाराणसी, १९६५।
**एन्साइक्लोपीडिआ ऑफ् हिन्दू आर्किटेक्चर :** प्रसन्न कुमार आचार्य, लो प्राइस् पब्लिकेशन्स्, दिल्ली, २००१।
**डिक्शनरी ऑफ् पालि प्रॉपर नेम्स :** जी०पी० मललसेकर, पालि टेक्स्ट सोसायटी, लुजाक एण्ड कंपनी लिमिटेड, लंदन, १९६०।
**पद्मचन्द्रकोश :** सङ्कलनकर्ता-पं० गणेशदत्त, लाहौर।
**वैदिक इण्डेक्स :** भाग १, ए०ए० मैकडॉनल एवं ए०बी० कीथ, अनुवादक : राजकुमार राय, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९६२।
**शब्दार्थ चिन्तामणि-कोष :** श्री सुखानन्दनाथ, १९४२।
**शब्दार्थभानु :** भानुदत्त विशारद, लाहौर गवर्नमेण्ट सेन्ट्रल् बुक डिपॉट, १८७५।
**शब्दकल्पदुम :** स्यार राजा राधाकान्तदेव बहादुर, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस्, वाराणसी, १९४१।
**शब्दस्तोम-महानिधि :** सङ्कलन-श्री तारानाथ भट्टाचार्य, चौखम्बा संस्कृत सीरीज ऑफिस्, वाराणसी, द्वितीय संस्करण १९६७।
**संस्कृत-हिन्दी कोश :** वामन शिवराम आप्टे, मोतीलाल बनारसीदास पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड, दिल्ली, १९४७।
**हिन्दी विश्वकोश :** खण्ड १०, रामप्रासाद त्रिपाठी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी, १९६८।

**हिन्दी विश्वकोश :** खण्ड २१, रामप्रसाद त्रिपाठी, नागरी प्रचारिणी सभा, वाराणसी।
**हिन्दी विश्वकोश :** भाग ११, १३, श्री नगेन्द्रनाथ वसु, बी०आर० कॉर्पोरेशन्, दिल्ली, १९६८।
**हिन्दी शब्दसागर :** भाग ९, श्यामसुन्दर दास, नागरी प्रचारिणी सभा, काशी, १९७२।

## पत्र-पत्रिकाएँ, यात्रा-विवरण एवं प्रतिवेदन

**अल्बरुनीज़ इण्डिया :** एडवर्ड सी० सखाऊ, पॉप्युलर् एडिशन्, १९१४।
**आर्कियाजलॉजिकल् एर्वे ऑफ इण्डिया रिपोर्ट :** कनिंघम।
**'आर्योदय' :** (हिन्दी साप्ताहिक), अङ्क ३०-३१, रघुवीर सिंह, आर्य प्रतिनिधि सभा, पञ्जाब, मार्च १९६६।
**इण्डियन् एन्टिक्वरी :** एडवर्ड थॉमस, इण्डोलॉजिकल् बुक हाऊस, १९७१।
**एपिग्राफिआ इण्डिका :** जेम्स ब्रजेस, मोतीलाल बनारसीदास।
**गाइल्स :** फाह्यान, लन्दन, १९०६।
**ज्योतिष-मन्थन :** अङ्क २, सतीश शर्मा, जयपुर, जुलाई २००५।
**तक्सिला :** सर जान मार्शल, कैम्ब्रिज यूनिवर्सिटी प्रेस, १९५१।
**लेग्गे :** फाह्यान, आक्सफोर्ड, १९९६।
**वाटर्स :** टी० ऑन, य्वान् च्वांगस् ट्रैवल्स् इन् इण्डिया, लन्दन, १९०५।






**Eastern Book Linkers**

(INDOLOGICAL PUBLISHERS & BOOKSELLERS)

H.O.: 5825, New Chandrawal, Jawahar Nagar,
Delhi-110007 Ph.: 23850287, 32919869
Showroom : 4806/24, Bharat Ram Road, Ansari Road,
Darya Ganj, Delhi-110002
Phone : 23285413
e-mail : books@eblindology.com
e-mail : ebl@vsnl.net
website : www.eblindology.com

ISBN 81-7854-182-3

